Azim Premji University

अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय का प्रकाशन

लर्निंग कर्व

हिन्दी अंक 6 : दिसम्बर, 2013

विशेष अंक

कला

स्कूल शिक्षा में

अन्दर : व्यापक परिदृश्य, परिप्रेक्ष्य तथा व्यक्तिगत अनुभव

सम्पादन
अनन्दा एच. एन.
चन्द्रिका मुरलीधर
मधुमिता सुधाकर
नीरजा राघवन
प्रेमा रघुनाथ

सलाहकार
हृदय कान्त दीवान
एस. गिरिधर
रामगोपाल वल्लत

हिन्दी अनुवाद
रमणीक मोहन
नलिनी रावल
निरूपा भटनागर

हिन्दी अंक सम्पादन
राजेश उत्साही

डिजायन एवं मुद्रक
एससीपीएल डिजायन
बंगलौर - 560 062
+91 80 2686 0585
+91 98450 42233
www.scpl.net

कृपया ध्यान दें :
इस अंक में प्रकाशित लेख मूलतः लर्निंग कर्व (अँग्रेजी) XVIII, सितम्बर 2012 के लेखों का हिन्दी अनुवाद हैं। लेखों में व्यक्त विचार और दृष्टिकोण लेखकों के अपने हैं, उनसे अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन या अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

लर्निंग कर्व अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय का एक प्रकाशन है। इसका उद्देश्य शिक्षकों, शिक्षक–अध्यापकों, स्कूल प्रमुख, शिक्षा अधिकारियों, अभिभावकों और गैर–सरकारी संगठनों तक ऐसे प्रासंगिक और विषयगत मुद्दों में पहुँच बनाना है जो उनके रोजमर्रा के काम से सम्बन्धित हैं। लर्निंग कर्व शैक्षिक जगत के विभिन्न दृष्टिकोणों, अभिव्यक्तियों, परिप्रेक्ष्यों, नई जानकारियों और नवाचार की कहानियाँ प्रस्तुत करने के लिए एक मंच प्रदान करता है। इसका मूल विचार 'शैक्षणिक' और 'अभ्यासकर्ता' के मध्य सन्तुलन हेतु उन्मुख पत्रिका के रूप में स्थापित होना है।

सम्पादक की बात

सर्वप्रथम मैं लर्निंग कर्व की नए सम्पादक के रूप में इस अंक के पाठकों को नमस्कार कहना चाहती हूँ। मैं 30वर्षों से अधिक तक स्कूल में शिक्षिका के रूप में काम कर चुकी हूँ। स्कूल के क्रियाकलापों के दो रूप हैं और मुझे लगता है कि मैं उन दोनों रूपों से परिचित हूँ–पहला साक्षरता और शिक्षा मुहैया कराना और दूसरा एक सामाजिक स्थान के रूप में। लेकिन एक ऐसी पत्रिका का सम्पादन करना जो बेहद चेतन व प्रबुद्ध हाथों में जाती है, मेरे लिए एकदम नया अनुभव है। मैं इसका बड़े उत्साह और आशा के साथ स्वागत करती हूँ।

लर्निंग कर्व का यह अंक हम कला के विभिन्न रूपों पर प्रस्तुत कर रहे हैं। कला हमारे चारों ओर बिखरी हुई है। भारतीय जीवन में तो कला–कौशल हर क्षेत्र में व्याप्त है, जिसकी शुरुआत सुबह–सवेरे घर के सामने सुन्दर आकृतियाँ बनाने से होती है जिन्हें हम अल्पना, रंगोली या कोलम कहते हैं। यहाँ उल्लेखनीय बात यह है कि इस जटिल चित्रकारी में न केवल सधे हुए हाथों और कलात्मक दृष्टि की आवश्यकता होती है वरन वे बेहद गणितीय भी होते हैं। हमारे देश के घर, खासतौर पर ग्रामीण व अर्ध शहरी क्षेत्रों के घर, सहज रूप से ही डिजाइनर घर होते हैं। हमारे साधारण से लोटे की बनावट कितनी उत्कृष्ट होती है, जो सभी आकारों में उपलब्ध है और जिसका उपयोग हमारे घर में सर्वत्र होता है–यह डिजाइनिंग की निपुणता का अचम्भा ही तो है!

हमारी दीवारों पर तरह–तरह के मनुष्यों, पशुओं व पक्षियों की आकृतियों और पेड़–पौधों के चित्रों से सजावट की जाती है। किसी भी गाँव में चार कदम टहलने निकल जाएँ तो ऐसे घर और मन्दिर देखने को मिलते हैं जिनकी सुन्दरता अद्वितीय होती है। हमारे देश में नृत्य, संगीत, शिल्पकला, कठपुतली निर्माण, लकड़ी के काम की कला के भी कई रूप मिलते हैं।

ऐसी असाधारण कला से घिरे होने के कारण हम शायद उन्हें आसानी से नजर अन्दाज कर देते हैं और रोजमर्रा के जीवन के अन्य महत्त्वपूर्ण पहलुओं से बँधकर रह जाते हैं। इतना ही नहीं ये पहलू हमसे इतनी ज्यादा माँग करने लगते हैं कि हम इनमें डूबकर अपनी विरासत को भूल से जाते हैं और हमें उनकी याद दिलानी पड़ती है। यह भी याद दिलाना पड़ता है कि जब हम किसी भी कला को सीखते हैं या उसका अभ्यास करते हैं तो उससे हमारा कितना भला होता है। पहले स्थिति यह थी कि कला के किसी न किसी रूप को औपचारिक तरीके से नहीं तो अपने आप ही सीख लिया जाता था क्योंकि उन दिनों घर स्वयं कला के भण्डार हुआ करते थे। एकल या समूह गायन, नृत्य आदि हर दिन के अधिगम का हिस्सा थे। स्कूल भी कला की कक्षाओं को प्रोत्साहन दिया करते थे।

फिर साठ और सत्तर के दशक में भारी बदलाव आया। तकनीकी प्रगति सफलता का मंत्र बन गई जिसकी अपनी ही एक परिभाषा है और इसके परिणामस्वरूप कला को दरकिनार कर दिया गया।

मानविकी को "कला विषयों" के नाम से पुकारा जाने लगा और उन्हें तुच्छ समझा जाने लगा। यहीं से शुरुआत हुई एक ऐसे जीवन में प्रवेश करने की जहाँ कला की उपेक्षा की जाती थी। इसके कारण विद्यार्थियों को बहुत भावनात्मक क्षति पहुँची क्योंकि उनके पास चित्रकारी, पेन्टिंग, बुनाई, गायन, नृत्य जैसे उत्साहवर्धक विषयों के अनुशीलन का समय ही नहीं होता था। इन्हें रुचि या हॉबी की श्रेणी में रखकर इनका दर्जा कम कर दिया गया जिनका अनुशीलन समय की उपलब्धि पर निर्भर करता था कि समय मिला तो करो अन्यथा नहीं। ज्यादातर परिस्थितियों में समय नहीं ही मिलता था।

अगरचे इस अदूरदर्शी नीति के दुष्प्रभाव लगातार सामने आ रहे हैं। इस अंक का सामूहिक सन्देश है–हमारे बच्चों के जीवन में कला उतनी ही जरूरी है जितना कोई और विषय।

जहाँ तक कला और बच्चे की बात है तो इसके पर्याप्त वैज्ञानिक प्रमाण मौजूद हैं कि कला से बच्चे की अपने आसपास की दुनिया की समझ सशक्त होती है, अपने अनुभवों को सुनियोजित करने में मदद मिलती है और इससे बच्चे के व्यक्तित्व की रचना होती है। विशेष जरूरत वाले बच्चे कला के लिए बहुत ही परिपक्व और अनपेक्षित रूप से प्रतिक्रिया दिखाते हैं। जो बच्चे स्कूल के बाहर कला के किसी भी रूप की कक्षाओं में जाते हैं, उन्हें अपने जीवन में कला के द्वारा जो अतिरिक्त आयाम मिलता है, उसकी वजह से वे अपने को बेहतर रूप से समायोजित कर पाते हैं।

तो उठाइए यह अंक और आनन्द लीजिए–और मैं जाकर अपना पेन्टब्रश बाहर निकालती हूँ!

प्रेमा रघुनाथ
सम्पादक, लर्निंग कर्व
prema.raghunath@azimpremjifoundation.org

कहाँ क्या है...

Pencil

खण्ड अ
व्यापक परिदृश्य

कला, राजनीति, बोध — 5
कौस्तुव रॉय

पाठ्यचर्या के केन्द्र में कला — 11
तारा किनी

खुशी-खुशी सीखना — 14
रति बासु

स्कूली शिक्षा में कला — 18
प्रशान्त सील

जब कला कलाकर बन जाती है... — 19
श्रीवि कल्याण

बच्चों के विकास में कलाओं की भूमिका — 25
दीपशिखा खैतान

मेरा परिप्रेक्ष्य — 29
एन. आर. प्रदीप

रोजमर्रा जीवन में सौन्दर्यानुभूति — 30
तरित भट्टाचार्जी

भारत के 'चोटी' के स्कूलों में शिक्षा कला — 34
वैजयन्ती शंकर, अर्चना द्विवेदी

स्कूल में दृश्यकला शिक्षण — 40
राधिका नीलकान्तन

खण्ड ब
चन्द परिप्रेक्ष्य

कलाओं की परिवर्तनकारी ताकत — 42
संजना कपूर

देखना सीखना, इन्द्रियों को जगाना — 46
जिनान

बड़े विभाजन को पाटते हुए — 52
विजय पडकी

एक शिक्षक सोचता है... — 55
सुरक्षा रावत

स्कूली शिक्षा में कठपुतली का उपयोग — 56
डॉ0 मिरेला फ़ोर्स्बर्ग अहल्क्रोना

शिक्षा में परम्परागत मंच-कलाएँ — 61
वी. आर. देविका

थियेटर और विज्ञान — 65
नीलांजन पी. चौधरी

मेरा मत — 69
अनिशा वर्गीज

शिक्षा में थियेटर — 70
लक्ष्मी कृष्णमूर्ति

अति सरलीकरण के दौर में एक काँपता स्वर — 75
वी. प्रसाद

Paint

शब्दों से परे
चाँदिनी हरलल्का 79

नाटक बहुत कुछ सिखाते हैं
कल्पना बालाजी 82

शिक्षा का एक रूपः फिल्म निर्माणकला
अंकित पोगुला 87

मुझे उठने दो...
नीरजा राघवन 91

खण्ड स
जो अनुभव किया

और फिर हमने नृत्य किया
चित्रा चन्द्रशेखर दासरथी 93

संगीतः एक आजीविका के रूप में
शारिक हसन 96

स्वतंत्र लक्ष्यहीन चित्रकारी से पूर्णकला की ओर
पायल हीरानन्दानी 100

कला शिक्षा, कला शिक्षक एवं कारीगर
नीरजा राघवन 102

एक यात्रा का सुगमीकरण
नटेल उल्लाल 108

बच्चों का स्वयं का स्थान
उमाशंकर पेरिओडी 113

रचनात्मक कार्यशालाएँ
रुद्रेश 116

मंच पर सीखना
अभिषेक गोस्वामी 120

मिट्टी के संग खेलना
सुमन्त सम्पत 122

अपने बच्चे के सपने को जीना
वाणी ब्रह्मचारी 125

शिक्षा में कला
गगन बग्गा 127

यक्षगान : सम्मोहक एवं मुक्तिदायक
इनी पेरिओडी 129

सोचने की कार्यशाला
करिश्मा अजमेरा, राहुल अजमेरा 132

नुक्कड़ थियेटर :
शिक्षित करने वाली एक कला
उत्तरा भरत कुमार 135

शिक्षामित्र में कला के साथ विकास
सुदेषणा सिन्हा 138

खण्ड अ

व्यापक परिदृश्य

01 कला, राजनीति, बोध

कौस्तुव रॉय

"कला सीखने का औचित्य क्या है?" यह एक ऐसा प्रश्न है जो कभी सौम्य–शिष्ट तरीके से तो कभी प्रतिकूल भावना से पूछा जा सकता है, कभी जिज्ञासा से तो कभी तुच्छ, उपेक्षा भरे भाव से प्रेरित हो सकता है। कला–प्रशिक्षक इस प्रश्न के आदी हैं, और यह सवाल कई ओर से आ सकता है – माता–पिता की ओर से, शिक्षकों–प्रशासकों की ओर से और विद्यार्थियों की ओर से तो आ ही सकता है। यह सवाल कई ऐसे बुनियादी सवालों के कन्धों पर चढ़कर आता है जिन्हें बहुधा अभिव्यक्त ही नहीं किया जाता। जैसे, "क्या कला विलास का एक साधन या मध्य–वर्गीय शगल नहीं है?" "क्या कला को उनके लिए न छोड़ दिया जाए जो वास्तव में इसमें दिलचस्पी रखते हैं, या प्रतिभावान हैं?" "कला व्यवहार में कैसे लाभदायक है?" "डिजिटल उत्पादन और पुनरोत्पादन के युग में क्या कला एक अनावश्यक चीज नहीं हो गई है?" आदि आदि। मेरे विचार से ये पूछे जाने लायक सवाल हैं। मैं ऐसे तीखे सवालों को भी आमतौर पर सभ्यता और शिष्टता के दायरे में रहते हुए स्वीकारता हूँ, प्रत्युत्तर में यह नहीं कहता कि "यदि बच्चों की सोच के 'गणितीकरण' को बिना किसी सवाल या शक के स्वीकार किया जा सकता है तो उसके सौन्दर्यबोधीकरण को क्यों नहीं स्वीकारा जा सकता?" लेकिन प्रत्येक प्रश्न कुछ बुनियादी पूर्व–मान्यताओं पर आधारित होता है। इसलिए शुरू में किए गए प्रश्न से केवल सतही तौर पर ही सम्बोधित होना हो तो भी हमें शुरुआत इस बात से करनी होगी कि सामूहिक सामाजिक मानस–पटल पर कला की धारणा, उसकी छवि क्या है, क्योंकि यही उसके उद्गम का स्थान है।

आमतौर पर जब हम कला के बारे में सोचते हैं तो ध्यान में आते हैं चित्रकला के लिए काम आने वाले कैनवस, पानी के रंग, बुत तथा मूर्तियाँ और ऐसी ही अन्य शिल्प–कृतियाँ। दूसरे शब्दों में, उभरने वाले अधिकतर बिम्ब कलात्मक प्रयत्नों का अन्तिम उत्पाद होते हैं। दूसरी ओर गणित की बात हो तो हम पाएँगे कि हमें गणितीय तार्किकता या गणितीय सोच, यहाँ तक कि गणितीकरण की बात सुनने को मिलती है। दूसरे शब्दों में, जहाँ एक ओर तार्किक या व्यवस्थित सोच को महत्त्व दिया जाता है, कला को आमतौर पर दिखाई देने वाले अन्तिम उत्पादों या वस्तुओं के सन्दर्भ में आंका जाता है, विचार और अनुभूति के सौन्दर्यशास्त्र के सन्दर्भ में नहीं। इसलिए हैरत नहीं कि ऊपर जिक्र में आए सवाल किए जाते हैं। क्योंकि यदि कला को केवल शिल्प–कृतियों से ही आंका जाता है और माना जाता है कि स्कूली शिक्षा या सामूहिक तौर से समाज के लिए उसका कोई प्रभाव नहीं है, तो स्वाभाविक तौर पर बेहतर यही माना जाएगा कि उसे कार्यरत कलाकारों के हवाले रखा जाए जो कम से कम मूल्यवान चीजें तो बना पाएँगे।

लेकिन आइए, यह खोज तो करते ही हैं कि क्या कला इससे कुछ अधिक भी है? इसलिए हमें सवाल करना होगा कि क्या कला के सीखने–सिखाने का कोई ऐसा महत्त्व भी है जो आसानी से दिखाई न देता हो, जो बस शिल्प–कृति के साथ मेल न खाता हो? यदि ऐसा है, तो सवाल उठता है कि इस बात का अवधारणात्मक आधार क्या है, उसकी विशेषताओं को कैसे निर्धारित किया जाए और उसकी प्रथाएँ और प्रचलन क्या हैं?

कला की राजनीति

गणित की ही तरह कला भी एक अलग तरीका है स्पेस या खाली स्थान को बाकी चीजों के अलावा देखने–समझने का, उसकी अनुभूति और बोध का। इसलिए कला में सम्भावना है कि उसे संसार का वर्णन और व्याख्या करने के लिए इस्तेमाल में लाया जा सके। और क्योंकि संसार की व्याख्या सम्बन्धी किसी भी प्रक्रिया में विकल्पों का चुनाव और पसन्द शामिल रहते हैं, कला की भाषा एक न्यूनतम स्तर पर भी राजनीतिक हो जाती है। साथ ही, जब कला आत्मविश्लेषक होती है (जैसा कि अकसर होता ही है) तो वह सामान्य अनुभव से परे, अवचेतन की, मानस–पटल की भी पड़ताल करती है, उसमें हस्तक्षेप करती है, व्यक्तिगत सम्बन्धों के स्तर पर भी कार्य कर सकती है–जिससे उसका कार्य सूक्ष्म स्तर पर भी राजनीतिक हो जाता है। उदाहरण के लिए, हम जानते हैं कि शास्त्रीय चित्रकला कभी–कभी दास–समाज के लाभ में इस्तेमाल होती रही और सम्पत्ति–सम्बन्धों को सुरक्षित रखती रही। इसी तरह, दूसरे छोर पर घनवाद/आयाम चित्रण (क्यूबिजम) ने किसी भी वस्तु या विषय को एकआयामी परिप्रेक्ष्य से देखने की कवायद को समाप्त करके एक पूरे दौर का अन्त किया – संसार तथा उसके भीतर के विषय–सम्बन्धों को देखने के एक नए तरीके की शुरुआत की। इरादा हो चाहे न हो, जाने–अनजाने ये दोनों ही राजनीतिक अवस्थाएँ हैं। इसलिए मैं दलील देना चाहूँगा कि कला जब संसार को वर्णित तथा पुन:वर्णित करती है तो वह स्थान/स्पेस को भी पुनर्गठित करती है–वह चाहे चित्रण/प्रदर्शन के माध्यम से हो या अमूर्तिकरण के माध्यम से, और चाहे भिन्नता या दोहराव के माध्यम से।

Jean Metzinger, Woman with a Horse, 1911

इसलिए यदि कला ताकत या सत्ता को सामान्यीकृत करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है, तो क्या वह विभिन्न स्तरों और रूपों में उसके रहस्योद्घाटन में और उसके सामान्यीकृतरहित होने में भूमिका नहीं निभा सकती? मैं यहाँ एक सीमित ढंग से इसी प्रश्न को सम्बोधित करना चाहता हूँ। क्योंकि अगर जवाब 'हाँ' में है, तो इसका अर्थ है कि शिल्पकृतियों के अलावा कलात्मक सोच नाम की कोई चीज भी होती है, और वह उतनी ही प्रासंगिक है जितना कि गणितीय सोच। यदि शिक्षा और सीखना का अर्थ स्वतंत्रता तथा आत्मज्ञान की तलाश है तो मानव की नियति में कला का भी उतना ही योगदान होगा जितना कि विज्ञान या गणित का।

घनवाद और अतियथार्थवाद: परिवर्तन के आयाम

ऊपर की गई बात को सिद्ध करने के लिए हम बीसवीं सदी में उभरकर आई कला की दो शैलियों पर नजर डालेंगे। देखेंगे कि इनसे हमें कलात्मक सोच और तार्किकता के बारे में तथा सामाजिक–राजनीतिक क्षेत्र पर इनके प्रभाव के बारे में क्या जानकारी मिलती है। कला के क्षेत्र की ऐसी पहली मुहिम है क्यूबिजम यानी घनवाद। न्यूयॉर्क के म्यूजियम ऑफ मॉडर्न आर्ट के संग्रहालय–अध्यक्ष अल्फ्रेडबार के मुताबिक, "क्यूबिजम की ईजाद पिकासो और ब्राक के नाम है लेकिन इसके प्रेरणा स्रोत सेज़ैन थे जिन्होंने इस बात की ओर ध्यान दिलाया कि चीजों के प्राकृतिक स्वरूपों को यदि उनके ज्यामितीय सारतत्व में सरलीकृत कर दिया

जाए तो असल में तो वे क्यूब (घन) और सिलिण्डर (बेलना. कार) हैं। यह घनवाद का पहला चरण था। एक बार रूप–आकार को घन, बेलनाकार और दायरों/गोलों में परिवर्तित कर लिया जाता है तो बाजीगरी करते हुए एक ही चित्र में किसी आकृति के अगले और पिछले हिस्से को मिला देना, अवतल को उत्तल के स्थान पर रख देना, कलाकार की सौन्दर्यशास्त्रीय संवेदनशीलता के मुताबिक यह सब करना कोई बहुत कठिन बात नहीं है" (प्रदान किया गया बल मेरा है)।

Pablo Picasso Three Musicians, 1921

तो घनवादी कलाकार की क्या कोशिश होती है? उसके द्वारा लकीरों और तलों का विश्लेषण किया जाता है, चीजों का निराकार बोध होता है और उन्हें रूपायित किया जाता है; सहकालीनता–यानी एक ही समय पर कई चीजों का साथ–साथ होना–और बहुपरिप्रेक्ष्यों का जश्न मनाया जाता है। घनवाद एकपरिप्रेक्षीय बोध में तो बदलाव लाता ही है, स्थान–स्पेस से सम्बद्ध समझ के परिप्रेक्ष्य को भी हिलाकर रख देता है और इस प्रकार व्यक्ति की वृत्ती के स्तर पर नए विचारों का उभरना सम्भव बनाता है। यह पितृसत्तावाद की बुनियादों और राजनीतिक स्तर पर जड़ पकड़ चुके दृष्टिकोणों के लिए हमेशा एक खतरा है। मानवीय को ज्यामितीय तौर पर रूपायित करके समझने के कुछ लाभ भी हैं–यानी जब प्रकट तौर पर एकीकृत पात्र के रूप में दिखाई देने वाले विचार की छवि या बिम्ब को उसकी घटकीय ज्यामितियों में तबदील कर दिया जाता है तो एक खास तरह की लचक पैदा हो जाती है जिसके चलते नए तरह के मिश्रण और विस्तार सम्भव हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में, इस प्रकार की प्रस्तुति से नई रेखाओं और तलों और स्पर्श–रेखाओं का मिलना, एक–दूसरे को काटना, तथा मौजूद पात्र (व्यक्ति) का विस्तार करना सम्भव हो पाता है। आत्म का –व्यक्तित्व का– संकुचित, चित्रित–प्रदर्शित रूप और उसकी हदें कहीं पीछे छूट जाते हैं और उसका स्थान एक अधिक तरल, विरल तथा रचनात्मक आत्म ले लेता है जो संसार के साथ अधिक सीधे तौर पर जुड़ा और सम्बद्ध होता है। सभी गम्भीर गतियों–हरकतों को जरूरत पेश आती है कि शरीर की भू–राजनीति की जमीनी सतह की पुन: संकल्पना हो।

अब हम कला में एक ऐसी मुहिम की बात करते हैं जिसका आगमन घनवाद की प्रतिक्रिया में हुआ, यानी अतियथार्थवाद। बार के ही शब्दों में, "1908 के घनवादियों द्वारा हर तरह के भावनात्मक और 'मानवीय' मूल्यों को कठोरता से दरकिनार किए जाने से पिछली पीढ़ी में ऐसी प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई है जिसके चलते असाधारण मौलिकता की चित्रकला अस्तित्व में आई है... अतियथार्थवाद।" दो विश्वयुद्धों के बीच के समयकाल के दो बौद्धिक व्यक्तित्व और उनका कार्य अतियथार्थवाद के केन्द्र में थे–ज़िग्मुण्ड फ्रॉयड और उनकी किताब 'द इण्टर्प्रेटेशन ऑव ड्रीम्स' तथा कवि आन्द्रे ब्रेट्न और अतियथार्थवाद का उनका घोषणापत्र।

अतियथार्थवादी मानते थे कि फ्रॉयड द्वारा प्रतिपादित

Albert Tucker The Metamorphosis of Ned Kelly 1970

अचेतन रचनात्मक उत्पादन की असली कार्यस्थली है। वे अतिकल्पना तथा सपनों की दुनिया को रोजमर्रा की दुनिया से मिलाने की कोशिश में रहते थे। इनमें से कुछ ने यह कोशिश फ्रॉयड की स्वतंत्र–सम्बद्धता की तकनीक के माध्यम से की, जिसके तहत अचेतन और उसके तौर–तरीकों को उजागर किया जाता था। इसीलिए उसमें से निकलकर आने वाली कला में एक स्वप्न की सी दशा पैदा होती थी। अतियथार्थवादी राजनीतिक और सामाजिक क्रान्ति में विश्वास रखते थे–यदि उस रहस्यमयी अचेतन को काम में ले आया जाए–जो, लगता है कि इन्सान की उत्प्रेरणा और ऊर्जा की जड़ में होती है–तो इन्सान की किस्मत को ही बदला जा सकता है; इन्सान अचेतन प्रेरणाओं का बस एक पात्र बने रहने की बजाए अभिव्यक्ति के माध्यमों से अचेतन की रंगभूमि की खोजबीन करते हुए स्वयं को पुनर्रचित कर सकता है।

इसलिए हालाँकि घनवाद और अतियथार्थवाद विरोधी कैम्प से हैं, उनके राजनीतिक निहितार्थ मिलते–जुलते हैं; दोनों ऐसी आधारभूत संरचनाओं की ओर इशारा करते हैं जो व्यक्ति–पूर्व हैं–एक तो स्वरूप के, ज्यामितीय दृष्टिकोण से और दूसरा भावनात्मक, मानवीय दृष्टिकोण से। दोनों ही इन्सान के लिए बदलाव की सम्भावना पेश करते हैं।

व्यवहार के लिए निहितार्थ

अब तक हमने यह दर्शाने की कोशिश की है कि कला निहित रूप में राजनीतिक हो सकती है–राजनीति उसका विषय नहीं है, तो भी। बात को दूसरी तरह से रखें तो व्यक्ति और समाज दोनों के लिए–और इसलिए शिक्षा के लिए भी–कलात्मक सोच के महत्त्वपूर्ण प्रभाव और नतीजे हैं। मगर एक सवाल का जवाब अभी आना है। स्कूल में व्यावहारिक कार्य के लिए इस सबके क्या निहितार्थ हैं? बच्चे बहुत हद तक कला की ओर प्रवृत्त हो सकते हैं मगर यह आशा तो नहीं की जा सकती कि वे व्यक्तिगत और राजनीतिक परिवर्तन की बात को समझते हों। अगर यह बात बस एक बुद्दिजीवी या कला के पारखी की ही समझ के दायरे तक सीमित रहनी है तो इस चर्चा का मनोरथ ही क्या रह जाता है? एक शिक्षक द्वारा इसे गम्भीरता से लिया जाना है तो उपरोक्त सवाल का माकूल जवाब देना होगा–ऐसा, कि शिक्षक उसका कायल हो जाए।

जवाब की दिशा में जाने की शुरुआत करते हैं कुछ प्रथाओं और व्यवहार में आने वाले तौर–तरीकों तथा अनुभूतियों से। मैं कुछ प्रथाओं की रूपरेखा रखूँगा और वर्णन करूँगा कि कलात्मक सोच के विकास के लिए इनके क्या निहितार्थ हो सकते हैं, और हमारे आम, साधारण जीवन के लिए इससे क्या नतीजे निकल सकते हैं। जमीनी स्तर पर सोच–विचार के एक साधन के तौर पर हमें कला के संकेतविज्ञान के साथ चलना है तो कुछ शिक्षाशास्त्रीय नजरिए विकसित करने होंगे जो सीखने–सिखाने की प्रक्रिया को परिवर्तित कर सकें।

सर्वप्रथम, कला–कक्षाओं में आमतौर पर देखा जाता है कि बच्चों को तसवीरें उतारने का, देखकर बनाने का काम दे दिया जाता है। यह तो बस अनुकरण या नकल करना ही है और इसका बहुत ही कम महत्त्व है–सिवाय इसके कि एक मृत सम्बन्ध को बल प्रदान किया जा रहा है, क्योंकि ऐसा करते हुए स्पेस की अवधारणा को समझना, उसके बारे में अन्दाजा लगाना और कुछ तय करना शामिल नहीं रहता जबकि यह कला सीखने का मूल उद्देश्य है। अनुकरण से तो मान्य परम्परा के साथ बंधने को ही बढ़ावा मिलता है –इसमें स्वतंत्र भाव शामिल नहीं रहता। इसलिए कला–शिक्षण का पहला सिद्धान्त अनुकरण से बचने का होना चाहिए– बच्चों को किसी अन्य द्वारा बनाई गई

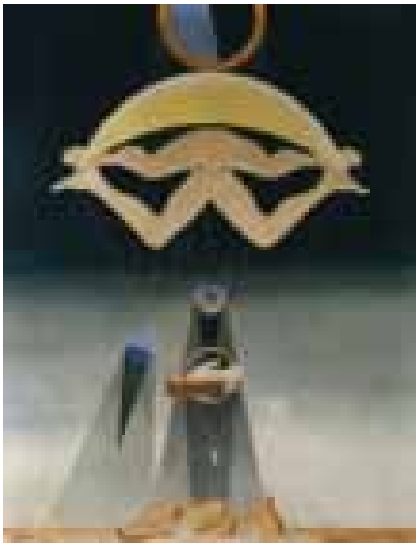

Max Ernst Men Shall Know Nothing of This 1923

तसवीर या उसके द्वारा किए गए काम को देखकर बनाने को न कहें। इससे कला का उद्देश्य ही पराजित हो जाता है और हम शुरू में ही रास्ता खो देते हैं। अनुकरण की बजाए प्रारम्भ से ही सीधी, प्रत्यक्ष अनुभूति को बढ़ावा दिया जाना चाहिए। अवलोकन करना, चुपचाप, शान्ति के साथ, उद्देश्यपूर्ण ढंग से देखना—सीखना इसी से अपने पर्यावरण के प्रति संवेदनशीलता बनती है, और यही राजनीतिक अस्तित्व की ओर शुरुआती कदम बढ़ाने का काम भी करता है।

दूसरी बात यह है कि कला—शिक्षण में बच्चे के काम में हमें यह नहीं देखना चाहिए कि उसने देखकर बनाई गई चीज को किस हद तक यूँ का यूँ प्रदर्शित किया है—देखने की बात तो यह है कि कोणों, बारीकियों और विशिष्टताओं के माध्यम से उसने वस्तुगत सत्य को किस प्रकार प्रदर्शित किया है। एक कलाकार कुछ बातों पर बल देता है और अन्य को अनदेखा करता है—इस बात को स्वीकार किया जाना चाहिए कि बच्चे भी स्वत:स्फूर्त ढंग से ऐसा ही करते हैं। शिक्षक को चाहिए कि वह "सुन्दर" या "बुरा" जैसे आमतौर पर प्रयोग में लाए जाने वाले विशेषणों का प्रयोग करते हुए उसके काम के मूल्यांकन से बचे। बल्कि बच्चे से इस बात पर चर्चा करे कि उसने क्या देखा, और अपनी कला के माध्यम से क्या सम्प्रेषित करने की कोशिश की—यह बच्चे और उसके कार्य के बीच एक वार्तालाप जैसी बात होगी। इस बातचीत और चर्चा से बच्चे की भाषाई क्षमताओं और सम्प्रेषण की ताकत को भी बढ़ावा मिलता है। इस क्षमता का विकास एक राजनीतिक अस्तित्व की ओर दूसरे कदम का काम करता है।

तीसरी बात आमतौर पर प्रचलित प्रथा के उलट लग सकती है लेकिन बच्चों को अपनी कल्पना के बल पर कुछ भी बनाने को नहीं कहा जाना चाहिए। बल्कि पहले तो वे वही बनाएँ जो वे प्रत्यक्ष रूप में देखते हैं। कला कोरी कल्पना ही नहीं है बल्कि उसकी भी एक व्यवस्थित भाषा है जिसके व्याकरण को भी मानकर चला जाता है। हम किसी भी चीज को चित्रित कर सकते हैं, शर्त बस यह है कि उसे ध्यान से देखा जाए, उसके पैटर्न को समझा जाए। बाद में किन्हीं कलात्मक उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए विकृतियों को स्थान दिया जा सकता है। देखे हुए को चित्रित करना केवल यूँ का यूँ चित्रित कर देना नहीं होता बल्कि अवलोकन का एक चिन्तनशील व्यवहार भी होता है। जो देखा गया है या 'जो है', उसके प्रति समझौता किए बिना सच्चा होना एक विकसित होते राजनीतिक व्यक्ति का तीसरा कदम है।

चौथा, बच्चों को प्रेरित किया जाना चाहिए कि वे अपने जीवन की वास्तविक स्थितियों से सम्बद्ध चित्र बनाएँ। दूसरे शब्दों में, यदि वे इस स्थिति में सहज महसूस करते हैं तो उनके काम में काफी कुछ आत्मकथात्मक होना चाहिए (लेकिन जिन बच्चों के बारे में हमें जानकारी है कि उन्हें किसी प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ा है, उन्हें ऐसा करने को कहने से पहले हमें विशेषज्ञों की सलाह ले लेनी चाहिए)। दुनिया को आत्मकथात्मक दृष्टि से देखना—समझना एक उदीयमान राजनीतिक प्राणी का चौथा कदम है।

अन्त में—कोशिश होनी चाहिए कि बच्चे अपने सपनों के प्रति जागरूक हों, और हो सके तो वे उन्हें अपने काम में स्थान दें —शर्त बस यह है कि ऐसा करने में वे सहज—सुरक्षित महसूस करें। यह आत्मकथात्मक तत्व का ही विस्तार और फैलाव है। ऐसा करते हुए हम बच्चों को परोक्ष संकेत दे रहे होते हैं कि वे सपनों को गम्भीरता से लें, शुरुआती दौर में ही अपने जीवन के उस पक्ष के साथ व्यवस्थित तरीके से सम्बन्ध बनाएँ। मानस के साथ सम्बन्ध सम्पूर्णता लिए हुए एक ऐसा तत्व है जो पूरे तौर पर राजनीतिक प्राणी बनने के लिए निर्णायक और महत्वपूर्ण है—एक ऐसा प्राणी जो दुनिया के साथ सार्थक और जागरूक तरीके से सम्बन्ध बना सके। हमारे भाग्य को निर्देशित करने वाली कई उत्प्रेरक शक्तियों और आवेगों की जड़ें बहुत बार हमारे मानस में होती हैं, इसलिए उनकी अभिव्यक्ति खुद के बारे में जानने—समझने का ही एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा होता है।

बच्चों में व्यवस्थित कलात्मक सोच—विचार को बढ़ावा

देने के लिए उठाए जाने वाले कदमों की यह कोई सम्पूर्ण सूची नहीं है लेकिन इससे शुरुआत तो हो ही सकती है। सतर्क पाठक देख पाएगा कि ऊपर कही गई बातों में एक संगति है। यहाँ स्वयं को संसार के सम्बन्ध–सन्दर्भ में कलात्मक दृष्टि से देखने के लिए एक प्लेटफॉर्म बनाने की बात हो रही है। अवलोकन के इस तरीके में स्वयं को एक शुरुआती बिन्दु के रूप में लिया जाता है न कि अन्तिम बिन्दु के तौर पर, और यह तरीका स्वयं तथा संसार के बीच के सीमा–क्षेत्र को अधिक पारदर्शी बनाता है–ऐसा कि इधर से उधर, और उधर से इधर आना–जाना सम्भव हो। इसके अलावा इसी दौरान धीरे–धीरे लेकिन पक्के तौर पर एक भाषा भी विकसित हो रही होती है–क्योंकि इसमें एक तरह का विवरण, एक प्रकार की व्याख्या शामिल है। अन्ततः यह व्यक्ति–विशेष के लिए बाकी संसार के साथ अपना सम्पर्क तीखा और स्पष्ट करने में मददगार होगा– उसी प्रकार जैसे किसी बैटरी के टर्मिनल्स या सम्पर्क–बिन्दुओं की सफाई की जाती है ताकि वे बेहतर कार्य कर पाएँ, विद्युत के बेहतर वाहक बन पाएँ। कलात्मक सोच हमें मौका देती है यह सोचने का कि हम क्या या कौन हैं, और यह यकीनन ही विकासशील शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है। गणितीय वस्तुओं और प्रमाणों का आविष्कार महत्त्वपूर्ण है मगर उतना ही महत्त्व गणितीय सोच का है–उसी प्रकार, जहाँ एक ओर शिल्प–कृतियों का महत्त्व है, दूसरी ओर वे कुछ ऐसी विशेष प्रक्रियाओं का निष्कर्ष/अन्तिम स्वरूप हैं जिनके अन्य महत्त्वपूर्ण उद्देश्य भी हैं–जो उन लोगों द्वारा साझा किए जा सकते हैं जो जरूरी नहीं है कि कलाकार ही बनें।

कौस्तुव *अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय में पढ़ाते हैं; वे विश्वविद्यालय संसाधन केन्द्र की एकडैमिक्स एण्ड पेडागॉजी टीम के सदस्य भी हैं। कौस्तुव के दिशा निर्देशन में शीघ्र ही विश्वविद्यालय में एक आर्ट स्टूडियो तैयार होगा जो अकादमिक समुदाय के लिए पाठ्यक्रम बनाने हेतु बुनियाद का काम करेगा, साथ ही खाली समय में कलात्मक अभिव्यक्ति की बातें सीखने का स्थान भी बनेगा। उनसे Kaustuv.ray@azimpremjifoundation.org पर सम्पर्क किया जा सकता है।*

अनुवादः *रमणीक मोहन*

02 पाठ्यचर्या के केन्द्र में कला

तारा किनी

हमने स्कूलों में सब प्रकार की कलाओं को "पाठ्येतर" गतिविधियों के डिब्बे में डाल रखा है। अर्थ यह लिया जाता है कि कला पाठ्यचर्या के अतिरिक्त है, उसके हाशिए पर है, उस सबसे बाहर है जिसे पवित्र और पुनीत माना जाता है। सीधे–सीधे शब्दों में कहें तो उन्हें गैर–अकादमिक समझा जाता है। सब अपराधों से मुक्ति दिलाने वाली बोर्ड परीक्षा उनका उद्देश्य और लक्ष्य नहीं है – इसलिए इसमें कोई हर्ज नहीं समझा जाता कि कलाओं को समय–सारिणी में वह समय मिले जब बच्चे थक चुके हों यानी देर दोपहर में। इससे पहले कि वे अपने बस्ते बाँधें और इन्तजार करती बस की ओर बढ़ें, चलो कुछ गाना, बजाना, नाचना और फाइन आर्ट ही हो जाए! समय–सारिणी में ऊँचा स्थान गणित और भाषा जैसे 'महत्त्वपूर्ण' विषयों को दिया जाता है (विज्ञान भी काफी हद तक इस स्थान के नजदीक है)। ये विषय सुबह पढ़ाए जाते हैं, जब बच्चे ताजगी से भरे, सीखने को उत्सुक होते हैं। मैं उस स्कूल के दर्शन और सोच के सामने नतमस्तक होने को तैयार हूँ जिसके दिन की शुरुआत गीत, नृत्य, अभिनय या चित्रकला से होती हो, क्योंकि उसने शिक्षा के तत्व को समझ लिया है मगर आज के समय में ऐसा कोई स्कूल मिल पाना मुश्किल ही है।

यह मेरी व्यक्तिगत राय या कल्पना की बात नहीं है। मैं देवी प्रसाद द्वारा लिखी गई, नैशनल बुक ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित महत्त्वपूर्ण पुस्तक "आर्ट्स: द बेसिस ऑफ एजुकेशन" को उद्धृत करना चाहूँगी। गाँधी और टैगोर हमारे अग्रणी दार्शनिक हैं–शिक्षा के बारे में उनके विचारों का समकालीन भारत में केन्द्रीय स्थान है। देवी प्रसाद उन्हीं के विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं और शिक्षा के दो मुख्य लक्ष्य रखते हैं:

"शिक्षा को चाहिए कि वह समाज द्वारा महत्त्वपूर्ण माने जाने वाले मूल्यों की समझ बनाए और उन्हें जीवन के व्यवहार में लाना सिखाए। इसके साथ–साथ उसे चाहिए कि वह आत्म–सम्मान और स्वतंत्रता तथा विवेक और समझ–बूझ की भावना को व्यक्ति के मन में बैठाए ताकि वह आजादी से सोच पाए और जीवन में अपने चुनाव स्वयं करने में सक्षम बन पाए।"

कला शिक्षा की बुनियाद का काम करे, इसके हक में तर्क देते हुए वे अपनी बात को इस तरह समेटते हैं:

"दूसरे शब्दों में, सामान्य तौर पर शिक्षा, और विशेष तौर पर कला–शिक्षा, एक तरीका है बढ़ने और विकास करने का, प्रकृति की सुन्दरता, सामाजिक मूल्यों और सम्पूर्ण जीवन के सौन्दर्यशास्त्रीय पक्षों के प्रति संवेदनशील होने का।"

मगर वैश्वीकरण के गहरे प्रभाव और बच्चों को दुनिया की अर्थव्यवस्था में "बाजार योग्य" बनाने की कोशिश के चलते कला–शिक्षा पर ध्यान केन्द्रित करने में हम कमजोर पड़ गए हैं। रचनात्मक कलाएँ ही बच्चों को अपनी जड़ें स्थापित करने और जीवन का गहरा अर्थ पाने में मदद करेंगी। यह उसे दुनिया में हो रहे बहुत बड़े पैमाने के बदलावों का सामना करने में भी मददगार होगा। इसके अलावा इक्कीसवीं सदी में सृजनात्मकता एक आवश्यक हुनर की तरह हो गई है और इसकी धार रचनात्मक कलाओं के क्षेत्र में सबसे बेहतर तेज की जा सकती है। इसके बाद, सीखने के अन्य क्षेत्रों में भी इसे हस्तान्तरित किया जा सकता है।

सवाल उठता है कि अगर यह कारण स्कूली पाठ्यचर्या में रचनात्मक कलाओं को 'पाठ्यचर्या–अतिरिक्त' से 'पाठ्यचर्या का केन्द्रीय भाग' बनाने के लिए पर्याप्त है, तो पाठ्यचर्या तैयार कैसे की जाए? इससे भी महत्त्वपूर्ण है कि इस प्रकार की पाठ्यचर्या को लागू करने का क्या तरीका

अपनाएँ ताकि वह किसी बच्चे के विशेष सन्दर्भ में उसकी आवश्यकताओं को सम्बोधित कर सके।

मैं इन सवालों को एक कार्यरत शिक्षक के तौर पर प्राप्त अपने अनुभव की रौशनी में सम्बोधित करना चाहूँगी, ऐसे शिक्षक के तौर पर जिसे शिक्षकों के व्यावसायिक विकास और पाठ्यचर्या–विकास के क्षेत्रों में कुछ विशेषज्ञता हासिल है।

कलाओं को केन्द्र में रखने वाली पाठ्यचर्या का निर्माण

इस सम्बन्ध में मेरा सबसे पहला बल इस बात पर होगा कि यह प्रक्रिया शिक्षकों के सहयोग से होनी चाहिए। जब शिक्षक को लगेगा कि वह पहले से तय कर दी गई बात को आगे पहुँचाने वाला नहीं बल्कि स्वयं पाठ्यचर्या का निर्माता है, तो वह पाठ्यचर्या को अपनाएगा और उसे अपने रचनात्मक विचारों से समृद्ध करने की कोशिश भी करेगा। यह सही है कि इस प्रक्रिया में समय काफी लगेगा। इसके लिए शायद बहुत से स्कूल तैयार नहीं होंगे। लेकिन सहयोग की भावना से पाठ्यचर्या–विकास की प्रक्रिया (जिसमें इससे सम्बद्ध विशेषज्ञों का सहयोग भी होगा) में निहित है कि शिक्षकों को व्यावसायिक स्तर पर अपना विकास करने का मौका मिलेगा। इससे स्कूल व्यवस्था में भी निश्चित तौर पर गुणात्मक सुधार आएगा।

जब शिक्षक विशेषज्ञता के अपने क्षेत्र के सम्बन्ध में अपने मूल्यों को अभिव्यक्त करते हैं और मिल–जुलकर यह तय करने के लिए काम करते हैं कि क्या पढ़ाया जाना सबसे महत्त्वपूर्ण है, तो विद्यार्थियों के लिए ज्ञानार्जन की गहराई तक जाने की सम्भावनाएँ भी बहुत अधिक बढ़ जाती हैं।

अगला कदम विषयों के चुनाव से सम्बन्धित होगा – किन विषयों का चुनाव हो ताकि शिक्षण को कला के इर्द–गिर्द केन्द्रित करते हुए काम हो पाए। पूरे साल के दौरान चुने गए विषयों में निम्नलिखित विशेषताएँ होनी ही चाहिए:

- मुद्दा/विषय बच्चे के लिए प्रासंगिक हो;
- मूल विषय शिक्षक समूह की दिलचस्पी का हो;
- यह समाज के सन्दर्भ में संस्थाओं तथा उनके मूल्यों के लिए प्रासंगिक हो।

इन तीनों शर्तों को पूरा करना चुनौतीपूर्ण है लेकिन शिक्षक समूह के साथ सोच, परख, परिचर्चा हो जाए तो बात बन जानी चाहिए। आदर्श रूप में तो बच्चों के साथ भी कुछ चर्चा होना आवश्यक है। लेकिन ध्यान में रखना होगा कि सत्र शुरू होने से पहले पाठ्यचर्या का तैयार होना आवश्यक है। इसके मद्देनजर शिक्षक बच्चों के साथ पिछले अकादमिक सत्र के अन्त से पहले बातचीत–चर्चा कर सकते हैं, या फिर पूरे सत्र के दौरान विचार की गई बातों को विद्यार्थियों के साथ दस्तावेज की शक्ल देकर उनके लिए प्रासंगिक मुद्दों या विषयों तक पहुँच सकते हैं। इस उद्देश्य को ध्यान में रखें तो विद्यार्थियों के साथ अनौपचारिक विचार–विमर्श के चलते उन्हें तथा उनकी जरूरतों और प्राथमिकताओं को बेहतर जानने की प्रेरणा भी बनी रहेगी। इस प्रक्रिया के इस पक्ष पर जितना बल दिया जाए वह कम है। कक्षा में सार्थक ज्ञानार्जन हो पाए, इसके लिए महत्त्वपूर्ण है कि हम बच्चों को बढ़िया तरीके से समझ पाएँ और किसी ऐसी बात तक पहुँच पाएँ जो उनके लिए महत्त्वपूर्ण है।

एक बार विषय तय हो जाता है तो विचार और परख करते हुए बस इस बात का दिमागी खाका खींचना भर रह जाता है कि ज्ञान की प्रत्येक शाखा में उस मुद्दे की ओर किस तरह बढ़ा जाए। यहाँ मैं एक उदाहरण दे रही हूँ

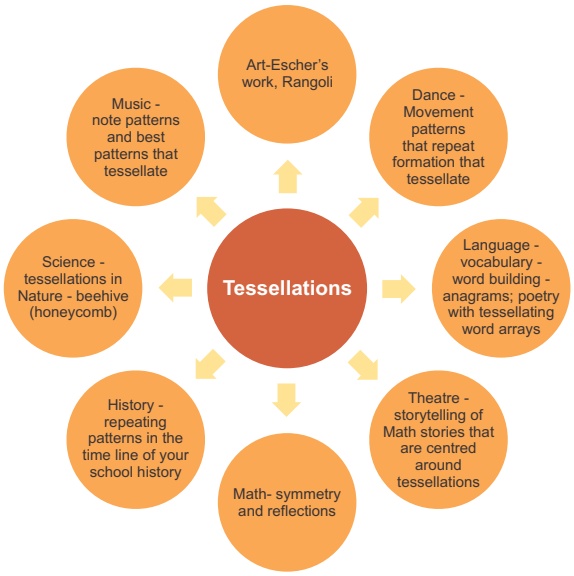

लेकिन उसकी झलक, उसकी प्रतिध्वनि स्कूल में किए जाने वाले काम में देखने–सुनने को मिल सकती। इस काम से मैं सक्रिय तौर पर सम्बद्ध रही हूँ। इस दिमागी खाके में विभिन्न विषय–क्षेत्रों के लिए प्रस्तावित विषय–वस्तु को विभिन्न कक्षा–स्तरों के बच्चों के आयु–वर्ग के अनुसार ढाला जा सकता है। इसे हासिल करने के लिए सबसे बढ़िया तरीका अन्तर्राष्ट्रीय मानकों (जैसे McRel www.mcrel.org@standards.benchmark) या राष्ट्रीय मानक (जैसे एन.सी.ई.आर.टी.) के दिशानिर्देशों का सहारा लिया जा सकता है और प्रत्येक पाठ के सीखने सम्बन्धी नतीजों को आयु–अनुरूप मानक से जोड़ा जा सकता है।

हो सकता है कि आप दिमागी खाके के इस चित्र को देखें और सोचें कि इसमें कला केन्द्र में कहाँ है? एकीकृत ज्ञानार्जन के इस खाके में चौकोर निर्माण का विषय ललित कला, संगीत, नृत्य, थिएटर जैसी रचनात्मक कलाओं या अन्य ज्ञान–क्षेत्रों में अन्तर्विषयक दक्षताओं के लिए अनुकूल है। एक और तरीका हो सकता है कि किसी ऐतिहासिक घटना (मसलन, द्वितीय विश्व युद्ध) जैसे विषयों को लिया जाए जिन्हें संगीत, नृत्य, थिएटर और कला आदि में ढाला जा सकता हो।

प्रत्येक विषय को अलग–थलग रखकर पढ़ाए जाने की बजाए एकीकृत दृष्टिकोण प्रयोग में लाकर शिक्षा होती है तो ज्ञानार्जन वास्तविक संसार में कहीं अधिक प्रभावशाली ढंग से स्थित होता है। जब कलाओं को इस एकीकरण के केन्द्र में ले आया जाता है तो देवी प्रसाद जिस संवेदनशीलता और जीवन के जिन सौन्दर्यशास्त्रीय पक्षों की बात कहते हैं, वे और भी अधिक उजागर होते हैं।

टैगोर ने 1922 में सृजनात्मक एकत्व पर लिखी अपनी किताब में रचनात्मकता के लिए प्रत्येक व्यक्ति की माँग और आवश्यकता को अभिव्यक्त किया है:

"हमारे अन्तर में एकत्व का आनन्द अभिव्यक्ति की खोज में रचनात्मक हो जाता है; जबकि हमारी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए हमारी इच्छा निर्माणशील होती है। पानी के बर्तन को बस बर्तन के तौर पर ही लिया जाए तो सवाल उठता है, 'यह अस्तित्व में ही क्यों है?' उसके निर्माण की उपयुक्तता उसके अस्तित्व में होने का औचित्य बन जाती है। लेकिन जहाँ वह बर्तन केवल सुन्दर रचना के रूप में होता है, वहाँ उसे किसी प्रश्न के उत्तर की जरूरत नहीं है – उसे तो बस होना है, कुछ करना नहीं है। उसके रूप–स्वरूप में एकत्व दीखता है – और उसमें जो कुछ भी भिन्न दिखाई देता है, वह उस एकत्व से इस तरह सम्बद्ध होता है कि हमारे अस्तित्व में मौजूद एकत्व के संगीत के साथ एक रहस्यमयी ढंग की सहानुभूति पैदा करता है।"

बच्चों के ज्ञानार्जन के केन्द्र में कलाओं को लाने से न केवल ज्ञानार्जन की प्रक्रिया में गहराई आएगी बल्कि प्रत्येक शिक्षार्थी में सामंजस्य का भाव भी पैदा होगा। इक्कीसवीं सदी में यह निहायत जरूरी है, जबकि प्रौद्योगिकी में चकरा देने वाले बदलाव हो रहे हैं, संसार पहले से कहीं अधिक हिंसात्मक हो गया है। कलाओं को स्कूलों में पाठ्यचर्या के केन्द्र में रखा जाए तो न केवल रचनात्मकता की दक्षताओं बल्कि व्यक्तियों और पूरे समाज में रचनात्मक एकत्व की कल्पना की जा सकती है।

तारा किनी *शिक्षा और संगीत के क्षेत्र में स्वतंत्र परामर्शदाता हैं। वे बंगलौर, आन्ध्र प्रदेश, दिल्ली तथा अहमदाबाद में कई प्रतिष्ठित संस्थाओं के साथ पाठ्यचर्या विकास तथा शिक्षकों और प्रशिक्षकों के प्रशिक्षण का काम करती रही हैं। तारा माल्या अदिति इण्टरनैशनल स्कूल में 24 साल तक शिक्षक तथा प्रशासक रही हैं। वे सृष्टि स्कूल ऑफ आर्ट, डिजाइन एण्ड टेक्नॉलाजी में सेण्टर फॉर एजुकेशन, रिसर्च एण्ड ट्रेनिंग की संस्थापक भागीदार हैं। उन्होंने हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत में गहन प्रशिक्षण प्राप्त किया है, थियेटर के लिए संगीत–रचना की है और संगीत के प्रोग्रामों का निर्देशन किया है। उन्होंने स्टैन्फर्ड यूनिवर्सिटी में शिक्षण किया है तथा शेफील्ड और हेल्सिंकी में संगीत और शिक्षा पर शोध–पत्र प्रस्तुत किए हैं। उनसे tara.kini@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है।* ***अनुवादः*** *रमणीक मोहन*

03 खुशी-खुशी सीखना

रति बासु

मानो जिन्दा होने की खुशी मनाता, बछड़ा जोर मारती जीवन शक्ति के चलते काँपती टांगों से चुस्त, भरपूर छलाँगें लगाता है। एक तेज बौछार के बाद अचानक सूरज निकलता है तो खुशबू बिखेरती गीली–भीगी धरती में इक निखार आ जाता है। मछली पकड़ने वाले पक्षी कौड़िल्ला (किंगफिशर) के नीले पंख की एक झलक; नरम रोएँदार पूँछ ऊपर उठाए, घबराई हुई–सी सरपट दौड़ती गिलहरी की 'टट् टट्'; उड़ते हुए से नीचे को आते, मानो आशीष देते साल के फूल; रात की ठण्डी धीमी हवा में दूर से चमेली के फूलों की आती महक; सुबह–सुबह हरी घास पर ओस की बूँदें; बारिश में बच्चों की खिलखिलाती हँसी। यानी प्रकृति और इन्सान, जीवन–चक्र में भाग लेते हुए खुशी में, खुशी को महसूस करते हैं।

'पाठ भवन' का परिसर चमकते चेहरे लिए एक–दूसरे से बात करते, चहकते बच्चों की आवाजों से भरा–भरा–सा महसूस होता है। सूरज की किरणों से बनते, पल–पल बदलते–लहराते बिम्बों के बीच ये बच्चे पेड़ों की छाया में लग रही एक कक्षा से दूसरी की ओर जाते दिखाई देते हैं। खुले आसमान की खूबसूरती और आँखों के सामने अपने शानदार रंगों में बदलते विभिन्न मौसम–प्रकृति सब शिक्षकों की गुरु है।

बच्चे आते हैं–सतर्क, बेचैन और उत्सुक। वे पूछते नहीं हैं कि क्या बनाएँ–बल्कि स्वयं ही कागज पर लकीरें और आकृतियाँ बनाने लगते हैं। प्रारम्भिक उम्र में बच्चा मुख्य तौर से मन पर अंकित प्रभावों से ही निर्देशित होता है, वह चीजों की पहचान बनाता है, उत्सुक तथा जिज्ञासु होता है। उसमें हैरत और अचरज का भाव जागता है। एक की तुलना में दूसरी का रूप–आकार बच्चे के दिमाग पर अंकित अनुमान और प्रभाव के दम पर ही तय होता है। एक फूल, एक पेड़ या मकान से बड़ा हो सकता है। कान, नाक और बाल उसे तुरन्त महत्त्वपूर्ण प्रतीत नहीं होते और इसलिए कई चित्रों से गायब होते हैं। जिस वास्तविकता और यथार्थ को वह जानता–पहचानता है, वह देखे गए यथार्थ से अधिक महत्त्वपूर्ण हो सकता है। जैसे, एक ठेले या कार के पहिए तो चार बनाए जाएँ मगर दिखाई देते हों दो या तीन ही। इस चरण पर बच्चे को दुरुस्त करने का अर्थ होगा उसके दिमाग पर अंकित प्रभाव की अभिव्यक्ति के सत्य को नष्ट करना। दोनों ही दृष्टिकोण बराबर तौर पर जायज हैं और दोनों का आदर किया जाना चाहिए।

कभी–कभी हो सकता है कि बच्चा एक ही चित्र को बार–बार बनाए। यह अत्यधिक प्रशंसा की वजह से हो सकता है या इसलिए भी कि वह उसे बार–बार बनाने में सहज महसूस करता है। (कई प्रतिष्ठित कलाकार भी ऐसा करते हैं!) ऐसा होने पर बहुत ही प्यार से, सुझाव देते हुए बच्चे को निर्देशित किया जा सकता है।

बच्चे को धीरे–धीरे इस बात के लिए प्रेरित किया जा सकता है कि वह बेतरतीब, बस यूँ ही चीजों को साथ रखने से बचे। वह उनके आपसी रिश्तों को समझने लगे, उनका स्थान तय कर पाए और उनके तुलनात्मक आकार को देख–परख पाए। एक बच्चे द्वारा बनाए गए चित्र में एक मकान, एक मछली, पेड़, पक्षी या कोई भी आकृति हो सकती है। बच्चे को यह सोचने के लिए प्रेरित किया जा सकता है कि ये कहाँ पाए जाते हैं–यानी मछली पानी में, पक्षी पेड़ या आकाश में आदि। "यह आकृति मकान के दरवाजे में से कैसे घुसेगी?" यह सवाल आकृति के मुकाबले में मकान और दरवाजे के साइज की समस्या का फट से हल निकाल देता है। इस प्रकार अनुपात से सम्बन्धित सीख बहुत ही सरल, स्वाभाविक और तार्किक

हो जाती है।

प्रत्येक बच्चा अद्वितीय होता है। एक बच्चे का अवलोकन और प्रतिक्रिया दूसरे बच्चे के अवलोकन और प्रतिक्रिया जैसे ही नहीं होंगे। पेन्सिल का पकड़ना और रंगों का इस्तेमाल भी एक–सा नहीं होगा। तुलना करना और किसी बात पर फैसला दे देना बच्चे के काम की स्वाभाविक गति और लय के लिए लाभप्रद नहीं होगा। ऐसे में उसमें हीनता का भाव आ सकता है, वह दूसरों की नकल करने को लालायित हो सकता है और स्वयं के बारे में अनिश्चितता से घिर सकता है। यह डर कि उसका काम उतना अच्छा नहीं है जितना होना चाहिए, उसकी स्वाभाविक, स्वत:स्फूर्त अभिव्यक्ति को नष्ट कर सकता है, जिसके चलते उसके लिए कला की गतिविधियों से खुशी लुप्त हो सकती है। कला का सामर्थ्यवान शिक्षक वह है जो बच्चे के मन में सहानुभूति के साथ, समझदारी से प्रवेश कर सके – जो बच्चे की आँखों से देख पाए और देखने में उसकी मदद कर सके।

जैसे–जैसे बच्चा बड़ा होता है, उसे अपने विचार और अवलोकित चीजों को अधिक सटीक ढंग से अभिव्यक्त करने की आवश्यकता महसूस होती है। वह वस्तुओं को वैसा ही प्रस्तुत करना चाहता है जैसा वह उन्हें देखता है। उसे अब कुछ तकनीकी ज्ञान की दरकार होगी, जो उसकी व्यक्तिगत जरूरतों और प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए सुनियोजित तरीके से दिया जाना चाहिए, ताकि उसकी अन्तर्निहित सृजनात्मक प्रेरणा तथा आवेग समाप्त न हो। कला–शिक्षक बच्चे में आनन्द की भावना और अनुभूति को जिन्दा रखना चाहता है तो व्यक्तिगत जरूरतों का इस रूप में ध्यान रखा जाना निहायत जरूरी है।

विभिन्नता में भी आनन्द आता है और इसीलिए बच्चों को हर तरह की सामग्री का इस्तेमाल करने के लिए प्रेरित किया जाना चाहिए–चॉक, पेन्सिल, चारकोल, स्याही, पानी के रंग और कोलाज। प्रत्येक माध्यम की अपनी विशेषताएँ और अन्तर हैं। पेन्सिल से खींची गई लकीर पतली, सटीक और तीखापन लिए होगी; ऑयल पेस्टल गाढ़ा और बहता हुआ होगा; पानी के रंग अधिक तरल होंगे–वे खाके की अभिव्यक्ति की बजाए रीति और रूप को अभिव्यक्त करते हैं। पेन्सिल से खींचे चित्र में रंग भरना बच्चे को सीमित करने वाला अभ्यास है। माध्यमों को मिश्रित कर लिया जाए तो प्रत्येक माध्यम की बेहतर समझ विकसित करने में, उसकी सम्भावनाओं और सीमाओं को समझने में भी मदद मिलती है। कोलाज का प्रयोग रूप–आकार की गहरी समझ विकसित करता है। अभिव्यक्ति के नए तरीके काम को अधिक रुचिकर और आकर्षित करने वाला बना देते हैं।

कागज के रूप–आकार और दिशा (आड़े या खड़े), में

सामूहिक कार्य, कक्षा IV-X, जलरंग तथा जैल पेन से कागज पर, पाठ भवन, शान्ति निकेतन

पोलमी घोष, कक्षा V, जलरंग, पाठ भवन, शान्ति निकेतन

परिवर्तन हो तो देखने का तरीका पूरी तरह बदल सकता है। स्केल के प्रयोग को महत्त्व और बढ़ावा न दिया जाए क्योंकि उद्देश्य देखी गई चीज को सटीक, हू–ब–हू वैसा ही बनाना नहीं है बल्कि मोटे तौर पर उसके भाव को अभिव्यक्त करने का है। यंत्र–साधनों पर निर्भरता न हो तो हाथ अधिक सधा हुआ रहता है और अवलोकन के प्रखर अभ्यास का भी विकास होता है। बाद में, जब बच्चा बड़ी कक्षाओं में पहुँच जाए, तब शुरुआती सालों की आजादी और स्वत:स्फूर्त अभ्यास में कमी लाए बिना कोई भी यंत्र–औजार प्रयोग किया जा सकता है।

जब बच्चे अपनी पसन्द का माध्यम चुनने में सक्रिय तौर पर शामिल होते हैं, तो वे तनाव–मुक्त महसूस करते हैं और कुछ ऐसा खोज पाते हैं जिसे करने में वे अच्छे हैं और इसलिए नतीजे से खुश भी होते हैं। यह बात विषयवस्तु पर भी लागू होती है।

मेरे विचार से कक्षा की गतिविधियों में साथ मिलकर काम करने का बहुत महत्त्व है। विचार साझा किए जाते हैं, योजना बनाई जाती हैं, सहमतियाँ–असहमतियाँ होती हैं और समूचा समूह काम के लिए जिम्मेवार होता है। समूह बराबर के लोगों का भी हो सकता है और छोटे–बड़ों का भी। सब एक–दूसरे से सीखना शुरू करते हैं–विचार साझा करना, एक–दूसरे के नजरिए को आदर–मान देना, सामूहिक स्तर पर विश्वास बनाना। काम छोटे–छोटे भी हो सकते हैं, जैसे कला की कॉपी के दो पृष्ठ, या फिर बड़े भी–जैसे, दस बड़ी शीट्स को इकट्ठा करके एक काम के तौर पर प्रयोग में लाना। बच्चा छोटे से बड़े की ओर बढ़ता है, ऐसा करते हुए उसका आत्मविश्वास बढ़ता है, वह परस्पर सहयोग से काम करना और विचारों में मतभिन्नता के हल तलाशना सीखता है। इस गतिविधि से कक्षा में खुशी और जोश, ऊर्जा और उत्सुकता पैदा होते हैं।

कक्षा में गतिविधियों में आनन्द और उत्सुकता होना महत्त्वपूर्ण और आवश्यक है। आनन्द तब ही होगा जब बच्चा भय–रहित होगा, उसमें आत्मविश्वास होगा। बहुत अधिक आलोचना और निर्देशन होगा तो बच्चा भय में रहेगा–सही बात न कर पाने का भय, असफल होने का भय। महत्त्वपूर्ण है कि रवैया सकारात्मक हो और प्रत्येक बच्चे के काम को सराहा जाए। अगर प्रत्येक बच्चे के काम को प्रदर्शित किया जाता है तो यह बहुत आसानी से हो सकता है। चित्र बनाने के लिए जो माध्यम वह कक्षा में लाया है, बच्चे को अपना काम उसी का प्रयोग करते हुए

अमृता चट्टोपाध्याय, कक्षा X, तैलचित्र, पाठ भवन, शान्ति निकेतन

पूरा करने को प्रोत्साहित किया जा सकता है। शिक्षक उसे अपने काम के बारे में बात रखने को भी उत्साहित कर सकते हैं। इन तरीकों से बच्चे के मन से 'डर' की भावना निकाली जा सकेगी, वह सहज होना सीखेगा और काम में उसे आनन्द आने लगेगा। उसे एहसास होगा कि कला का काम मुश्किल नहीं है और कोशिश की जाए तो बहुत कुछ किया जा सकता है।

मेरा पक्का विश्वास है कि स्कूल में कला की गतिविधियों को अंकों के आधार पर लाभ–हानि के साथ जोड़कर तनाव पैदा नहीं किया जाना चाहिए। किसी प्रकार की प्रतियोगिता या प्रतिस्पर्धा नहीं होनी चाहिए। किसी एक के काम को सबसे बेहतरीन करार देने की प्रक्रिया तो वस्तुपरक न होकर व्यक्तिपरक ही होगी। इससे कुछ अच्छा नहीं होने वाला–बल्कि नुकसान ही होता है।

जब अंकों या प्रतिस्पर्धा का दबाव या तनाव न हो तो स्वतंत्रता के एक गहरे भाव का एहसास और अनुभव होता है। प्रत्येक व्यक्ति की योग्यता के प्रति गरिमा और प्रतिष्ठा का भाव तथा प्रत्येक की योग्यता में अन्तर और भिन्नताओं की समझ हो तो यह एहसास विकसित होने में मदद मिलती है कि प्रत्येक के पास योगदान करने को कुछ न कुछ है। इससे विश्वास पैदा होता है और साझा तौर पर सीखने, सहयोग, आदान–प्रदान का रवैया भी, और स्वतंत्र तौर पर आत्म–अभिव्यक्ति तथा आनन्द भी मिलता है।

सीखना जीवन के स्वाभाविक विकास की प्रक्रिया का हिस्सा है–यह हमेशा शान्ति निकेतन का एक उद्देश्य रहा है, इसीलिए शिक्षा सम्पूर्ण जीवन के लिए है, केवल ज्ञान और आजीविका के लिए नहीं। हमारे परिवेश को कैसा रखा जाता है, कपड़े पहनने का तौर–तरीका क्या है, हम स्वयं को कैसे व्यवहार में रखते हैं–ये सब सुन्दरता और सौन्दर्यशास्त्र की एक अनुभूति विकसित करने में मदद करते हैं और हम जो कुछ भी अस्तित्व में है, उस सबके साथ सामंजस्य का जीवन जी सकते हैं।

यह लेख लिखने में मैंने रबीन्द्रनाथ टैगोर के 'माय स्कूल', 'अ पोएट्स् स्कूल' एवं 'माय एजुकेशनल मिशन' लेखों की मदद ली है। साथ ही क्षितिज रॉय द्वारा सम्पादित 'द विश्व भारती क्वार्टर्ली, एजुकेशन नम्बर',. शान्तिनिकेतन 1947 के निम्नलिखित लेखों से :

1. बिनोद बेहारी मुखर्जी, 'टीचिंग ऑफ आर्ट टु चिल्ड्रन'।
2. नन्दलाल बोस, 'अ प्राइमर फॉर आर्ट एजुकेशन'।
3. ज्ञानेन्द्र चट्टोपाध्याय, 'रबीन्द्रनाथ एण्ड हिज आश्रम स्कूल'।

रति बासु *एक पेशेवर कलाकार हैं। वे 1982 से कला शिक्षिका हैं और 1988 से विश्व भारती के 'पाठ भवन' स्कूल में हैं। उन्होंने महाराजा सयाजी राव विश्वविद्यालय, बड़ौदा से चित्रकला और ग्राफिक आर्ट्स में स्नातक तथा स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण की है। वे राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा 2005 के कला, संगीत, नृत्य और थियेटर के राष्ट्रीय फोकस ग्रुप की सदस्य थीं। 'पाठ भवन' के बहुत से आदर्श इस समूह की कला–शिक्षा के लिए की गई सिफारिशों में शामिल हैं। उनसे ratibasu@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है।* ***अनुवादः*** *रमणीक मोहन*

स्कूली शिक्षा में कला

कल्पनाशील सोच–विचार को शायद एक दक्षता न माना जाता हो लेकिन यह अधिकतर कलात्मक दक्षताओं से भी अधिक आधारभूत है। छोटी कक्षाओं में यह सिखाना बहुत मुश्किल है। कला के संसार में कल्पना की अलग ही उड़ान होती है और इस संसार में प्रवेश कर पाना आसान नहीं है। कला–शिक्षण के शुरुआत में सम्भव है कि किसी शिक्षक ने कोई आकृति बनाने या उसे रंगों से भरने या फिर सीधी लकीरें खींचने के लिए कहा हो। कभी–कभी बच्चे ऐसा करने में बोरियत महसूस करते हैं और कला की कक्षाओं में उनकी दिलचस्पी घटने लगती है। मैं आमतौर पर उन्हें कोई रंग–बिरंगा दृश्यचित्र बनाने को देता हूँ या फिर जानवरों या किसी इन्सान की हल्की–फुलकी हँसी भरी तसवीर, तितलियाँ और चित्रकारी आदि। यदि यह उनका खुद का चुनाव होगा तो अधिक सम्भावना है कि वे इस पर मेहनत करेंगे। कभी–कभी वे शिल्प कार्य भी करते हैं। मैंने पाया है कि उन्हें इस गतिविधि में अमूमन अधिक मजा आता है।

आमतौर पर कक्षा 6 से कक्षा 8 तक के बच्चों को जो वे करना चाहते हैं उसके चुनाव की छूट दी जाती है। कुछ दिलचस्पी लेते हैं और कुछ नहीं। बेहतर है कि विद्यार्थियों को ऐसा काम न दिया जाए जिसके लिए वे तैयार न हों। मेरी कोशिश विभिन्न विषयों पर कुछ विचार उन तक पहुँचाने की रहती है जिन्हें वे अपनी स्केच–बुक में प्रयोग कर सकें। वे बहुत अच्छा प्रदर्शन न कर रहे हों तब भी मैं उन्हें प्रोत्साहित करता हूँ। विद्यार्थी विचारों को अपना लेते हैं तो कुछ करने की इच्छा और प्रेरणा सबसे सशक्त होती है। यानी किए गए महत्त्वपूर्ण चुनाव में उनका दखल होना चाहिए। चुनाव वे स्वयं करेंगे तो काम भी बेहतर करेंगे।

महत्त्वपूर्ण चरण तब आता है जब वे बड़ी कक्षाओं में पहुँचते हैं, जैसे कि कक्षा 12 में। इसी दौर में वे रेखाचित्र बनाने की दक्षताएँ, कला का ज्ञान और रंगों की समझ विकसित करते हैं। इन कक्षाओं में स्थिर जीवन (स्टिल लाइफ), कल्पनाशील चित्रकला, पुस्तकों पर आवरण चढ़ाना, पोस्टर–निर्माण और लिनो प्रिन्ट आदि विशेष विषय होते हैं। पाठ्यचर्या का यह हिस्सा उन्हें सामग्री से "खेल–खिलवाड़" करने का मौका देता है। उदाहरण के लिए, पानी के रंगों की पारदर्शी रचना पर पेस्टल रंगों से चित्रकारी करना। पाठ का यह हिस्सा कला नहीं बल्कि कला की दक्षता या शिल्प है जो शिक्षक द्वारा बहुत ही ध्यान से पेश किया जाता है। कुछ विद्यार्थी आवेग में काम करते हैं, काम के महत्त्वपूर्ण पक्षों पर पर्याप्त ध्यान दिए बिना उसे खत्म करने की जल्दी में

रहते हैं। मैं उन्हें अपने काम में जटिलता का विकास करने के लिए प्रोत्साहित करता हूँ। खुले सवाल छोड़ता हूँ जिनसे ऐसे मुद्दे उठें जिन्हें वे अपने काम के लिए विचार में ला पाएँ। उनके लिए सबसे अधिक आवश्यकता सोचने के अभ्यास की है। मैं सुझाव माँगता हूँ तो पहले पूछता हूँ कि विद्यार्थी किस बारे में सोच रहा था। बहुत बार तो उसके पास पहले से ही कोई विचार होता है मगर उसे प्रयोग में लाने का आत्मविश्वास नहीं होता। मैं उन्हें यह कहकर प्रोत्साहित करता हूँ कि कुछ बातें अभ्यास से ही सीखी जा सकती हैं और अधिक अभ्यास बेहतर नतीजों की ओर ले जाता है।

पिछले कुछ सालों में मैंने जीवन में कला–शिक्षा के महत्त्व के बारे में अपनी सोच कुछ विद्यार्थियों तक पहुँचाई। पिछले ही साल कक्षा 12 के दो विद्यार्थी अपने डिग्री पाठ्यक्रम में फैशन डिजाइनिंग करना चाहते थे। इसमें कोई शक नहीं कि बच्चे के व्यक्तित्व और दक्षताओं के विकास में कला–शिक्षा का महत्त्व है। कला से बच्चे की बुद्धि का विकास होता है। देखा गया है कि कला से सम्बद्ध गतिविधियों में शामिल बच्चे अन्य विषयों की भी बेहतर समझ विकसित कर पाते हैं फिर वह चाहे भाषा हो या भूगोल या फिर विज्ञान। अध्ययनों से सिद्ध हुआ है कि कला के सम्पर्क और परिचय में आने से मस्तिष्क की गतिविधि को बढ़ावा मिलता है। बच्चा समस्याओं के हल निकालना सीखता है। वह अपने विचार अलग–अलग तरह से दूसरों तक पहुँचाना भी सीखता है। कला बच्चे के समग्र व्यक्तित्व का विकास करती है, उसमें आत्म–सम्मान का निर्माण होता है और अनुशासन भी आता है। कला से सम्बद्ध होने की वजह से बच्चा अधिक रचनात्मक और नवाचारी बनता है तथा दूसरों के साथ सहयोग करना सीखता है। सारांश में, कला–गतिविधियाँ बच्चे के व्यक्तित्व–विकास, बौद्धिक प्रगति तथा अवलोकनात्मक दक्षताओं में बेहतरी लाने के लिए आवश्यक हैं।

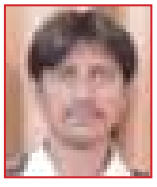

ç'kkUr lhy

कला–शिक्षक, अशोक हॉल गर्ल्स रेसिडेंशियल स्कूल, अल्मोड़ा, उत्तराखण्ड।

अनुवाद: *रमणीक मोहन*

04 जब कला कलाकार बन जाती है....

श्रीवि कल्याण

आकाशीय स्व पर टिप्पणी

अगर हम मूल्यांकन, रोजगार और सफलता के सीमित संसारों से भी आगे तक निकल जाएँ तो ऐसे कला–कार्यक्रम रचने के लिए तैयार होंगे जो प्रत्येक बच्चे की पहचान में क्रान्तिकारी बदलाव ला पाएँगे।

स्कूलों को कला की आवश्यकता क्यों है? एक और, अधिक गम्भीर मगर विचित्र सवाल भी है, जिसकी विचित्रता मुझे पसन्द है–"कला असल में है क्या?" मैंने अपने दोस्तों और विद्यार्थियों से यही पूछा–उनके विचार में कला क्या है? हमारे बीच कुछ बातचीत हुई जो सच में अद्‌भुत थी। हम स्पष्ट नहीं थे, सन्देह में थे और कला के फैलते संसार को समझ पाने की कोशिश करते हुए उत्तेजित भी महसूस कर रहे थे।

मीर मुख़्तियार अली के मुताबिक, "मेरी कला मेरा जीवन है।" मैंने कहा, "भौतिक विज्ञानी, गणितज्ञ, समाजशास्त्री, इतिहासकार, शिल्पकार–मुझे तो हर कोई कलाकार लगता है; और जाहिर है, परम्परागत अर्थ में कलाकार तो निश्चित ही।" नैन्सी राज ने पूछा, "एक नेत्रहीन बच्चा कला को किस नजरिए से देखता–सोचता है?" फिर, जब एक और मित्र, जिगीशा ने कहा, "रंग कागज में जज्ब हो जाते हैं।", तो उसके शब्दों ने मेरे मन में उत्पाद के तौर पर कला और प्रक्रिया के तौर पर कला के बीच के स्वाभाविक, महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध के विचार को छेड़ दिया, और मैंने खुद से कई प्रश्न किए :

1. कला उत्पाद है या प्रक्रिया?
2. प्रक्रिया कब उत्पाद बन जाती है?
3. और कला का उत्पाद असल में क्या है–कलाकृति या स्वयं कलाकार?

कला की हमारी परिभाषाओं का फैलाव

"मैं चित्र बनाना शुरू करता हूँ, तुम हाथों में आसमान को थामो; क्योंकि मुझे नहीं मालूम कि मेरे कैनवस का विस्तार कितना है।"–एम.एफ़.हुसैन

हम शिक्षक, अभिभावक, कलाकार या दर्शक के तौर पर कलाओं को किस प्रकार परिभाषित करते हैं, इससे तय होता है कि हम उन्हें किस प्रकार अनुभव करते हैं, उनका शिक्षण करते हैं या किस प्रकार अपने दिन–प्रतिदिन के जीवन में उनकी आवश्यकता को वैध ठहराते हैं। बहुत बार हमारे मन में 'उपयुक्त कला', 'अच्छी कला' और 'बुरी कला' के बारे में पहले से बनी–बनाई धारणाएँ होती हैं। इसके अलावा इस बारे में भी हमारी समझ सीमित ही होती है कि कला क्या है। मेहन्दी के डिजाइन बनाना कला है या फिर हमें यथार्थवादी चित्र बनाना चाहिए? क्या फल बेचने वाले द्वारा गाया गया लोक–संगीत कला है या जिसे स्टेज पर प्रदर्शित किया जाता है, बस उसी को कला मानें? क्या शब्द 'कला' में इसके सभी रूप शामिल हैं या इसमें केवल चित्रकला, मूर्तिकला, नृत्य और थियेटर जैसी शास्त्रीय कलाएँ हैं? क्या शिल्प भी कला ही है? इस प्रकार के सामान्य–साधारण लेकिन गहरे–गम्भीर सवाल कलाओं की हमारी समझ का पीछा करते रहते हैं।

अपनी पूर्व धारणाओं को आधार बनाकर हम ऐसा वातावरण निर्मित कर लेते हैं जिसमें कलाएँ फल–फूल नहीं सकतीं क्योंकि इससे पहले कि वे जन्म लें, उन्हें तिरस्कृत कर

दिया जाता है। हमने स्वयं को "कलाकार", "वैज्ञानिक", "भौतिक विज्ञानी", "शिक्षक", "अभिभावक" जैसे खानों में डाल लिया है। जैसे ही हम देखते हैं कि कोई चीज इनमें से किसी खाने में फिट नहीं बैठती, हम उसे किसी न किसी साँचे के अनुकूल बाँधने की पूरी–पूरी कोशिश करते हैं। पिंजरे में फँसे एक हाथी से लेकर कक्षा में चुपचाप बैठे बच्चे तक जो कुछ भी किसी डिब्बे में फिट नहीं आता, वह हमें एक चूक की तरह लगता है। लेकिन क्या यह डिब्बा, यह खाना ही एक चूक नहीं है?

वह सन्तुष्टि न दे या बस सन्तुष्टि ही उसका उद्देश्य बन जाए, तो न कला और न ही विज्ञान फल–फूल सकते हैं। कॉन्स्टेबल का आग्रह था कि चित्रकला एक विज्ञान है और मैं सुझाता हूँ कि विज्ञान एक मानवीयता है। इन्हें विरोध में रखना दोनों को ही गलत समझना और दोनों के लिए हानिकारक है।–नेल्सन गुडमन

सोचो और प्रयोग करो

अलग–अलग किस्म के कागज लें (समाचार–पत्र, इस्तेमाल हो चुका कागज, अलग–अलग दाने और बुनावट का कागज) और उस पर स्याही डाल दें। अगर आपके पास जलरंग या रंगीन स्याही और ब्रश हो तो अलग–अलग मात्रा में पानी मिलाकर देखें और कागज पर पेन्ट करें। यह अभ्यास बच्चों के साथ भी करें।

कुछ प्रश्न जिन पर आप मिलकर विचार कर सकते हैं :

जब कागज रंग सोखता है तो क्या होता है? आप वास्तव में क्या होने की अपेक्षा रखते हैं?

कागज में रंग का सोखा जाना सच में कब बन्द हो जाता है? जब स्याही सूख जाती है या जब कागज पुराना हो जाता है? जब लिखने वाला उस पर लिखता है या जब सिल्वरफिश उसे अपना बना लेती है? जब वह कला की कृति बन जाता है या जब कागज लाखों टुकड़ों में टूटना शुरू हो जाता है? जब उसे फ्रेम किया जाता है या जब उसे देखा जाता है?

हम बच्चों से एक यथार्थवादी चित्र बनाने की, या संगीत के सुरों के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध बनाए बिना उसे दोहराने की आशा रखते हैं तो हम उनसे कलाओं में जज्ब होने की काबिलियत को या कलात्मक विकास से होकर गुजरने की प्रक्रिया को छीन रहे होते हैं। प्रयोग और खोज करने की इजाजत न देकर हम समझ की अन्तर्विषयक प्रकृति से भी बच्चों को दूर रखते हैं। क्योंकि उनसे आशा की जाती है कि एक विषय को समझने के दौरान वे एक ही साँचे में बँधकर रहें। हो सकता है कि कुछ गणितज्ञ बहुत ही कमाल के कलाकार भी हों, लेकिन उन्हें दोनों में से किसी भी विषय की अन्तर्बोध पर आधारित अपनी समझ को जाँचने–खोजने का कोई तरीका नहीं मिल पाता। शिक्षण की प्रक्रिया में हम शायद उनके विकास को रोक रहे होते हैं क्योंकि हम नहीं समझ पाते कि इनमें से किसी भी विषय का उनका बोध किस प्रकार कार्य कर रहा होता है।

अपने स्वत्व की परिभाषाओं को विस्तार देना

अभ्यास, अनुभूति या बोध, और कई कलाएँ–ये सब अन्तर्दृष्टि और समझ हासिल करने के तरीके हैं। यह भोला विचार कि विज्ञान सत्य खोजता है जबकि कला सुन्दरता को खोजती है, कई कारणों से गलत है। विज्ञान तो प्रासंगिक, महत्त्वपूर्ण, आलोकित करने वाले सिद्धान्तों की खोज करता है, वह अकसर मामूली या जरूरत से अधिक जटिल सत्यों की बजाए सशक्त, एकताकारक अनुमानों को महत्त्व देता है। और विज्ञान की ही तरह कला नई संगतियों और परस्परता तथा असंगति और विपरीतता की बातों की एक समझ प्रदान करती है। कला घिसी–पिटी श्रेणियों के पार जाकर जिस संसार में हम जी रहे हैं, उसे नई तरतीब देती है, उसे देखने की नई दृष्टि देती है। – नेल्सन गुडमन

वह चाहे मंच–कला हो या दृश्य–कला, कला उससे पैदा होने वाले उत्पाद से कहीं अधिक कुछ है। कला और कलाकार कलात्मक प्रक्रियाओं से होकर गुजरते हुए बहुत ही सहजता से निरन्तरता के साथ विकसित होते हैं। उनकी इस यात्रा में सूक्ष्म आत्मिक 'स्वत्व' के कई आयामों तथा

संसार के सम्बन्ध में सामाजिक और राजनैतिक 'स्वत्व' की समृद्धि होती है। वाणी और भाषा के तौर पर कलाएँ मानव समाज में व्याप्त होती हैं, और स्वयं के बारे में निर्मित हमारे बोध और अनुभूति के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। आइए, इस निबन्ध में 'स्वत्व' के चार रूपों का चश्मा इस्तेमाल करते हुए देखते हैं कि स्कूल में कलाओं को स्थान मिले, इसके लिए नया तर्क कैसे तैयार किया जा सकता है।

सूक्ष्म स्वत्व

"जीवन के अर्थ की खोज और जीवन में स्वत्व की खोज, बच्चे के जन्म के साथ ही पैदा हो जाती है और बच्चा इसकी इच्छा भी रखता है।"– कार्ला रिनाल्डी

कलाएँ हमारे सूक्ष्म स्वत्व यानी मैं तक पहुँचने का नक्शा प्रदान करती हैं। जब हम कला का अनुभव करते हैं या उसकी रचना करते हैं तो हम कई आन्तरिक यात्राओं की शुरुआत भी करते हैं। कभी–कभी बल खाते, बहते रंग हममें एक विचारशील चुप्पी के तार छेड़ देते हैं। और कभी एक राग, एक स्वर, एक कलाकार की आवाज, नर्तक द्वारा जगह का इस्तेमाल और कला के कई अन्य रूप हमें उन पथों पर ले जाते हैं जहाँ हमें सम्पूर्ण जीवन को अपने घेरे में लेने वाली एक बड़ी आत्मा की अनुगूँज सुनाई देती है। कभी यह भी होता है कि हम माइक्रोस्कोप में से या कैमरे के बड़े लेन्स में से देखते हैं तो यह पूरा संसार हमारे सामने खुल जाता है। हम अचानक 'यथार्थ' से हटा लिए जाते हैं और हमारी चेतना से भी परे मौजूद सूक्ष्म, अबोध्य वास्तविकताएँ और सच्चाइयाँ हमारे सामने होती हैं।

"मैं समुद्र तट पर अकेला था, तस्वीरों की खोज में, कि अचानक वह हुआ। समय और स्थान के आयाम गायब हो गए और मैं धीरे–धीरे अन्तहीन नीले में घुलता चला गया। वह जो मेरे मन और शरीर के तंग खोल में कैद था, हर्षोल्लास के भँवर में, आनन्द के उत्कर्ष के भँवर में, फैंक दिया गया।" – अश्विन मेहता

चुनौती

सूक्ष्म स्वत्व को समझने के लिए अवलोकन, व्याख्या और समानुभूति का प्रयोग।

एक पत्ते को देखना और उसका चित्र बनाना जैसी साधारण गतिविधियाँ एक सूक्ष्म संसार हमारे सामने खोल सकती हैं। यह अभ्यास बच्चे को देते समय उसमें मौजूद स्वाभाविक जिज्ञासा को पोषित करें।

- *कितने नजदीक से पत्ते को देख सकते हैं?*
- *तुम्हारी नंगी आँख कितनी चीजें देख सकती है?*
- *माइक्रोस्कोप के नीचे तुम्हें और क्या दिखाई दे रहा है?*
- *क्या हम एक चींटी की आँख से एक पत्ते को देख सकते हैं?*
- *दोनों के चित्र बनाकर देखते हैं।*
- *जब तुमने पत्ते को देखा तो तुम्हें क्या महसूस हुआ? तुम्हारे विचार से जब तुमने उसे देखा तो पत्ते को कैसा लगा होगा?*

बच्चों की भावनात्मक और बोधात्मक समझ को चुनौती देने वाले खुले प्रश्न उनके दृष्टिकोणों के लिए एक चुनौती होंगे और संसार को समझने और अनुभव करने के नए रास्ते मुहैया करवाएँगे।

इन्सानों के तौर पर हमारे विकास के लिए और खुद में करुणा की खोज कर पाने के लिए यह सूक्ष्म स्वत्व महत्त्वपूर्ण है। यह हमारे लिए मन–मस्तिष्क में जगह बनाने में भी मददगार होता है ताकि हम नए सिरे से कुछ रच पाएँ। तो हम इस सूक्ष्म स्वत्व को कैसे शिक्षित कर सकते हैं? क्या हम सौन्दर्यशास्त्र तथा बोध, दोनों के माध्यम से अपनी कक्षा में ऐसी जगह निकाल सकते हैं जिसके चलते स्वत्व की इस खोज के लिए गुंजाइश बने।

सामाजिक स्वत्व

घास इस धरती में अपनी भीड़ तलाशती है। पेड़ आकाश का एकान्त तलाशता है। – रबीन्द्रनाथ टैगोर

हममें से प्रत्येक, एक साथ, रिश्तों के एक ताने–बाने में हैं। जीवन के दौरान हमारे द्वारा बनाए गए सब रिश्ते जटिल भी हैं और सरल–साधारण भी, फिर वह चाहे अन्य इन्सानों के साथ हों या प्रकृति के साथ, वस्तुओं के साथ हों या फिर अमूर्त विचारों के साथ। हमारे सम्बन्ध एक ही समय पर अनुभूतियों, तर्क, गहरी भावनाओं, खोजों, अभ्यास, सीखने, टकराहटों और फैसलों, सबको अपने घेरे में लेते हैं।

इस सामाजिक स्वत्व के जटिल चित्रपट की लगातार फैलती जागरूकता बच्चों को जीवन के हर मोड़ पर स्वयं को पुन: पाने में मदद कर सकती है।

मिलकर खोजें

सामाजिक स्वत्व को समझने के लिए अमूर्तता, तुलना और अन्तःक्रिया का प्रयोग।

बच्चों से कहें कि अपने आसपास की साधारण वस्तुओं से संगीत रचें। उन्हें बहुत ध्यान से सुनने को कहें। इस ओर ध्यान देने को भी, कि किस प्रकार प्रत्येक स्वर उनके आसपास की चीजों के साथ अन्तःक्रिया में आ रहा है।

उन्हें और ध्वनियाँ रचने के लिए अपने शरीर का प्रयोग करने को कहें। उन्हें इस बात पर विचार करने को प्रोत्साहित करें कि ध्वनियाँ किस प्रकार उनके मन और दिल के साथ अन्तःक्रिया में आती हैं।

जिन पथों से होकर ध्वनियाँ गुजरीं, बोर्ड पर उनका नक्शा खींचें। आयामों, अणुओं और उपमा–अलंकारों की बात करें।

प्रत्येक बच्चे से इस अनुभव को चित्रित करने को या फिर उसके बारे में लिखने को कहें। और फिर हल्के से सुझाया जा सकता है कि वे एक और चित्र यह कल्पना करते हुए बनाएँ कि जितने भी लोगों या जीवों को वे जानते हैं, वे सब ध्वनियाँ हैं। देखें कि किस प्रकार वे रिश्तों के बारे में दिलचस्प सम्बन्ध बनाना शुरू करते हैं, और जीने की खूबसूरत कला के बारे में भी।

राजनीतिक स्वत्व

"नन्हे, इस अन्धेरी रात से न डरो। सत्य और प्रकाश को देखते हुए निडरता से चलो। प्रेम करो, मेरे बच्चे, पूरा दिन हँसो, मगर किसी से उसका गीत न छीनो।" – रस्किन बॉण्ड, रेन इन द माउण्टेनस।

मिलकर रचो

राजनीतिक स्वत्व को समझने के लिए सोच–विचार, करुणा और शोध का प्रयोग।

बच्चों से कहें कि वे मिल–जुलकर एक नाटक लिखें जिसमें उनकी आपस की कुछ भिन्नताओं और कुछ समानताओं को भी ध्यान में रखा गया हो। कल्पना करने को कहें कि वे सब भिन्न–भिन्न जीव हैं और वे एक स्कूल की स्थापना करने के लिए इकट्ठा हुए हैं। वे सब मिलकर कैसा स्कूल बनाएँगे? प्रत्येक टीम को अलग–अलग समस्या पर सोच–विचार करने को कहें। एक टीम वास्तुकला पर काम कर सकती है; दूसरी, शिक्षण विधियों पर; और एक अन्य टीम नीतियों और शासन पर।

बहुत छोटी उम्र के, पहली और दूसरी कक्षा के बच्चों के पास भी, इस प्रकार के विषय पर सादा लेकिन गहरे विचार हो सकते हैं।

प्रत्येक बच्चा अपने लिए निरन्तर एक राजनीतिक पहचान भी बना रहा होता है। लिंग, समुदाय, संस्कृति, धर्म, राष्ट्रीयता, वैश्वीकरण, मीडिया – इन सबके द्वारा बच्चे पर एक राजनीतिक पहचान थोपी जाती है। राजनीतिक पहचान का निर्माण एक कठिन चुनौती है क्योंकि यह इतिहास को तथा भूत, वर्तमान और भविष्य की व्याख्या को भी ध्यान में रखती है। एक पेड़ का चित्र बनाने के सरल–सादा काम पर भी हमारी अचेतन राजनीतिक पहचान के कई तरह के प्रभाव हो सकते हैं। जिन तत्वों से मिलकर उसकी सोच बनी है, उनको ध्यान में रखते हुए बच्चे को कला की विचारशील रचना करने, लिखने या चिन्तन में शामिल करना एक करुणामयी और अर्थपूर्ण राजनीतिक पहचान बनाने के लिए महत्त्वपूर्ण है।

आकाशीय स्वत्व

तेज चलती, नमी भरी हवा में चमेली के फूल अपनी ही गंध में आनन्दित हुए झूल रहे हैं। बादलों में छिपे सितारे गुप्त रूप से रोमांचित हो रहे हैं। मैं भी अपने हृदय को पूरी तरह लबालब अपने ही गहरे आनन्द से भर लूँ।
– रबीन्द्रनाथ टैगोर

क्या हो अगर हमारा स्वत्व हमारे स्वीकार्य विचारों और धारणाओं तक सीमित न हो! क्या हो अगर यह आकाशीय स्वत्व हो? तब इसकी आवाज और ध्वनि कैसी होगी? किन रंगों से यह बना होगा? आकाशीय स्वत्व में आकाश तो बस एक अन्जाने खुले स्थान का रूपक मात्र है। ऐसा आकाशीय स्वत्व एक साहसिक, जोखिम उठाने को तैयार बच्चे को अपनी सम्भावनाएँ खोजने और विकसित होने की छूट देने वाला ताकतवर साथी हो सकता है।

हमारी परिभाषाएँ स्वयं के बारे में हमारे विचारों को सीमित कर देती हैं। 8, 9 और 10 साल के बच्चों के एक समूह ने इस विषय पर लिखने का अभ्यास किया – "अगर मैं मैं हूँ, तो मैं कौन हूँ?" दो हाथ, एक चेहरे, नाक, कानों वाले लड़के या लड़की के रूप में मानव होने तक सीमित न रहकर वे अचानक खुल गए और इस ब्रह्माण्ड जितने ही विस्तृत और चींटी जितने छोटे हो गए–जानवरों की आवाजें निकालने लगे और इस बात से खूब आनन्दित हुए कि वे कितनी अलग–अलग तरह की चीजें हो सकते हैं। सबने पाया कि अगर वे अलग–अलग तरह से महसूस करते हैं तो इसका अर्थ है कि सबके मस्तिष्क भी अलग–अलग ही हैं–इसीलिए अलग–अलग तरह से सोचना भी होगा। अचानक महसूस होने लगा कि हमारे शरीर और हमारे मन कितने लचीले, कितने परिवर्तनीय हैं। यह सब स्वयं के साथ समानुभूति के अभ्यास की तरह था। बच्चे अपने माता–पिता या शिक्षकों को प्रसन्न रखने के, इम्तिहान में अच्छे अंक प्राप्त करने के, एक छोटे से दायरे के भीतर रहते हुए कल्पनाशील और रचनाशील होने के इतने आदी हो जाते हैं कि उनके लिए स्वयं अपने अन्दर तक, अपने स्वत्व तक पहुँचना असम्भव हो जाता है।

नृत्य निर्देशन

आकाशीय स्वत्व को समझने के लिए कल्पना, खाली जगह और खोज का प्रयोग।

बच्चों को सुझाएँ कि वे एक दिन के लिए आकाशीय लोग हो सकते हैं। उन्हें उसी तरह स्कूल में घूमने–फिरने, इकट्ठे मिलकर नाचने, कानाफूसी करने या चिल्लाने को कहें जैसे खुले आकाश के लोग करेंगे।

समूहों में काम किया जाए; प्रत्येक टीम अद्भुत चीजों और ग्रहों की पड़ताल करे, और उन चुनौतियों की भी, जिनके अन्तरिक्ष में सामने आने की सम्भावना हो सकती है – उनके इर्द–गिर्द नाचते हुए, उनके आर–पार, उनके ऊपर या नीचे।

विद्यार्थियों के साथ मिलकर 'आकाशीय स्वत्व' शीर्षक से नृत्य तैयार करें। पूछें कि यह कितना बड़ा है, उसमें कितना कुछ आ सकता है, उसके साथ वे किस प्रकार के संगीत को सम्बद्ध करते हैं और क्यों। इनमें से प्रत्येक खोज उनके मन और शरीर को जीने के एक नए तरीके की ओर ले जाएगी।

"प्रकृति अपने पैटर्न बुनने के लिए लम्बे से लम्बे धागे ही प्रयोग में लाती है और उसकी बनावट का प्रत्येक छोटा टुकड़ा पूरे चित्रपट के गठन को हमारे सामने लाता है।"
– रिचर्ड पी.फाइनमैन

प्रत्येक बच्चा मानवता के एक रहस्य को उद्घाटित करता है। प्रत्येक बच्चे को यूँ पोषित–शिक्षित कर पाना (जिससे यह देखा जा सके कि वह किस प्रकार जीवन के इस शानदार चित्रपट को उद्घाटित करता या करती है) शिक्षकों, अभिभावकों और स्कूलों के सामने यही चुनौती है। कलाओं में कई रणनीतियाँ, नजरिए, विचार और पथ बच्चे को इस बात तक स्वयं पहुँच पाने में मददगार हो सकते हैं। लेकिन ये खोज हो पाए, इसके लिए कलाओं के प्रति हमारा दृष्टिकोण एक स्तर पर अन्तर्विषयक प्रकृति का होना

होगा। दूसरी ओर हमें यह भी देखना–समझना होगा कि कलात्मक प्रक्रियाओं की प्रकृति भी बोधात्मक होती है। वे हमारी सोच को चुनौती देती हैं, उसे पोषित करती हैं और हमें कई आयामों में विकसित होने में मददगार होती हैं। अगर हम आकलन, रोजगार और सफलता के सीमित संसारों से आगे निकल जाएँ तो ऐसे कला–कार्यक्रम रचने के लिए तैयार होंगे जो प्रत्येक बच्चे की पहचान में क्रान्तिकारी बदलाव ला पाएँगे।

मैं आपके लिए सोचने को कुछ सवाल छोड़ रही हूँ:

1. कला क्या है?
2. कला उत्पाद है या प्रक्रिया?
3. प्रक्रिया कब उत्पाद बनती है?
4. और कला का उत्पाद सच में क्या है – कलाकृति या स्वयं कलाकार?

श्रीवि *शिक्षक, लेखक, डिजाइनर, इलस्ट्रेटर हैं। वे बच्चों और वयस्कों की पुस्तकों और कहानियों की लेखक, सह–लेखक और इलस्ट्रेटर रही हैं। श्रीवि सीखने के अर्थपूर्ण अनुभवों के निर्माण के लिए शिक्षा में कला का प्रयोग करती हैं। वे Foon-iferse Arts Pvt. Ltd. (www.fooniferse.com) की संस्थापक निदेशक हैं। उनके कार्य को www.sriviliveshere.com पर देखा जा सकता है। उनसे srivikalyan@fooniferse.com पर सम्पर्क कर सकते हैं।* ***अनुवाद*** *: रमणीक मोहन*

05 बच्चों के विकास में कलाओं की भूमिका

दीपशिखा खैतान

एक आम–साधारण इन्सान के लिए कला का अर्थ है एक पत्रिका में तसवीर या पोस्टर या कैनवस। लेकिन यह तो बस एक चित्र या आकृति है, असल में कला इससे बहुत अधिक कुछ है।

कला क्या है?

कला बहुइन्द्रीय आयाम को शामिल करता हुआ एक सम्पूर्ण सदृश्य अनुभव है। अपनी समझ और सुविधा के लिए अगर इसे इसमें शामिल विभिन्न इन्द्रियों में विभाजित कर लें तो हम निम्नलिखित अनुभवों की बात कर रहे होंगे:

1. आँखों के माध्यम से देखने का अनुभव।
2. देखे हुए को फिर से प्रस्तुत करने के लिए आवश्यक हाथ और आँख के यांत्रिक सामंजस्य का अनुभव।
3. बोधात्मक अनुभव जिसके चलते हम इस छवि को टुकड़ों में बाँटकर वस्तु के रूप, आकार, रंग, विषय को समझ पाते हैं।
4. एक चित्र को देखकर होने वाली व्यक्तिगत प्रतिक्रिया का भावनात्मक अनुभव–और इसी से हम एक उत्कृष्ट चित्र को मामूली चित्र से अलग करके देख पाते हैं। जब सामूहिक स्तर पर एक कृति के प्रति सबकी प्रतिक्रिया एक–सी होती है तब वह "मोनालिसा" बन जाती है।

कला में मेरी दिलचस्पी 1995 से है जब मैंने पहली बार औपचारिक तौर पर इसे विषय के रूप में पढ़ना शुरू किया। तब आइ.सी.एस.ई. परीक्षाओं में बैठने के लिए कला को एक विषय के रूप में चुनने का विकल्प दिया गया था।

स्कूली शिक्षा पूरी करने के बाद मैंने कला में अपनी दिलचस्पी बनाए रखी। मैंने स्टेला मारिस कॉलेज, चैन्नई के ललित कला विभाग में दाखिला लिया जहाँ से मैंने हिस्ट्री ऑफ आर्ट, ड्राइंग एण्ड पेन्टिंग विषय के ऑनर्स पाठ्यक्रम की स्नातक परीक्षा उत्तीर्ण की।

विवाह के बाद मैं कोलकाता आ गई और जल्दी ही मैंने बच्चों को कला सिखाना शुरू कर दिया। शिक्षण का काम करना पहले से सुविचारित योजना का हिस्सा नहीं था, बल्कि यह तो संयोगवश हो गया। मुझे याद है, जब कुछ मित्रों ने दीवारों पर टंगी मेरी बनाई कलाकृतियाँ देखीं तो उन्होंने जोर देकर कहा कि मुझे शिक्षण कार्य करना चाहिए–सम्भवत: उनके बच्चों को पढ़ाने से इसकी शुरुआत हो सकती है। मैं इसके लिए तैयार नहीं थी, बल्कि इस बात का काफी विरोध किया मगर अन्त में मान गई। शुरुआत में मुझे बहुत घबराहट महसूस हुई लेकिन बच्चों की प्रतिक्रिया ने मुझे हैरान कर दिया और खुश भी।

कला रचनात्मकता और विचार को बढ़ावा देती है: बच्चे स्वाभाविक तौर पर ग्रहणशील और संवेदनशील होते हैं। जब उनका ध्यान किसी विवरण की ओर दिलाया जाता है और उत्प्रेरकों के सम्पर्क में लाया जाता है तो वे उन्हें उसी रूप में पुन: रच पाते हैं जिस रूप में उन्हें देखते हैं।

युवा कला के अपने काम की उपलब्धियों को देखकर आत्मविश्वास हासिल करते हैं और प्रसन्न भी होते हैं।

उदाहरण के लिए, कुछ अरसा हुआ हम कक्षा में विश्वस्तर पर मौजूद बेचैनी और आतंक की बात कर रहे थे। बच्चों ने चित्रकला के माध्यम से अपनी भावनाएँ व्यक्त कीं। उनकी कृतियाँ विचारोत्तेजक और प्रत्येक की व्यक्तिगत छाप छोड़ने वाली थीं।

इसी प्रकार बच्चों ने एक पेशेवर कत्थक नृत्यांगना को देखकर उनका चित्र बनाया।

यहाँ पर दी गई कृतियों में स्पष्ट तौर पर झलक रहा है कि किस प्रकार प्रारम्भिक उत्प्रेरण के बाद बच्चों की रचनात्मकता बह निकली और एक विषय को विकसित करने की क्षमता भी इनमें प्रदर्शित हो रही है।

मैं रंग के इस्तेमाल की बात भी रखना चाहूँगी। शुरुआती उम्र से ही बच्चे विभिन्न रंगों को विभिन्न भावनाओं के साथ सम्बद्ध करने लग जाते हैं। मसलन, लाल को क्रोध के साथ, सफेद को शान्ति के साथ, पीले और नारंगी रंगों को गरमियों के साथ और नीले तथा हरे रंग सर्दी के मौसम के साथ। उनमें सह–सम्बन्ध स्थापित करने की क्षमता विकसित होती है।

कला अकसर युवा कल्पना के लिए एक उत्प्रेरक का काम करती है। हम तो चित्रकार और लेखक के बीच अन्तर करते हैं। लेकिन बच्चे बहुत बार एक चित्र को पूरा करने के लिए अपनी ही एक कहानी गढ़ लेते हैं: "यह छोटी बच्ची अपनी माँ का इन्तजार कर रही होगी.... शायद उसका चेहरा चिन्तित इसलिए दिख रहा है कि क्योंकि वह खतरा देख पा रहा है...।."

छोटे बच्चों को अपनी ही कल्पना का कोई पात्र या जानवर रचने में, उसे नाम देने में, जहाँ तक सम्भव हो उसे यथार्थवादी बनाने में, आनन्द आता है।

अचेतन मन को काम में लाया जाता है। मशहूर अतियथार्थवादी कलाकारों की रचनाओं का अध्ययन करने के बाद बच्चों ने मानव स्वभाव की अतियों, उसके छोरों को दर्शाया, उनका प्रतिनिधित्व किया। अकसर बच्चों को अपने स्वप्न याद करना और उन्हें कागज पर लाने में मजा आता है।

कला गति को कैद करती है। इसका एक मुख्य उदाहरण फिल्मों में देखने को मिलता है। शुरू में चित्रांकन होता था और फिर पिक्चरों को गति में लाया जाता था। इसी प्रकार बच्चों को कैनवस पर हवा को कैद करने को कहा गया और इस प्रकार उनमें देखने के साथ–साथ महसूस करने का एहसास भी जागा।

शिक्षक के तौर पर मेरे अनुभव को ध्यान में रखते हुए मैं कुछ तकनीकें और मशवरे साझा करना चाहूँगी जो मैंने बच्चों के साथ उनके चित्रों की प्रदर्शनी 'कलर्स ऑफ इनोसेन्स' के दौरान अपनाए।

मेरी कक्षाएँ इस विचार के साथ चलाई जाती हैं कि बच्चों को अपनी मन–मर्जी करने दी जाए। कुछ दिशानिर्देश दिए जा सकते हैं जिनका मकसद बस यह हो कि बच्चों को प्रभावशाली रचना करने में मदद मिल पाए।

उन्हें स्वयं सोचने–विचारने को कहा जाता है, नकल करने को नहीं। कला के पुराने उस्तादों का अध्ययन किया जाता है और उनके विषय की बजाए उनकी तकनीकों का अनुकरण करने को प्रोत्साहित किया जाता है।

समूह कार्य के साथ–साथ कल्पना की शुरुआत की जाती है।

उदाहरण के लिए, हमारी एक पाठ–योजना में बच्चों ने काल्पनिक पात्र रचे और उनके चित्र बनाए। वे इससे एक कदम आगे तक गए और उन्होंने अपने पात्रों की ही तरह कपड़े भी पहने। बाद में इन काल्पनिक पात्रों पर आधारित कहानी बनाकर उसे नाटक के रूप में खेला।

इसके साथ ही उन्हें अन्य कलाकारों की कलाकृतियाँ दिखाई जाती हैं: पुस्तकों, इंटरनेट या प्रदर्शनियों के माध्यम से। उन्हें इन सबसे विचार लेकर अपने काम में प्रयोग करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है।

उन्हें प्रेरित किया जाता है कि कक्षा में या बाहर जो कुछ भी अच्छा लगा उसका रेखाचित्र बना लें या उसके बारे में कुछ लिख लें।

सीखने का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष अपनी रचना की समीक्षा करना भी है। बच्चों को अपने किए काम के बारे में बात करने को कहा जाता है–उसमें उन्होंने क्या दिखाया है, उसके पीछे के विचार क्या हैं, उनके द्वारा किया गया रंगों का प्रयोग कैसा है। यह एक तरह का खुला मंच होता है जिसमें कोई भी बच्चा बेहतरी के लिए सुझाव दे सकता है या जो अच्छा लगा उसकी सराहना कर सकता है।

तीन साल के बच्चे द्वारा बनाया गया गर्म दिन का एक चित्र

इस लेख के सब पाठकों को मेरी सलाह है कि वे एक बात का ध्यान रखें – सृजनात्मकता को पोषित किया जाना चाहिए; उसे संचालित नहीं किया जाना चाहिए बल्कि विकसित होने की छूट मिलनी चाहिए। रेखाचित्र बनाने या चित्रकारी का कोई भी पूर्ण रूप से सही तरीका नहीं है और मार्गदर्शक के तौर पर हमारा उद्देश्य होना चाहिए कि प्रत्येक बच्चा अपनी व्यक्तिगत शैली बना सके, वह अपनी कला के बारे में ही नहीं, स्वयं अपने बारे में भी आत्मविश्वास में रहे। यह आत्मविश्वास तब ही आ सकता है जब उन्हें किसी प्रकार की डाँट–फटकार का डर न हो, और वे रंगों, माध्यम और विषय के चयन के बारे में स्वयं निर्णय भी ले रहे हों।

बच्चों के दिन–प्रतिदिन के जीवन में कला की भूमिका को और अधिक समझने के लिए आइए देखें कि कुछ माता–पिता का क्या कहना है। मैं आठ साल की एक बच्ची की माँ, श्रीमती संगीता गुप्ता की बात को उद्धृत करना चाहूँगी:

"हम मात्र दो साल के बच्चे के हाथ में चाक–बत्ती थमा देते हैं। मेरे ख्याल में छोटी उम्र में ही औपचारिक कला–कक्षाओं का बच्चों के विकास पर सकारात्मक और लम्बे दौर तक रहने वाला प्रभाव पड़ता है। मेरी बच्ची ने चार–पाँच साल की उम्र में दीपशिखा की कला–कक्षाओं में जाना शुरू किया था और आज जब वह आठ साल से ऊपर की हो चुकी है, मैं उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर इन कला–कक्षाओं की छाप साफ तौर पर देख सकती हूँ।

उसके लिए किसी भी चीज का चित्र बनाना एक स्वाभाविक गतिविधि है। उसमें त्रुटिहीन सम्पूर्णता चाहे न हो, उसके ब्रश के स्ट्रोक आत्मविश्वास से भरे होते हैं, और वह कुछ भी बनाने के लिए हरदम तैयार रहती है। वह इंटरनेट से तस्वीरें डाउनलोड करके चिपकाने की बजाए स्वयं चित्र बनाना पसन्द करती है।

बहुत ही दक्षता से उसमें विचारों की स्वतंत्रता भी पोषित की गई है। यह बात उसके बनाए चित्रों में ही नहीं झलकती, जो कभी एक से नहीं होते, बल्कि अपनी उम्र के मुताबिक निर्णय लेने की प्रक्रिया में भी जाहिर होती है।

एक और स्थायी बात जो मैंने उसमें देखी है, वह है रंगों का प्रभाव और छाप। वह चित्रों में ही नहीं बल्कि अपने पहनावे में, अपने लिए चुनी गई अन्य चीजों में भी रंगों के बारे में बहुत आत्मविश्वासी और सहज है।

***'कला' के माध्यम से मेरी बेटी का ढलना एक निरन्तर स्थायी प्रक्रिया है,** और उसकी कला–अध्यापिका के तौर पर दीपशिखा की इसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका है।"*

एक अन्य अभिभावक श्रीमती नीतिका स्वरूप का कहना है:

"एक बच्ची जो कुछ भी बनाना नहीं चाहती थी अब रेखाचित्र बनाना, रंग भरना पसन्द करती है। चित्रों की भाषा अब उसके रोज के जीवन का हिस्सा बन गई है। एक पक्षी के रंग की सुन्दरता, बगीचे के फूल, यहाँ तक कि किसी इमारत का ढाँचा मेरी बेटी का जैसे हिस्सा ही बन गए हैं। आज के जानकारी प्रधान युग में सृजनात्मकता का अत्यधिक महत्त्व है–प्रेरित और उत्साहित होना लाजिमी है और मैंने यह सब सिद्धिका के अस्तित्व का हिस्सा बनते देखा है।"

व्यवहार में आने वाले कुछ परिवर्तनों की ओर मैं इशारा करना चाहूँगी। कई बार बच्चे अपने खोल में से निकल आते हैं; जो बहुत ही शर्मीले होते हैं वे बोलने लगते हैं और कक्षा में अपनी कला के बारे में चर्चा भी करते हैं। इसके अलावा नए विचारों के मुताबिक खुद को ढालने का खुलापन और पहले के बने–बनाए विचारों से बाहर निकलने की भी उत्प्रेरणा मिलती है।

मैं इस लेख को कन्फयूशियस के इन शब्दों के साथ समाप्त करना चाहूँगी, जो इन्सान के जीवन में कला की भूमिका की सबसे बेहतर व्याख्या कहे जा सकते हैं :

"मैं सुनता हूँ, भूल जाता हूँ।
मैं जो देखता हूँ, याद रखता हूँ।
मैं करता हूँ, समझ जाता हूँ।"

***दीपशिखा खैतान** कार्यरत कलाकार हैं। कोलकाता में रहती हैं। वे कला को समझने में बच्चों की मदद करती हैं और उनमें उसके इतिहास की समझ भी बनाती हैं। उनके विद्यार्थियों की पहली प्रदर्शनी 'कलर्स ऑफ इनोसेन्स' को बहुत सराहा गया। पुस्तकों के आवरण डिजाइन करना उनकी रुचि है। उनके बनाए आवरण वाली नवीनतम पुस्तक 'ब्रिजिज़' शीर्षक से शिवसंकरी द्वारा प्रकाशित की गई। उनसे khaitandk@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है।*
***अनुवादः** रमणीक मोहन*

मेरा परिप्रेक्ष्य

एन. आर. प्रदीप
पेशेवर कलाकार और
ओकट्री इण्टरनैशनल स्कूल, कोलकाता में
दृश्य कला शिक्षक
ई–मेल: pradeepnr@gmail.com

कला में रुचि जगा पाने की मेरी खास, अलहदा विशेषता और पहचान इस सरल–साधारण समझदारी पर टिकी है कि आपके भीतर उतनी ही अच्छी कला है जितनी कि आपके आसपास। मेरा तरीका विद्यार्थी में कला की प्रक्रिया के मूल्यों और नैतिकता की समझ बनाने का, उनके लिए आदर उत्पन्न करने का तथा उनका अनुभव करवाने का और इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को एक उत्पाद के रूप तक ले जाने का है। कच्ची उम्र के बच्चों के साथ कला की शुरुआत का सबसे बेहतर तरीका रेत से चीजें बनाने की कला या आसपास पड़े कबाड़ से कोलाज बनाने का है। मैंने पाया है कि इस गतिविधि के माध्यम से कला में दिलचस्पी लेने वाले छोटी उम्र के विद्यार्थियों के मन–मस्तिष्क पर जबरदस्त सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। अपने आसपास मौजूद चीजों का प्रयोग करते हुए, नवाचार और रचनात्मक अभिव्यक्ति करने में वे बहुत उमंग में रहते हैं। इससे उन्हें अपनी रचनात्मकता में बेहतरी लाने में मदद मिलती है और उनमें यह एहसास भी जागता है कि कला की अभिव्यक्ति के लिए किन्हीं विशेष साधनों का होना जरूरी नहीं है।

एक और महत्त्वपूर्ण पक्ष है उन्हें आजादी देने का। कला को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के बिना परिभाषित नहीं किया जा सकता। मैं एक कलाकार के मन को दिशा देना पसन्द करता हूँ न कि उसके विचारों के प्रवाह को सीमा में बाँधना और उसके लिए कोई क्षितिज–रेखा तय करना। मैं विभिन्न माध्यमों और शैलियों में सीखने–सिखाने को प्रोत्साहित करता हूँ। यह प्रोत्साहन भी देता हूँ कि प्रत्येक विद्यार्थी मेरे किसी पूर्वाग्रह से प्रभावित हुए बिना सीखते, समझते, अभ्यास करते हुए अपनी व्यक्तिगत शैली और पहचान बना पाए। अभ्यास व्यक्तिगत स्तर पर तो होता ही है, सामूहिक स्तर पर भी करवाया जाता है ताकि सहयोगी भावना से काम करना और विचारों का आदान–प्रदान भी हो पाए।

मुझे इस बात का गर्व है कि मेरी छात्रा, दक्षिणी कोरिया की किम जिन मू ने कला को एक पेशे के तौर पर चुना है।

कला आपको अवलोकन, चिन्तन, विचार करना, खोजना, रचना और किसी मुद्दे पर विचार व्यक्त करना सिखाती है। इससे युवा मन इस रूप में विकसित होता है कि वह अपने व्यक्तिगत और पेशेवर जीवन में तकनीकी, विश्लेषणात्मक और मानसिक चुनौतियों का सामना करने के लिए तैयार रहेगा। ये गुण जीवन या पेशे के किसी भी क्षेत्र में आवश्यक हैं। इस सबके चलते कला में शिक्षित लोगों के लिए सीखना आसान और रुचिकर हो जाता है। कला आपको चीजों को एक अलग ढंग से देखना भी सिखाती है और अपनी सोच को नए आयाम देना भी। इससे समस्याओं को रचनात्मक तरीके से समझने और उनसे निपटने में मदद मिलती है – और यह गुण हर किसी के जीवन के लिए जरूरी है। मेरे विचार से कला को पाठ्यचर्या में एक गम्भीर विषय के रूप में शामिल किया जाना चाहिए ताकि विद्यार्थी कल के बेहतर इन्सान बन पाएँ।

अनुवाद: रमणीक मोहन

06 रोजमर्रा जीवन में सौन्दर्यानुभूति

तरित भट्टाचार्जी

कलाकृतियों की रचना के लिए रोजमर्रा की, आमतौर पर उपलब्ध सामग्री को प्रयोग में लाने के विचार का शिक्षा पर जबरदस्त प्रभाव पड़ता है।

"उत्तर–पूर्व के एक दूर–दराज गाँव के पूर्वी आसमान में प्रकाश, मेरी एक सजीव याद है। याद सर्दियों की एक अनजानी, ओस भरी भोर की जिसमें ओस की बूँदें यूँ लग रही थीं मानो मोती जड़े हों। पुरानी यादों की एक लहर मुझ पर से हो गुजरती है और आँगन के एक कोने में पड़े सूखी घास के गट्ठर की तस्वीर मेरी आँखों के सामने उभरती है। पथ में पास–पास खड़ी कुछ झोपड़ियाँ, जीवन्त ऋतुओं के साथ हर तीन महीनों में बदलता, एक नया रूप लेता आसपास का सम्पूर्ण परिदृश्य। सभी दृश्य पुरानी यादों से तरबतर। धान के खेतों के आसपास हरे, गेरुए और भूरे रंगों की आभा बिखेरते तालाब, आम और खजूर के पेड़ों के झुण्ड। मेरी नजर दूर क्षितिज से पार तक जाती है और मेरी आँखें एक अनजाने परिप्रेक्ष्य में आ टिकती हैं।"

गाँव के लोगों का अपना सशक्त सौन्दर्यबोध होता है और यह उनके जीवन का मानो एक प्राकृतिक, स्वाभाविक हिस्सा है। रोज, सुबह की पहली किरण से गोधूली के वक्त तक, एक पूरी पीढ़ी के लोग पर्याप्त प्राकृतिक संसाधनों के साथ बड़े होते हैं। इस सन्दर्भ के लिए आवश्यक दक्षताएँ, कारीगरी और सृजनात्मकता का होना उनके लिए एक स्वाभाविक प्रवृत्ति की तरह है। इस यात्रा में सम्भवत: प्रत्येक पीढ़ी इन रोजमर्रा संसाधनों से अपने तौर–तरीके और साधन खोज सकती है।

पुरानी पीढ़ियों ने आन्तरिक और बाह्य के बीच रिश्ता बनाया, दक्षताओं और सामग्री को एकीकृत किया, झोपड़ियाँ बनाईं, औजार गढ़े, अक्लमन्दी से कारीगरी का काम किया और चिकनी मिट्टी जैसे बहुतायत में उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों को प्रयोग में लाए। मानव की यात्रा पत्थरों, मिट्टी और टहनियों को हाथ में लेने से प्रारम्भ हुई। उसने इन्हें रूप–आकार दिया, डिजाइन बनाए। सदियों बाद पहिये की ईजाद कई पीढ़ियों के बीच से होकर गुजरी। फिर औद्योगिकीकरण अपने साथ सुख–आराम लाया। आराम की इस अवस्था में इन्सान ने मेहनत करने की अपनी क्षमता को धीरे–धीरे पीछे छोड़ दिया, 'हाथ से काम करने' की आदत भी पीछे छूट गई। एक नई पीढ़ी उभरकर आई, एक नई भाषा की शुरुआत हुई और इस पीढ़ी ने अपने सुख,सुविधा,आराम का दायरा खोजना शुरू कर दिया, वह दायरा जिसमें वह सहज महसूस करता हो। प्रौद्योगिकी ने तकनीकी विशेषज्ञों की एक नई पीढ़ी को जन्म दिया और जैसे–जैसे दुनिया की रफ्तार तेज से तेजतर होती गई, इन्सान प्रौद्योगिकी का शिकार बनता चला गया; उसने

अपनी बुद्धि खो दी, चालाक हो गया और चालें चलने लगा। तत्पश्चात प्रौद्योगिकी ने हमारे अन्तस में भी जगह बना ली और उसने हमारे अन्दर और बाहर की दुनिया में सामंजस्य बैठा पाना भी मुश्किल कर दिया।

हमारे अन्दर और बाहर के एकीकरण, उनमें सामंजस्य के लिए जरूरी है कि प्रकृति और उसके संसाधनों के अवलोकन की तीव्र इच्छा और एक नवाचारी सतर्कता हो : इसी के चलते विधियों और सामग्री के सामंजस्य और एकीकरण में भी मदद मिलेगी। प्राकृतिक संसाधनों और अत्यधिक कचरे के चलते चीजों को पुन: प्रयोग में लाने का व्यापक भाव पैदा हो सकता है और उपयोग की भावना भी।

किसी बात की स्वीकृति न होना या अपनी मन–मर्जी से उसे रद्द किया जाना किसी भी परम्परा या व्यवस्था के लिए सामान्य बात है। सम्बन्धों में अस्वीकृति की एक अहम भूमिका रहती है। अपने दिन–प्रतिदिन के जीवन में हम अपने बिल्कुल आसपास की बहुत सी लाभकारी चीजों का परित्याग करते हैं।

वक्त की जरूरत यह है कि हमारी शिक्षा व्यवस्था अक्लमन्दी से समावेश को गले लगाए न कि बहिष्कार या वर्जना को। आने वाली पीढ़ियाँ शायद एक नए परिप्रेक्ष्य को देख पाएँ– अस्वीकार हिंसा की एक धीमी प्रक्रिया है, और यहीं से शुरू होती है।

मैं उत्तर–पूर्व भारत के ग्रामीण इलाकों में बड़ा होने का अपना अनुभव साझा करना चाहूँगा। इससे मिलता–जुलता परिवेश कहीं भी पाया जा सकता है। उदाहरण के तौर पर जब आप अपने आसपास के परिवेश में से होकर निकलते हैं तो आपको कई त्यागी हुई चीजें मिलेंगी – मसलन, नारियल का खोल और इसे एक मुखौटे का रूप दिया जा सकता है। इसी प्रकार आसपास पड़े करकट से कुछ भी बनाया जा सकता है। हमारे पर्यावरण–परिवेश में बहुत कुछ ऐसा है जिसे हम 'रोजमर्रा सामग्री' कह सकते हैं।

हमारे आसपास बहुत संसाधन उपलब्ध हैं – उदाहरण के लिए चिकनी मिट्टी को हाथों के तालमेल से रूप–आकार दिया जा सकता है – और यह एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है। हाथ बहुत ही सहज–स्वाभाविक तरीके से किसी भी चीज को रूप–आकार देता है और डिजाइन रचता है। चिकनी मिट्टी को हाथ में पकड़ना हमारी इन्द्रियों में स्पर्श का एहसास जगाता है। यह सम्पूर्ण अनुभव स्वाभाविक एहसास और स्पर्श का है और हम कह सकते हैं कि यह

रोमांचित कर देने वाला अनुभव है। ऐसा ही एक और अनुभव है सूखी घास को बाँधने और आकृतियाँ रचने का अनुभव। इन अनुभवों के माध्यम से विधियों और सामग्रियों को एकीकृत करना, उनमें सामंजस्य बैठाना सीखा जा सकता है।

चिकनी मिट्टी, कीचड़, पत्थर, पुराने अखबार, कार्डबोर्ड,

बक्से, नारियल के खोल, लकड़ी का बुरादा, खाली बोतलें – ये सब बहुत संख्या में हमारे दैनिक जीवन के दौरान उपलब्ध रहते हैं। हम जानते ही हैं कि प्लास्टिक ने हमारे पर्यावरण के साथ बहुत बड़े पैमाने पर खिलवाड़ किया है, क्योंकि वह स्वाभाविक तरीके से विघटनशील नहीं है। एक बार इस्तेमाल में आ जाने के बाद हम उसे पुन: प्रयोग में नहीं लाते, और यूँ ही फैंक देते हैं, अपने आसपास के कूड़े–कचरे में इजाफा करते हैं। इस प्लास्टिक का पुन: प्रयोग किया जा सकता है, तो क्यों न अलग ढंग से ऐसा किया जाए? मुखौटे काटना, उन्हें इन प्लास्टिक बैग्स में रखना और उन्हें काली या गहरे रंग की किसी पृष्ठभूमि में प्रदर्शित करना – यह ऐसा ही एक तरीका है।

सौन्दर्यानुभूति और रचनात्मक व्यवस्था की खोज दिन–प्रतिदिन के जीवन में एक अन्तर ला देती है। इसके लिए जरूरत है अवलोकन की एक सशक्त भावना और सतर्कता की। साथ ही चाहिए सृजन की अन्त:प्रेरणा और उसका अन्तर्बोध, जिसकी वजह से हम अपने आसपास उपलब्ध संसाधनों को रूप–आकार दे पाते हैं।

साँझ के तारे के बाद बादलों की गरज और आम के पेड़ों के झुरमुट के आसपास घूमते, आमों के साथ–साथ टहनियाँ इकट्ठा करते हुए लोग – यह मेरे बड़े होने के दिनों की यादें हैं। आमों के कुंज से प्राप्त इन खजानों से वहाँ के ये मूल निवासी गारे की दीवारों पर लटकती हुई एकरेखीय मूर्तिकला के नमूने प्रस्तुत करते थे – जिनमें सौन्दर्यानभूति के शानदार भाव झलकते थे और जो कारीगरी से भी कहीं आगे का एक अनुभव था।

हमारे अन्दर एक ऐसी शान्ति है जो लाखों साल पीछे तक जाती है। इन्सान ने अपना सफर जंगली घास के बीच से शुरू किया था। इस आदिमकाल ने अभी भी हमारे मानव अस्तित्व के अन्तस में कहीं अपनी जगह बना रखी है, वह हममें अब भी मौजूद है। यह बुद्धि और विवेक हमें इस यात्रा को पैने अवलोकन के साथ जारी रखने में मदद करता है। बहुत मुमकिन है कि इस बुद्धि के साथ हम अपने आसपास की प्रकृति और उसके संसाधनों की जाँच और खोजकर सकें और हमेशा प्रौद्योगिकी पर आश्रित न रहें।

एक व्यवस्था ऐसे ज्ञानार्जन के लिए सृजनात्मक और नवाचारी जगह की छानबीन और खोज कर सकती है जो मूल रूप से स्वयं सीखने पर आधारित हो। अवलोकन के लिए जगह बनाने और आसपास के संसाधनों से रूप–आकार देने के लिए आप सूखी घास को बाँधकर खिलौने बना सकते हैं या नारियल के खोलों से मुखौटे। आसानी से उपलब्ध अखबारों का भी प्रयोग किया जा सकता है; एक बोतल के पात्र से मूर्तिकला के आयामों की पड़ताल हो सकती है; और कार्डबोर्ड शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों को एकीकृत कर सकता है। सौन्दर्यानुभूति मूल रूप से शिक्षा में हमारे रचनात्मक पालन–पोषण का एक अभिन्न अंग है।

पुराने समय से भारत में एक बच्चा आमतौर पर एक सशक्त मौखिक परम्परा तथा धार्मिक और सामाजिक उत्सवों के दायरे में बड़ा होता है, जो मूलत: रंग–बिरंगी छटा लिए होते हैं और सृजनात्मक विकास और प्रगति पर जिनका

जबरदस्त प्रभाव पड़ता है। यह माहौल एक कभी न खत्म होने वाली यात्रा का हिस्सा है।

कोशिश की जा सकती है कि हमारे पर्यावरण में उपलब्ध कुछ विशेष वस्तुओं को संसाधन के तौर पर इस्तेमाल करने की क्या सम्भावना है, इसे देखा–समझा जाए। रोजमर्रा की सामग्री को कलाकृतियाँ बनाने के लिए प्रयोग में लाने की अवधारणा का शिक्षा पर सशक्त प्रभाव पड़ता है। त्याग दी गई वस्तुओं को नए उत्पाद के तौर पर प्रयोग करने के लिए, उनके पुन:निर्माण की प्रक्रिया को सकारात्मक तरीके से प्रयोग में लाने के लिए, एक जागरूक कोशिश की जरूरत रहती है; कचरे को इस्तेमाल करने की किफायत सम्पूर्णता में दैनिक जीवन की सौन्दर्यशास्त्रीय समझ की ओर ले जाती है – इतना ही नहीं, व्यावहारिकता में यथार्थ से जुड़े होने के भाव, एक खास किस्म की निश्छलता, स्वत: स्फूर्त प्रवृत्ति तथा ऊर्जा, और शायद सच्ची समझ और बुद्धि की ओर ले जाती है।

इन्सान ने हमेशा स्मृति को खोजने–छानने की कोशिश की है। उसे वस्तु और यथार्थ के बीच सम्बन्ध बनाने वाले साधन–संसाधन के तौर पर प्रयोग में लाने की कोशिश भी की है। उदाहरण के लिए एक छोटी नदी के किनारे किसी खेत में खड़ा बिजूका एक ऐसा दृश्य बनाता है जिससे क्षितिज के पार तक का व्यापक फलक हमारे सामने आता है ।

मेरी याद फिर से एक अनजानी भोर की ओर जाती है, एक आँगन में पड़े सूखी घास के गट्ठड़ का सजीव हिस्सा – एक प्रेरणा, ऊर्जा, एक यात्रा जो अब भी जारी है।

तरित भट्टाचार्जी *एक चित्रकार, प्रिन्ट निर्माता और कला शिक्षक हैं। उन्होंने कला में अपनी शिक्षा कलाभवन, शान्तिनिकेतन से प्राप्त की। वर्तमान में वे* ***द स्कूल, कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन ऑफ इण्डिया, चैन्नई*** *में आर्ट और डिजाइन का शिक्षण कर रहे हैं। वे दैनिक जीवन में उपलब्ध संसाधनों से विभिन्न तरह की सामग्री और विधियों की खोज–पड़ताल करते रहे हैं। उनके रेखाचित्रों, प्रिन्टों और चित्रकला के विषय मूल रूप से आम आदमी के परिवेश और वातावरण तथा दैनिक जीवन से आते हैं। उनकी रचनात्मक यात्रा में एक बच्चे की स्वाभाविक, स्वत:स्फूर्त प्रवृत्ति हमेशा से एक प्रेरणा रही है। उनसे tarit.mrittika@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है।* ***अनुवाद:*** *रमणीक मोहन*

07

भारत के "चोटी" के स्कूलों में शिक्षा में कला

, d x.kokUkk f'k{kk vè;;u

वैजयन्ती शंकर
अर्चना द्विवेदी

विश्व भर की शिक्षा नीतियों ने लगभग हमेशा ही विद्यार्थियों को गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्रदान करने में सह–शैक्षिक क्षेत्रों जैसे कि कला एवं खेल आदि का मूल्य पहचाना है। लेकिन अच्छी शिक्षा एवं गुणवत्तापूर्ण अधिगम का वातावरण किन चीजों से गठित होता है? एक दृष्टिकोण मुख्य विषयों में प्राप्त अंकों पर केन्द्रित है तो दूसरा तात्कालिक मापनीय परिणामों पर। एक अन्य दृष्टिकोण भी है–अच्छे शैक्षिक अनुभव के निर्माण के लिए स्कूल की "क्षमता"।

अन्तरराष्ट्रीय संगठनों जैसे कि यूनेस्को, यूनिसेफ तथा एशियन डेवलेपमेंट बैंक द्वारा प्रस्तावित गुणवत्तापूर्ण शिक्षा रूपरेखाएँ आमतौर पर गुणवत्तापूर्ण शिक्षा की समग्र परिभाषा का जिक्र करती हैं जिनमें विद्यार्थियों के लिए शैक्षिक, सह–शैक्षिक एवं भाव–विषयक (मूल्य व प्रवृत्ति) परिणाम शामिल हैं। भारत की राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा (2005) संज्ञानात्मक अधिगम परिणामों (जैसे कि गणित, विज्ञान, भाषा) के अलावा कला, स्वास्थ्य, शारीरिक शिक्षा एवं शान्ति शिक्षा पर बल देती है। यह उन कारकों एवं मापदण्डों की ओर ध्यान आकर्षित करती है जो स्कूली शिक्षा के परिणामों (जैसे कि बुनियादी सुविधाएँ, पुस्तकालय और अन्य मीडिया, विद्यालय संगठन एवं संस्कृति) में योगदान देते हैं और परिणामों से परे अधिगम के अनुभव पर भी जोर देते हैं। तो वह क्या चीज है जो अच्छी शिक्षा का गठन करती है?

विप्रो एवं एजुकेशन इनीशिएटिव्स (EI) ने संयुक्त रूप से गुणवत्ता शिक्षा अध्ययन (QES) की अवधारणा विकसित की, जिसकी योजना बहु–वर्षीय अध्ययन के रूप में बनाई गई है ताकि शिक्षा में "गुणवत्ता" के अर्थ का विस्तार किया जा सके। साथ ही उसमें पाठ्यक्रम के विषयों के परे भी विद्यार्थियों के शैक्षिक परिणामों को शामिल किया जा सके और अधिगम के वातावरण (स्कूल) की उन विभिन्न विशेषताओं का अध्ययन किया जा सके जिन्हें अच्छा माना जाता है।

पहले वर्ष का अध्ययन बंगलौर, चैन्नई, दिल्ली, कोलकाता और मुम्बई के "चोटी" के कुछ अँग्रेजी माध्यम वाले स्कूलों में किया गया। एक जनमत सर्वेक्षण के आधार पर इन स्कूलों को ग्रेडिंग दी गई। इस अध्ययन में ऐसे छः स्कूलों को भी शामिल किया गया जो इन पाँच मेट्रो शहरों तक सीमित नहीं थे और जिनकी सिफारिश विशेषज्ञों ने यह कहकर की थी कि ये स्कूल एक अलग प्रकार का अधिगम वातावरण मुहैया कराते हैं। कुल मिलाकर इस अध्ययन में 89 स्कूलों के 23,000 छात्र, 790 शिक्षक और 54 प्रधानाचार्य शामिल थे। कक्षा चार, छह और आठ के विद्यार्थियों का आकलन ऐसे टेस्ट के माध्यम से किया गया जिसमें अँग्रेजी, गणित, पर्यावरण विज्ञान और सामाजिक अध्ययन के वस्तुनिष्ठ व बहु–विकल्पी प्रश्न पूछे गए थे। इन प्रश्नों के द्वारा बच्चों की अवधारणात्मक समझ एवं उच्च स्तरीय कौशल जैसे समीक्षात्मक चिन्तन, समस्या को सुलझाना तथा अनुप्रयोग के अधिग्रहण का परीक्षण किया गया। पृष्ठभूमि प्रश्नावलियों, फोकस समूह चर्चाओं तथा प्रधानाचार्यों के साथ साक्षात्कार की सहायता से अधिगम वातावरण, मूल्यों एवं विद्यार्थियों की प्रवृत्ति सम्बन्धी विभिन्न कारकों के बारे में जानकारी हासिल की गई। यहाँ प्रस्तुत हैं इस अध्ययन के कुछ दिलचस्प परिणाम।

सह–शैक्षिक कौशलों एवं पाठ्यक्रम पर प्रधानाचार्यों की सोच

70% से अधिक प्रतिभागियों ने कहा कि पाठ्यक्रम एवं विद्यार्थियों के आत्मविश्वास, आत्म–नियंत्रण, खिलाड़ी भाव, एकजुटता, टीमवर्क, प्रतिस्पर्धा, स्वास्थ्य आदि के लिए सह–शैक्षिक क्षेत्र बहुत प्रासंगिक हैं। पर उनमें से आधे लोगों ने बताया कि उनका स्कूल इन क्षेत्रों से अधिक

सह–शैक्षिक कौशलों एवं पाठ्यक्रम पर प्रिंसिपलों का परिप्रेक्ष्य

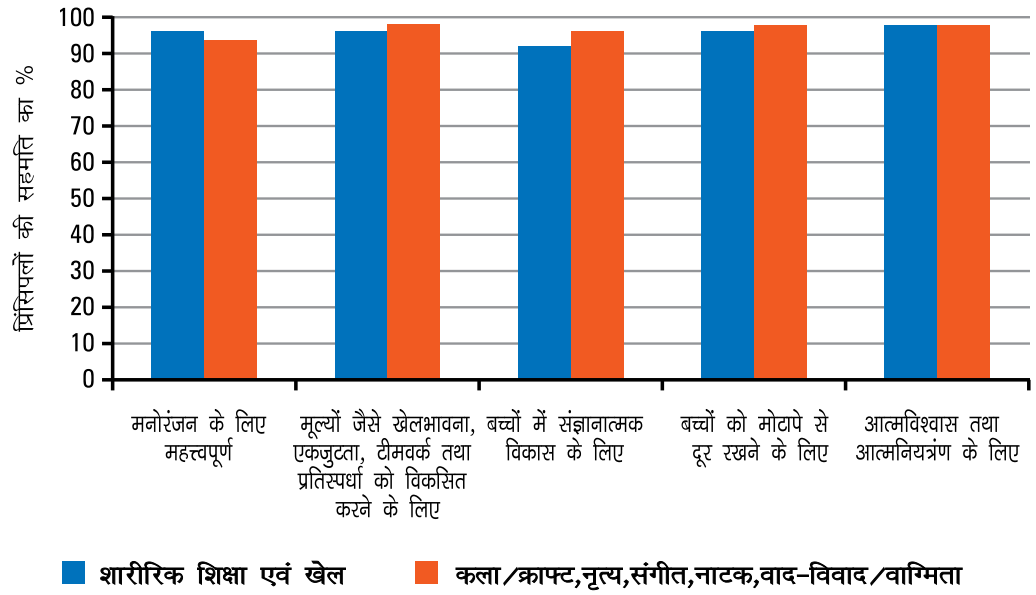

पाठ्यक्रम से सह–शैक्षिक गतिविधियों का सम्बन्ध और उस पर जोर : प्रिंसिपलों का परिप्रेक्ष्य

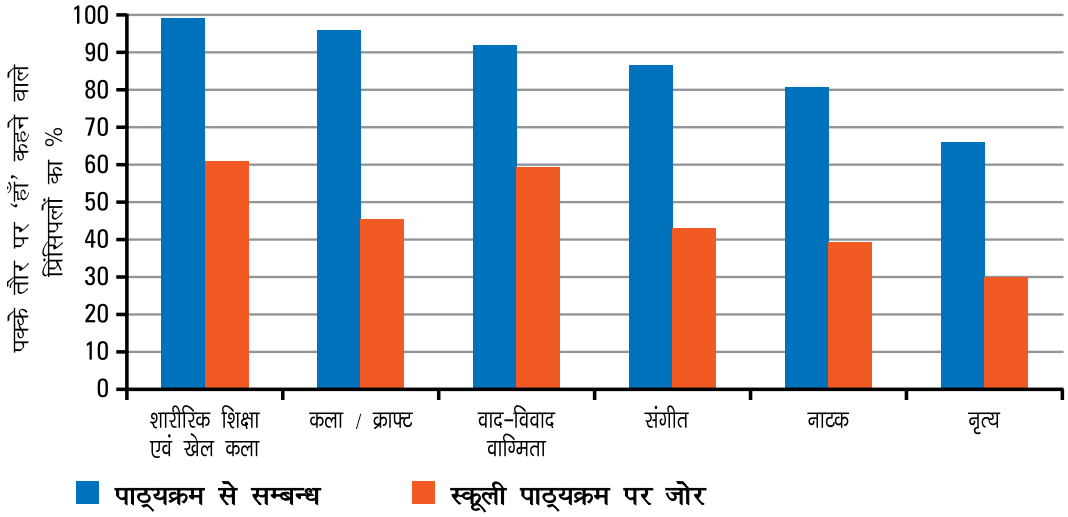

पाठ्यक्रम पर जोर देता है, जो यह दर्शाता है कि जो कुछ भी कहा जा रहा था उसका अकसर पालन नहीं होता था। इस बात की पुष्टि इस तथ्य से हुई कि जिन विद्यार्थियों ने प्रश्नावली का जवाब दिया था उनमें से 30% विद्यार्थियों ने कहा कि उनके स्कूल में खेल के सत्र शायद ही होते थे; यही स्थिति संगीत की भी थी (45%), कला (30%), नृत्य (50%) व नाटक (57%) और वाद–विवाद (60%)।

स्कूल में सह–शैक्षिक गतिविधियों के लिए समय

एक सप्ताह में स्कूल अपने कुल समय का औसतन 9% समय शारीरिक शिक्षा/खेल को, 10% समय सह–शैक्षिक गतिविधियों जैसे गीत/कला/नृत्य/वाग्मिता/नाटक आदि को और 60% समय अकादमिक विषयों को सीखने में देते हैं। जहाँ 40–60% विद्यार्थियों ने बताया कि उनके

एक सप्ताह में स्कूल घण्टों का बँटवारा

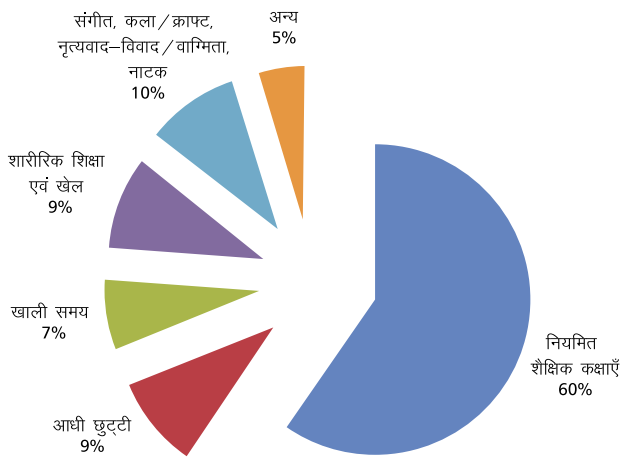

विद्यालय में विद्यार्थियों के लिए सह-शैक्षिक गतिविधियों के सत्र

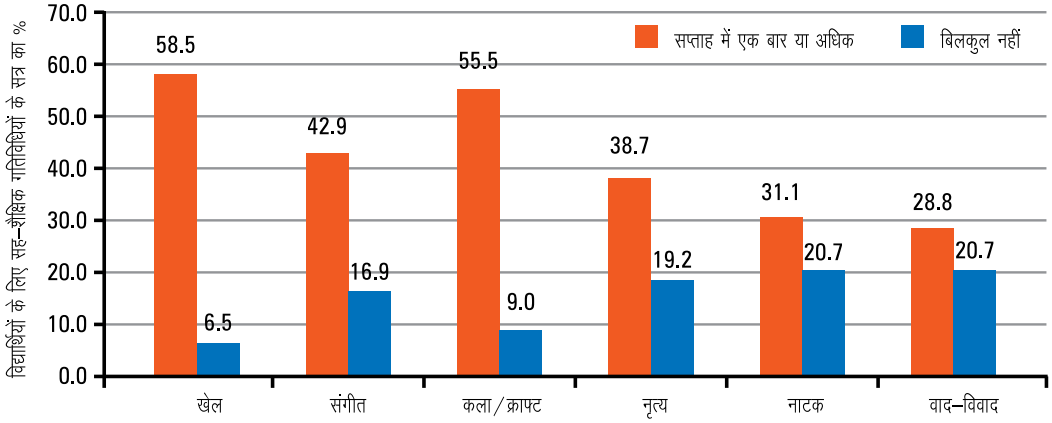

स्कूल में सप्ताह में एक बार या उससे अधिक बार खेल, कला/क्राफ्ट और संगीत के सत्र होते हैं, वहीं 16–20% विद्यार्थियों ने कहा कि उन्हें नाटक, नृत्य, वाद–विवाद या संगीत का अभ्यास करने का अवसर ही नहीं मिलता; 6-5% ने कभी कला/क्राफ्ट का अभ्यास नहीं किया तथा 9.0% ने कभी खेलों का अभ्यास नहीं किया।

सह–शैक्षिक गतिविधियों के लिए संसाधन

सह–शैक्षिक गतिविधियों के लिए उपकरण, मैदान/कमरा, प्रशिक्षक एवं प्रतियोगिताओं के बारे में दी जाने वाली सेवा की गुणवत्ता पर प्रधानाचार्यों की प्रतिक्रियाओं से पता चला कि–

- सह–शैक्षिक गतिविधियों के क्षेत्रों की सेवाओं (यंत्र या औजार/सामग्री, कमरा/सभागार एवं प्रशिक्षक की उपलब्धता) के बारे में जितने भी स्कूलों का परीक्षण किया गया, उनमें से लगभग सभी ने स्वयं को अच्छे या उत्कृष्ट की श्रेणी में रखा (5 में से औसत पैमाने का स्कोर 4 या उससे अधिक) ।
- नृत्य, खेल, वाद–विवाद तथा कला की सुविधाएँ नाटक या संगीत से अधिक थीं ।
- विद्यार्थी भी अन्त:स्कूल प्रतियोगिताओं की अपेक्षा अन्तरस्कूल प्रतियोगिताओं में जरा अधिक भाग लेते थे।

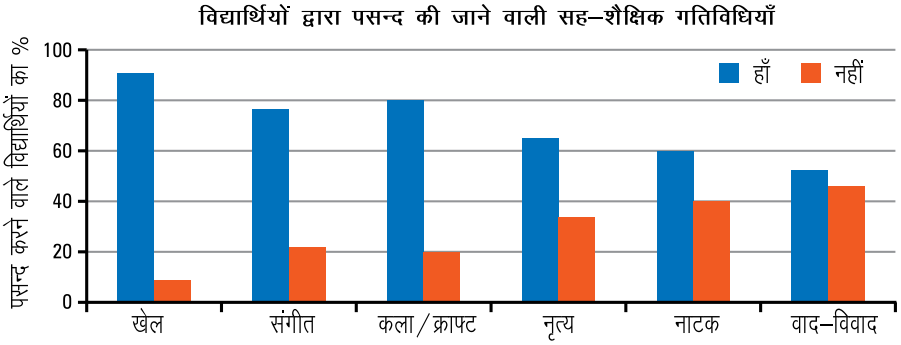

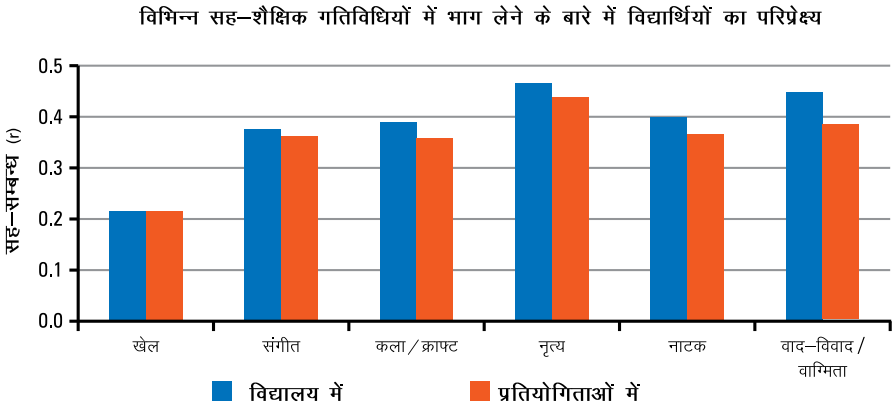

विद्यार्थियों की पसन्द और समझ

20% से कम विद्यार्थियों ने कहा कि उन्हें खेल, कला व संगीत जैसी सह–शैक्षिक गतिविधियाँ पसन्द नहीं, जबकि 35–47%विद्यार्थियों को नृत्य, नाटक व वाद–विवाद पसन्द नहीं थे।

इस बात को जाँचने के लिए भी आँकड़े इकट्ठे किए गए कि सह–शैक्षिक योग्यता के बारे में विद्यार्थियों की जो आत्म–अवधारणा है क्या उसकी वजह से वे उनमें भाग लेते हैं।

अपनी खुद की सह–शैक्षिक योग्यता के बारे में विद्यार्थियों की धारणा और नृत्य, वाद–विवाद, नाटक, कला तथा संगीत में उनकी भागीदारी के बीच थोड़ा सह–सम्बन्ध था लेकिन खेल में अपनी योग्यता की धारणा और खेल में उनकी वास्तविक भागीदारी के बीच अपेक्षाकृत कम सह–सम्बन्ध था (r = 0-2)।

सह–शैक्षिक और शैक्षिक प्रदर्शन के बीच सम्बन्ध

जो विद्यार्थी सह–शैक्षिक क्षेत्र पसन्द करते थे और जो उन्हें पसन्द नहीं करते थे उनके शैक्षिक प्रदर्शन में कोई बड़ा महत्त्वपूर्ण अन्तर इस अध्ययन में नजर नहीं आया। हालाँकि जो विद्यार्थी खेल पसन्द करते थे उन्होंने अपने विषयों के टेस्ट में अच्छा प्रदर्शन किया बनिस्पत उनके जिन्होंने कहा कि उन्हें खेल पसन्द नहीं। {सांख्यिकीय दृष्टि से अन्तर महत्त्वपूर्ण है लेकिन परिमाण सार्थक रूप से छोटा (Cohen's d)।} इसी तरह जिन विद्यार्थियों ने कहा कि उन्होंने सह–शैक्षिक क्षेत्रों में भाग लिया या जिन्होंने भाग नहीं लिया, उनके शैक्षिक प्रदर्शन में भी कोई महत्त्वपूर्ण अन्तर नहीं पाया गया।

जिन स्कूलों का अध्ययन किया गया, उनमें से अधिकांश स्कूलों की स्थिति वही थी जैसी कि ऊपर बताई गई है, लेकिन कुछ असामान्य स्कूल ऐसे भी थे जो सह–शैक्षिक

विद्यार्थियों की सह-शैक्षिक पसन्द और उनका शैक्षिक प्रदर्शन

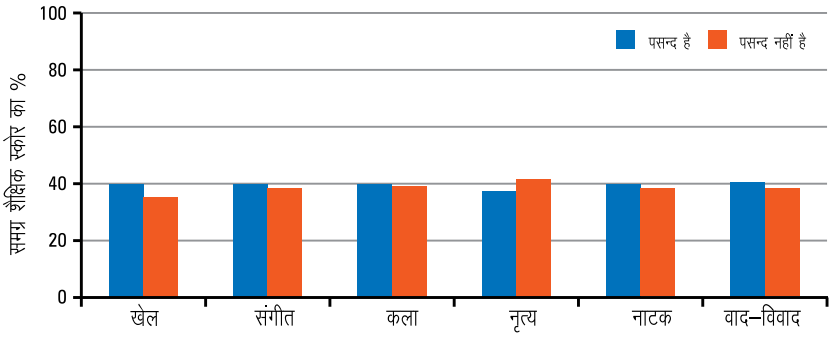

विद्यालय में सह-शैक्षिक क्षेत्रों में सत्र अभ्यास और विद्यार्थियों का शैक्षिक प्रदर्शन

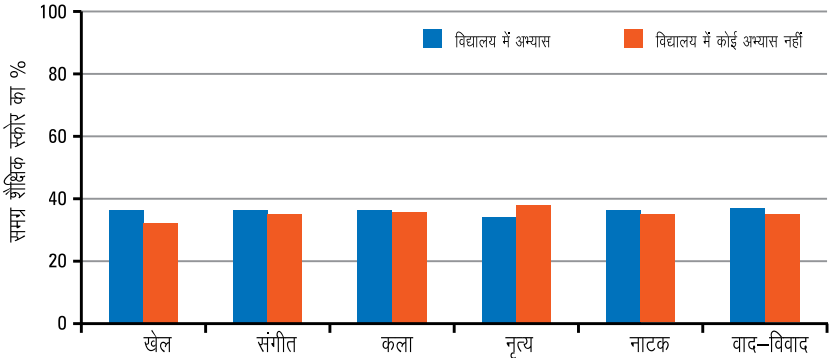

कौशलों को बराबर का महत्त्व देते थे। एक स्कूल में तो विद्यार्थियों ने बताया कि वे कला, कुम्हारी, संगीत आदि सीखने में बराबर का समय लगाते हैं। साथ ही वे ऐसे वातावरण में समय बिताते हैं जो प्रकृति के करीब है जहाँ वे चिड़ियों को दाना खिलाते हैं, प्रकृति में टहलने के लिए जाते हैं, पेड़ों पर चढ़ते हैं—इन सबसे उन्हें बहुत शान्ति मिलती है और नए अनुभव होते हैं। एक अन्य स्कूल के बच्चों को स्कूल आना बहुत अच्छा लगता था। वे वैकल्पिक व्यवसाय पसन्द करते थे। उन्हें पाठ्येतर कक्षाएँ भी अच्छी लगती थीं जिनका सत्र सप्ताह में दो–तीन बार होता था। जिन दो स्कूलों का उल्लेख यहाँ किया गया है वे शैक्षिक क्षेत्रों में बेहतरीन प्रदर्शन करने वाले स्कूलों में से थे।

चर्चा: शोध बताते हैं कि जो विद्यार्थी ऐसे स्कूलों के माध्यम से आगे बढ़ते हैं जहाँ कलाओं पर अधिक ध्यान दिया जाता है, उनका शैक्षिक प्रदर्शन बेहतर होता है और वे सामाजिक मूल्यों एवं प्रवृत्ति के अधिग्रहण में भी अच्छे होते हैं (Catteral, UCLA)। कला के साथ जुड़ने को गणित, पठन, संज्ञानात्मक क्षमता, समीक्षात्मक सोच और मौखिक कौशल में बढ़त के साथ सम्बद्ध किया गया है। कला को सीखने से प्रेरणा, एकाग्रता, आत्मविश्वास और टीमवर्क में सुधार होता है तथा यह लोगों को दुनिया के साथ और अधिक गहराई से जोड़ सकता है एवं उन्हें देखने का नया नजरिया देने के साथ–साथ सामाजिक बन्धनों व सामुदायिक सामंजस्य को आगे बढ़ाने में सहायक हो सकता है (Rand Corporation, 2005)।

QES अध्ययन में सह–शैक्षिक पाठ्यक्रम एवं विद्यार्थियों के शैक्षिक प्रदर्शन के बीच कोई निर्णायक सम्बन्ध नहीं मिला। इसका कारण यह हो सकता है कि हमारे स्कूल सह–शैक्षिक क्षेत्रों में बहुत कम काम कर रहे हैं—बच्चों को कला, संगीत, नृत्य, नाटक एवं वाद–विवाद के लिए कक्षा के कुल समय का 10% से भी कम समय दिया जाता है—तो ऐसे में इनमें और शैक्षिक प्रदर्शन के बीच किसी सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं की जा सकती। इससे यह सवाल

भी सामने आता है कि क्या सारी शिक्षा को इस बात के लिए तर्कसंगत होना ही चाहिए कि वह गणित या अन्य विषयों में अच्छे प्रदर्शन के उपयोगी हो? कला शिक्षा पर उसकी अपनी योग्यता के आधार पर विचार करना चाहिए और उसे कला की खातिर ही सिखाना चाहिए तथा उसे इस आधार पर तर्कसंगत नहीं मानना चाहिए कि वह अन्य विषयों के अच्छे प्रदर्शन के लिए भी उपयोगी है।

कला किसी भी संस्कृति और हमारे बच्चों के जीवन का अनिवार्य हिस्सा है, अगर उन्होंने कला के किसी रूप में क्षमता प्राप्त नहीं की है तो यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने सर्वांगीण व गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्राप्त की है। जिन प्रधानाचार्यों का साक्षात्कार किया गया उनमें से अधिकांश ने कहा कि गुणवत्तापूर्ण शिक्षा का मतलब है विद्यार्थियों को समग्र शिक्षा प्रदान करना और इसके लिए विभिन्न सह–शैक्षिक क्षेत्र बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। पर यह बात नजर नहीं आई कि स्कूल के पाठ्यक्रम में इन क्षेत्रों पर जोर दिया गया है या स्कूल के कार्य–सम्पादन के दौरान वास्तव में ऐसा किया गया है।

विद्यार्थियों एवं शिक्षकों के साथ हुई फोकस समूह चर्चा से पता चला कि अधिकांश छोटे बच्चे कला या खेल के क्षेत्र में रहने की इच्छा रखते थे, जबकि बड़े बच्चे या तो व्यापार करना चाहते थे या फिर इंजीनियर की तरह तकनीकी नौकरी करना चाहते थे। स्कूल जब पाठ्य–सहगामी क्रियाओं (co-curricular activity -CCA) की बात करते हैं तो कला या खेल का ही उल्लेख कर रहे होते हैं। किसी शिक्षक, विद्यार्थी, प्रधानाचार्य ने यह नहीं कहा कि उनके यहाँ सी.सी.ए. का अभाव है लेकिन इस बात का भी कोई उदाहरण नहीं था कि विद्यार्थियों को इन क्षेत्रों में उत्कृष्टता हासिल करने के लिए स्कूल में पर्याप्त अनुभव प्रदान किए जा रहे हैं। पिछले कुछ वर्षों में उपयोगितावादी शिक्षा पर बहुत जोर दिया गया है और जीवन में आर्थिक रूप से और अधिक बेहतर होने की जरूरत ने समाज को ऐसी शिक्षा प्रदान करने के लिए अनुकूलित कर दिया है कि जो या तो कला रहित है या उसमें कला इतनी कम है कि उसे नगण्य ही मानना चाहिए।

समाज को इस तथ्य का परिज्ञान होना चाहिए कि हम अपने बच्चों को अभिव्यक्ति के वे अनूठे तरीके प्राप्त करने से वंचित कर रहे हैं जो उनके जीवन में सौन्दर्य, मिठास और आनन्द ला सकते हैं। जिन संस्कृतियों ने कला की उपेक्षा की है उन्होंने एक दरिद्र समाज को विकसित किया है और अगर हमने अपने स्कूलों में इसके बारे में कोई कदम नहीं उठाया तो हम भी वैसे ही बन जाएँगे।

References:

1. Catterall, James S. (2002), "The Arts and the Transfer of Learning."
2. Deasy, Richard J. (editor) (2002), "Critical Links: Learning in the Arts and Student Achievement and Social Development", Washington, DC: AEP.
3. National Curriculum Framework of India, 2005
4. Rand Corporation, 2005, "A Portrait in Visual Arts, Meeting the Challenges of a New Era".

वैजयन्ती शंकर *वर्तमान में एजुकेशनल इनिशिएटिव (EI) में स्ट्रैटेजिक रिलेशंस एण्ड बिजनेस डेवलपमेंट के लार्ज स्केल एसेसमेंट (LSA) विभाग का नेतृत्व करती हैं। शिक्षा के क्षेत्र में उन्हें 24 वर्षों से अधिक का अनुभव है। वे साइकोमेट्रिक्स के विभिन्न मुद्दों की विशेषज्ञ हैं। इसके अलावा वे विविध भाषाओं में टेस्ट निर्माण करने तथा विश्लेषण के विकसित तरीकों, जैसे कि आधुनिक आइटम रिस्पांस थ्योरी (IRT), जिसका प्रयोग टेस्ट निर्माण एवं बड़े पैमाने पर डेटा के निर्माण व विश्लेषण के लिए किया जाता है, की भी विशेषज्ञ हैं। उनसे vs@ei.india.com पर सम्पर्क किया जा सकता है।*

अर्चना द्विवेदी *पिछले पाँच वर्षों से एजुकेशनल इनिशिएटिव के लार्ज स्केल एसेसमेंट विभाग में रिसर्च फेलो हैं। वे प्रॉजेक्ट मैनेजमेंट, परीक्षा निर्माण एवं डेटा विश्लेषण का अनुभव रखती हैं। उनसे darchana@ei.india.com पर सम्पर्क किया जा सकता है।* ***अनुवादः*** *नलिनी रावल*

स्कूल में दृश्यकला–शिक्षण

राधिका नीलकान्तन

यह लेख लिखते हुए मैं कुछ प्रश्न रख रही हूँ और उनके कुछ सम्भावित उत्तर भी।

मैं कला–शिक्षण क्यों करती हूँ?

मैं कला–शिक्षण इसलिए करती हूँ कि प्रकाश, रंग, रूप–आकार, गठन, लकीरों और ब्रुश चलाने का मुझ पर इतना गहरा प्रभाव पड़ता है कि मैं अपनी खुशी और अनुभव को बच्चों के साथ साझा करना चाहती हूँ।

एक बच्चे को कला क्यों अपनानी चाहिए?

इस बारे में कई सिद्धान्त हैं। माना जाता है कि दृश्य और मंच कलाओं से अकादमिक कौशलों में बेहतरी आती है। मैं नहीं जानती कि यह सही है या नहीं लेकिन इससे कला–कौशलों में तो यकीनन बेहतरी होती है! कला कौशलों को मापा नहीं जा सकता। "कला बुद्धि" में कई तरह के कौशल शामिल हो सकते हैं जिनका एक स्वस्थ, विवेकी जीवन के लिए होना आवश्यक है। यह बात शायद स्वयं में प्रकट न हो लेकिन शिक्षा में कला के महत्त्व को जानने के लिए किसी प्रकार के आँकड़ों पर आधारित प्रमाण की जरूरत नहीं है। एक बच्चे को कला अपनानी चाहिए क्योंकि यह एक खूबसूरत काम है।

मैं कला कैसे सिखाती हूँ?

एक अभ्यासी कलाकार के तौर पर निरन्तर कला–शिक्षण से अपने काम और अपने काम से कला–शिक्षण की ओर आना मेरे लिए बहुत ही ताजगी भरा रहता है। कला और बच्चों का मेल बहुत ही कमाल की चीज है। दोनों एक–दूसरे को कुछ देते हैं और दोनों के बीच एक खास तरह का तारतम्य और सहजता होती है।

व्यावहारिकता की बात करें तो शिक्षक को कई काम एक साथ करने चाहिए (जैसे, पेन्सिल बनाते–बनाते कक्षा को भी देखना और ऐसा करते हुए किसी बात पर अटक गए बच्चे की मदद को भी आना)। सब प्रकार के विद्यार्थियों के साथ प्रभावशाली सम्पर्क में आना जरूरी है। शिक्षक को इसे अपनी प्राथमिकता बनाना होगा।

गतिविधियाँ तो आम–सामान्य हो सकती हैं लेकिन उनके पीछे के विचारों में एक खास तरह की तरलता होनी चाहिए। मैंने यह तय नहीं कर रखा कि किस कक्षा के साथ क्या करूँगी लेकिन इतना जरूर कह सकती हूँ कि उनके सम्पूर्ण अकादमिक सफर में कई तरह के विचारों से उनका परिचय करवाया जाता है ताकि एक सन्तुलन बना रहे। जो बात एक समूह के साथ सफल होती है, जरूरी नहीं कि वह उसी समय अन्य के साथ भी कामयाब होगी। इसलिए मैं शुरुआत वहाँ से करती हूँ जहाँ तक वे पहुँच चुके होते हैं। पहले महीने में तो मैं उनसे चर्चा करती हूँ कि वे क्या करना चाहेंगे। आमतौर पर मैं पूरे साल में करवाए जाने वाले काम की शुरुआत यहीं से करवाती हूँ।

जब शुरू–शुरू में बच्चा ऐसे चित्र बनाता है जिन्हें हम पहले से प्रचलित या घिसा–पिटा भी कह सकते हैं, तो मैं उससे कहती हूँ कि वह किसी चीज को एक खास अन्दाज में बस एक बार ही बना सकता है। कक्षा की शुरुआत में हम समूह चर्चाएँ करते हैं। इससे प्रत्येक बच्चे को अन्य बच्चों के विचार सुनने का मौका मिलता है और दूसरों को सुनते हुए अपने विचारों में परिवर्तन लाने का भी। चर्चा के बाद बच्चे का सृजनात्मक जादू अपने रंग में आता है और चल निकलता है। उसके बाद शिक्षक को बहुत कम ही कुछ करना पड़ता है।

हम आमतौर पर साल की शुरुआत रेखाचित्रों से करते हैं और साल का अन्त भी। प्रत्येक बच्चे का एक साथी उसके साथ इस चित्र के लिए मॉडल के रूप में बैठता है। आकार, रेखा और रंग को अहमियत दी जाती है, "आँखों" या "नाक" को नहीं। मैंने पाया है कि इससे तुरन्त वह समझ बनती है जो बच्चे को सही प्रकार के अपेक्षित अवलोकन की ओर ले जाती है। मैं इस बात के महत्त्व पर बल देती हूँ कि बनाए जा रहे चित्र की विषयवस्तु की ओर अधिक ध्यान दिया जाए न कि बनाए जा रहे रेखाचित्र पर। ध्यानपूर्वक अवलोकन हो रहा हो तो वही मेरी सन्तुष्टि के लिए बहुत है।

मैं कला–कक्ष को अत्यधिक कला–सामग्री से भरा नहीं रखती। चीजें जरूरत के मुताबिक उचित मात्रा में मँगवाई और सावधानीपूर्वक प्रयोग में लाई जाती हैं। मेरी कोशिश रहती है कि बच्चों में यह ध्यान रखने की भावना पैदा हो कि कम से कम चीजें व्यर्थ जाएँ।

मैं बच्चों को किसी निर्धारित समय में काम समाप्त करने को नहीं कहती। समय को मैं तब ही बीच में लाती हूँ यदि वे अपने काम पर ध्यान केन्द्रित न कर रहे हों। यदि वे बीच में कुछ समय का विराम लेना चाहते हैं तो ले सकते हैं, लेकिन नया काम शुरू करने से पहले एक काम को समाप्त करना ही होता है। कभी–कभी वे कुछ नया भी शुरू कर सकते हैं मगर अधूरे रह गए काम को पूरा करने के लिए उस पर वापिस आना आवश्यक रहता है।

मैं यह तो नहीं कहूँगी कि मेरी कक्षा का वातावरण किए गए काम के बारे में कोई राय बनाकर फैसला देने वाला नहीं है, लेकिन यह बहुत प्यार से, नरमी के साथ किया जाता है। बहुत ही सहज वातावरण में, आराम से, हल्के–फुल्के अन्दाज में टिप्पणी की जाती है।

एक और महत्त्वपूर्ण पक्ष है सामग्री की व्यवस्था और विद्यार्थियों के काम को सम्भालकर रखने का। मैं इस काम में बच्चों को शामिल करती हूँ। जब बच्चों को इस बात का ज्ञान होता है कि चीजें कहाँ और कैसे रखी गई हैं तो उनसे यह उम्मीद भी की जा सकती है कि वे जगह को साफ–सुथरा रखेंगे। कला की कक्षा में सीखने और अनुभव में तीव्र, उत्सुक अवलोकन, देखने और स्थान–विषयक योग्यताएँ, चिन्तन, आत्मालोचना या मूल्यांकन और प्रयोगात्मकता शामिल हैं। कला का काम आमतौर पर कला–कक्ष में दीवारों पर प्रदर्शित किया जाता है। यह रसोई या पुस्तकालय जैसे सार्वजनिक स्थानों पर भी प्रदर्शित किया जाता है जहाँ अधिक संख्या में लोग इसे देख सकते हैं।

एक और महत्त्वपूर्ण बात बच्चों का परिचय पुराने और वर्तमान कलाकारों से, उनके काम से करवाने की है। कला–दीर्घाओं और संग्रहालयों में बच्चों को ले जाना भी उनकी शिक्षा का एक अहम हिस्सा है।

आखिर में सवाल यह भी है कि कला के लिए कितना समय समर्पित किया जाना चाहिए। कला तो हर समय उपलब्ध रहनी चाहिए। हम जो भी करें वह कला का एक नमूना ही हो!

राधिका नीलकान्तन *पिछले 19 साल से सेण्टर फॉर लर्निंग, बंगलौर में कला–अध्यापन कर रही हैं। उनका ई–मेल सम्पर्क neel.radhika@gmail.com है।*

अनुवादः *रमणीक मोहन*

खण्ड ब

चन्द परिप्रेक्ष्य

08 कलाओं की परिवर्तनकारी ताकत

fFk;Vj vkj ml lEc) dykvk dk dUæ e j[krs g,

संजना कपूर

मैं यह सोच कर अचम्भित होती हूँ कि दस दिन भी नहीं गुजरते और मुझे मेरे नाना–नानी, ज्यॉफ्री तथा लॉरा केण्डल और उनकी शेक्सपियरियाना नामक थियेटर कम्पनी को बहुत ही प्यार और लगाव से याद करने वाला कोई न कोई मिल ही जाता है। यह कम्पनी हर साल देश भर के विभिन्न स्कूलों में जाकर शेक्सपियर, बर्नार्ड शॉ तथा अन्य समकालीन नाटककारों के जादू से स्कूल–कॉलेज के बच्चों का परिचय करवाती थी। इन अभिनय–प्रदर्शनों ने अँग्रेजी–माध्यम स्कूलों के बच्चों की एक पूरी पीढ़ी पर अमिट छाप छोड़ी थी। यह 1950 और 1960 के दशक की बात है। ज्यॉफ्री केण्डल की पुस्तक 'द शेक्सपियरवाला' को उद्धृत करूँ तो उनके मुताबिक, "हम खुद को संसार के सबसे ज्यादा सुकून देने वाले दर्शकों के बीच पाते थे; भारत की सचेत, ज्ञानशील छात्राओं की कतारों पर कतारें नाटक को अचम्भे में डूबकर देखती थीं–एक–एक शब्द, एक–एक संकेत को अन्दर तक जज्ब करते हुए।"

मैं या तो शेक्सपियर के नाटकों की कहानियों या फिर पूरे भारत में अपने नाना–नानी के अभूतपूर्व अनुभवों और यात्राओं की कहानियाँ सुनते हुए बड़ी हुई। इन कहानियों में हमेशा देश की उत्कृष्ट शैक्षिक संस्थाओं का नेतृत्व करने वाले मुख्याध्यापकों से हुई मुलाकातों का जिक्र होता था।

मैं बम्बई में एक ऐसे स्कूल में पढ़ती थी जो अपने समय के हिसाब से अद्वितीय था–वहाँ कोई प्रतियोगिताएँ नहीं होती थीं, कक्षा छह से पहले कोई इम्तिहान नहीं होते थे, प्रत्येक बच्चे को एक अलग व्यक्ति के रूप में देखा जाता था न कि किसी ऐसी ट्रॉफी की तरह जिसे 12 साल की शिक्षा के अन्त पर स्कूल उठाकर दिखाना चाहे। मैं बहुत खुशकिस्मत थी कि स्कूल मेरी कमियों और सीमाओं को समझता था, और मुझमें मौजूद सम्भावनाओं को भी। उसने मुझे बदलने की कोशिश नहीं की, बल्कि मुझे खुद पर छोड़ दिया था।

कक्षा नौ में मुझे गणित से सम्बद्ध एक असाधारण अनुभव हुआ जिसने मेरे जीवन और मेरे आत्म–सम्मान में बदलाव ला दिया। यह एक अलग ही कहानी है। मगर मेरा मानना है कि इसकी वजह से मुझमें शिक्षा के प्रति गहरी दिलचस्पी जागी, खासतौर पर इस बात में कि कलाएँ एक बच्चे के लिए क्या कर सकती हैं।

बाईस साल पहले मैंने पृथ्वी थियेटर के तहत एक कार्यक्रम की शुरुआत की थी, जो अब बड़ा आकार ले चुका है –*समरटाइम विद पृथ्वी थियेटर,* बच्चों के लिए रचनात्मक कार्यशालाएँ और नाटक। अब यह कार्यक्रम *जुनून* नाम की नई संस्था के तहत होता है और *आर्ट्स एट प्ले* के नाम से जाना जाता है।

इस कार्यक्रम का उद्देश्य बहुत स्पष्ट था–थियेटर के लिए कदरदाँ और विवेकपूर्ण दर्शक विकसित करना; बच्चों के मन में थियेटर के लिए प्रेम जगाना। और इसी से निकलने वाले प्रभावों में बच्चों के विकास से प्राप्त होने वाले लाभ और उनके व्यक्तित्व पर पड़ने वाले असर थे। लेकिन यह हमारे उद्देश्यों के केन्द्र में नहीं था।

अब *आर्ट्स एट* प्ले में हमारे उद्देश्यों के केन्द्र में है कि हम अपने जीवन में कलाओं के महत्त्व का विकास करें। इसलिए बच्चों के साथ सम्पर्क और सम्बन्ध में आना तथा उनके लिए निर्णय लेने वालों यानी उनके माँ–बाप और स्कूलों के साथ रिश्ता बनाना हमारे लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। मैं इस लेख में इसकी गहराई में नहीं जाऊँगी कि हम यह कैसे करेंगे–लेकिन इस बारे में हमने कुछ बातें सोची जरूर हैं!

मैं यह पृष्ठभूमि इसलिए बना रही हूँ क्योंकि मेरे ख्याल

से यह जानना आवश्यक है कि जब मैं शिक्षा में कलाओं के बारे में अपने पक्के विश्वास और मान्यताओं की बात करती हूँ तो मैं असल में कहाँ खड़ी हूँ।

हम क्यों मानते हैं कि कलाएँ बच्चे की शिक्षा के लिए महत्त्वपूर्ण हैं, क्या चीज है जिसे वे आगे लाती हैं?—मेरे विचार से इस बात की अभिव्यक्ति बहुत ही महत्त्वपूर्ण, बहुत आवश्यक है। यह कैसे हो और इसे कर पाने के लिए क्या जरूरी है?

> *"एक सौन्दर्यबोधी अनुभव में आपकी इन्द्रियाँ अपने चरम पर काम कर रही होती हैं, आप मौजूदा लम्हे में होते हैं, हो रहे अनुभव के रोमांच और उत्तेजना की अनुगूँज को महसूस करते हैं, और पूरी तरह जीवन्त होते हैं।"*
> *–केन रोबिन्सन*

अँग्रेज गणितज्ञ और दार्शनिक अल्फ्रेड नॉर्थ व्हाइट्हेड के मुताबिक, *"कला का अर्थ है अनुभव या अनुभूति पर एक पैटर्न, एक बुनावट का अंकित होना; और उस पैटर्न का बोध, उसकी पहचान, हमें प्राप्त होने वाला सौन्दर्यबोधी आनन्द है।"*

पहले से कहीं अधिक आज, सौन्दर्यानुभूति से यह सामना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और निर्णायक है; उतना ही, जितना खुशी—खुशी में शिक्षा के साथ सम्बन्ध।

हमारा यह विश्वास क्यों है कि कलाओं का अनुभव या उनकी कद्र और समझ से बच्चे के जीवन में कोई फर्क पड़ेगा?

कलाओं में परिवर्तनकारी शक्तियाँ हैं। खासतौर से मंच—कलाओं में अलग या नए परिप्रेक्ष्यों की खिड़कियाँ खोलने की क्षमता है, अनुभवगम्य ज्ञानार्जन में पूरी तरह तल्लीन कर देने की क्षमता है। एक अधिक समग्र, अधिक सम्पूर्ण व्यक्ति के तौर पर विकसित होने के लिए इन्हीं शक्तियों को प्रयोग में लाने की जरूरत है। यह बहुत ही भयावह बात है कि आज के संसार में लगातार निकलकर आ रहे विशेषज्ञों में इस दुनिया की समझ, उसमें दिलचस्पी या उसके साथ व्यापक स्तर पर सम्बद्ध होने की बात दिखाई नहीं देती। स्टीव जॉब्स ने एक बार कहा था, "हमारे उद्योग में बहुत लोग हैं जिनके पास अनुभवों की विविधता नहीं है। इसीलिए उनके पास जोड़ने को अधिक बिन्दु भी नहीं हैं और वे समस्या के व्यापक परिप्रेक्ष्य को ध्यान में लिए बिना एकरेखीय समाधानों तक ही पहुँच पाते हैं। मानव—अनुभव की जितनी व्यापक और वृहत समझ हमारे पास होगी उतना ही बेहतर हमारा डिजाइन होगा।"

एकरेखीय तरीके से हटकर इस प्रकार सोचने में, कल्पना की जोत जलाने में, कलाएँ योगदान दे सकती हैं। अल्बर्ट आइंस्टाइन ने कहा था, *"कल्पना ज्ञान से अधिक महत्त्वपूर्ण है...."* और *"जिज्ञासा का औपचारिक शिक्षा से बचे रह जाना एक चमत्कार ही है!!!"*

हम कला का यह संसार बच्चों तक औपचारिक तथा अनौपचारिक शिक्षा के माध्यम से ला सकते हैं।

मेरा मानना है कि दोनों तरह के मौके हमारे लिए उपलब्ध और हमारी पहुँच में होने चाहिए—शिक्षा व्यवस्था के अन्तर्गत औपचारिक ढाँचे और उसके बाहर के सार्वजनिक ढाँचे। दोनों से स्पष्ट अपेक्षा यह है कि वे कलाओं से जान—पहचान बढ़ाएँगे तथा उनका तजुर्बा करवाएँगे।

हमारे युवाओं के लिए कलाओं से सम्बद्ध होने के इन दो अलग तरीकों को—यानी शिक्षा के ढाँचे के अन्दर रहते हुए और सार्वजनिक क्षेत्र में—कैसे स्थापित किया जाए?

कुछ साल हुए मुझे एन.सी.ई.आर.टी. की एक बैठक में आमंत्रित किया गया। मौका स्कूलों में थियेटर के पाठ्यक्रम पर चर्चा का था क्योंकि हाल ही में पहली बार थियेटर को पाठ्यचर्या का हिस्सा बनाया गया था। यह अब तक की मेरी सबसे अव्यवस्थित बैठक कही जा सकती है। सबसे

अधिक चौंकाने वाली बात यह थी कि विशेष आयु–समूहों पर चर्चा करने वाले विभिन्न समूहों का आपस में बिल्कुल सामंजस्य और तालमेल नहीं था। ऐसे किसी दर्शन, सोच या नजरिए पर एक राय नहीं बन पाई, निर्णय नहीं हो पाया, जिसे एक छतरी की तरह सब आयु–समूहों के लिए काम में लाया जा सके। हम आज भी इस पाठ्यक्रम के इन्तजार में हैं।

लेकिन इस विचार के केन्द्र में कुछ तो है जो हमें बहुत ही गलत लगता है। एक स्कूल यदि कला–अध्यापक या संगीत–अध्यापक को नियुक्त करता है तो आप यह तो देख ही सकते हैं कि वे चित्रकारी कर सकते हैं या नहीं, रेखा–चित्र बना सकते हैं या नहीं–कोई वाद्य–यन्त्र बजा सकते हैं कि नहीं। लेकिन इतने से ही यह गारण्टी नहीं मिल जाती कि उनमें उत्साह और उमंग पैदा करने की, अपने विषयों में रुचि जगा पाने की योग्यता और क्षमता भी है। जब एक स्कूल किसी ड्रामा अध्यापक को नियुक्त करता है तो उसमें किस चीज की तलाश करता है? और यह व्यक्ति कहाँ प्रशिक्षित होता है?

मेरा मानना है कि कला–शिक्षकों के प्रशिक्षण पर बहुत बल दिया जाना चाहिए–ड्रामा, कला, संगीत और साहित्य में भी!

और लगातार इस बात से पुन: सम्बन्ध भी बनाया जाता रहे कि हम स्कूलों में कला की जरूरत क्यों समझते हैं? अगर हम इस बारे में स्पष्ट हैं कि कलाएँ बच्चे की रचनात्मकता, खोजी प्रवृत्ति, नवाचार का विकास करें और इसके माध्यम से उसका आत्मविश्वास और आत्म–सम्मान बढ़े, उसकी विश्वदृष्टि व्यापक हो, तो हमारे काम करने का तरीका अलग होगा। लेकिन अगर हम चाहते हैं कि बच्चा स्कूल में होने वाले प्रत्येक कार्यक्रम में मंच पर दिखे, और स्कूल के लिए वाहवाही लूटने के लिए हर प्रतियोगिता का हिस्सा बने, तब हमारा नजरिया बिल्कुल ही अलग होगा–और यह खेद वाली बात होगी।

जाहिर है, मैं तो पहले नजरिए के हक में हूँ।

शिक्षण–संस्थाओं में प्रशिक्षित कला–शिक्षकों के साथ–साथ यह भी आवश्यक है कि बच्चों का सम्पर्क और परिचय व्यावसायिक कलाओं से भी हो–स्कूल में भी और बाहर भी।

बहुत से देशों में स्कूलों के लिए आवश्यक है कि वे बच्चों को हर माह थियेटर लेकर जाएँ। इसी तरह राज्य से वित्त–प्राप्त थियेटर–समूहों को भी एक न्यूनतम संख्या में बच्चों के लिए अपने प्रदर्शन करने होते हैं। यह सरकार की नीति का हिस्सा होता है। ऐसे देश भी हैं जहाँ हर मोहल्ले में थियेटर, गैलरी और बच्चों का थियेटर भी होता है।

मैं आपके साथ तीन प्रेरणादायक कहानियाँ साझा करना चाहूँगी (और वे सभी दक्षिणी गोलार्द्ध की हैं)।

दक्षिणी अफ्रीका में ब्रेन्ट वान रेन्सेन्बर्ग तथा लॉरेंस एस्टीअर्स की *जिप जैप सर्कस*। 20 साल पहले शुरू हुए इस सर्कस ने सुनिश्चित किया कि केपटाउन के एक बहुत ही बेअदब, बेतहजीब मोहल्ले के बच्चे नशे के उद्देश्य से गोंद सूंघने और जुर्म की दुनिया से दूर रहें। यह काम भरोसा, ईमानदारी, जिम्मेदारी, अनुशासन, समूह–भावना जैसे जीवन–कौशलों के माध्यम से बढ़ा। इस सबने मोहल्ले के माहौल पर बहुत गहरा प्रभाव डाला। *जिप जैप* नियमित तौर पर प्रदर्शन करता है। आज *जिप जैप* के कई भूतपूर्व विद्यार्थी जानी–मानी, प्रशंसा के काबिल *सर्क डु सोलिएल* के लिए प्रदर्शन करते हैं।

वेनेजुएला के *एल सिस्टेमा* की शुरुआत करीब 35 साल पहले संगीतज्ञ होसे अब्रो द्वारा की गई–झुग्गी बस्तियों के बच्चों को संगीत सिखाने के लिए। *एल सिस्टेमा* ने हजारों बच्चों के जीवन को छुआ है और बच्चों में ही नहीं, उनके माता–पिता में भी आत्म–सम्मान और प्रतिष्ठा की भावना

> *“संस्कृति मन और आत्मा को विस्तार देती है।*
> *– जवाहरलाल नेहरु”*

पैदा की है। यह कार्यक्रम एक व्यक्ति द्वारा शुरू किया गया था मगर अब इसे सरकार की भी मदद मिलती है। आज ये संगीतज्ञ उन संगीतज्ञों में हैं जिन्हें संसार के सिम्फनी ऑर्केस्ट्राज अपना हिस्सा बनाने के लिए लालायित रहते हैं।

ब्राजील के एस.ई.एस.सी.,सामुदायिक सांस्कृतिक और खेल केन्द्र 60 साल से भी अधिक पहले कारोबारी समुदाय द्वारा शुरू किए गए थे। उनके लिए यह सुनिश्चित करना जरूरी था कि उनके यहाँ काम करने वालों को, जिनमें अधिकांश दुनिया भर से आए हुए प्रवासी थे, आत्मा की तृप्ति के लिए भी कुछ मिले! कारोबारी प्रतिष्ठानों ने सांस्कृतिक केन्द्रों की इस व्यवस्था को विकसित करने के लिए अपने कर्मचारियों से उनके वेतन पर 1.5 प्रतिशत का कर लगाना तय किया। इससे सम्भव हो पाया कि कर्मचारी उपलब्ध सुविधाओं का मुफ्त प्रयोग कर सकें, जबकि गैर–कर्मचारियों के लिए थोड़ा सा शुल्क रखा गया। इस व्यवस्था को ब्राजील के संविधान में ही स्थान दे दिया गया और आज भी यह कानूनन अनिवार्य है। एस.ई.एस.सी.के क्षेत्रीय निदेशक दानिलो मिराण्डा का कहना है, "एस.ई.एस.सी. एक सांस्कृतिक या खेल सम्बन्धी संस्था ही नहीं है, यह एक सामाजिक कल्याण की संस्था है जो लोगों के विकास और जीवन की गुणवत्ता में बेहतरी लाने के लिए हर सम्भव रणनीति का इस्तेमाल करती है। कल्याणकारी योजनाओं की बुनियाद ही इन्सान को महत्व और मूल्य देने पर है जो बराबरी के एक मानदण्ड के अन्तर्गत आदर का हकदार है। यह धर्म या राजनीति का विषय नहीं बल्कि संस्कृति की बात है। सांस्कृतिक नजरिए से हम सब बुनियादी तौर पर समान और बराबर हैं।"

साओ पओलो की जनसंख्या 3 करोड़ है और वहाँ पूरे शहर में 30 एस.ई.एस.सी. प्रोजेक्ट हैं और उनमें लोगों का आना इस प्रकार है :

- थियेटर: 3,968 (807,000 लोग)
- संगीत प्रोग्राम: 405 (2,150,000 लोग)
- नृत्य: 656 (610,000 लोग)

क्या आप भारत में किसी ऐसे समय की कल्पना कर सकते हैं जब हमारा कारोबारी समुदाय सांस्कृतिक–सामुदायिक स्थानों के विकास में बुनियादी तौर पर योगदान दे– अपने विज्ञापन के लिए या कारोबारी सामाजिक दायित्व के रूप में नहीं, बल्कि केवल इस विश्वास के आधार पर कि ऐसे स्थान जीवन की गुणवत्ता पर एक खास प्रभाव डालते हैं।

जैसा कि स्टीव जॉब्स ने कहा था: "अकेली प्रौद्योगिकी ही काफी नहीं है। प्रौद्योगिकी स्वतंत्र कलाओं और मानविकी के साथ जुड़कर आती है तो वे नतीजे प्राप्त होते हैं जिनसे हमारे दिल गुनगुनाने लगते हैं।"

गुनगुनाते दिलों से भरे संसार की अपेक्षा में !

"मानव इसलिए अद्वितीय नहीं है क्योंकि वह विज्ञान जानता और प्रयोग में लाता है, और इसलिए भी नहीं कि वह कला करता है, लेकिन इसलिए कि कला और विज्ञान दोनों ही बराबर तौर पर उसके दिमाग के कमाल के लचीलेपन की अभिव्यक्तियाँ हैं।" – जैकब ब्रनोवास्की वैज्ञानिक, पूर्व में साल्क इंस्टीट्यूट में कार्यरत।

***संजना** 1990 से पृथ्वी थियेटर का नेतृत्व कर रही हैं। मुम्बई के थियेटर समूहों से नए तरह के काम की मांग करके उनके लिए चुनौती खड़ी करती रही हैं। वे थियेटर उत्सवों में जाती हैं, मुम्बई के अन्य स्थानों पर थियेटर की प्रस्तुति करती हैं। उन्होंने बच्चों के लिए, उन तक कलाएँ पहुँचाने के कार्यक्रम की शुरुआत भी की। उन्होंने कविता, विज्ञान, डॉक्युमेन्ट्री तथा लघु फिल्मों आदि को पृथ्वी थियेटर के कैलेण्डर में स्थान दिया। युवा और स्थापित कलाकारों को प्रस्तुत करने के लिए आर्ट गैलरी चलाकर पृथ्वी थियेटर को और भी व्यापक रूप दिया। हाल ही में उन्होंने रंगकर्मियों के लिए अखिल भारतीय नेटवर्क, इण्डिया थियेटर फोरम की भी शुरुआत की। वे जुनून की भी निदेशक हैं। जुनून उनके लिए एक ऐसा मंच है जहाँ वे थियेटर के अपने नवाचारी प्रयोगों को लोगों तक पहुँचाती हैं। **अनुवादः** रमणीक मोहन*

09 देखना सीखना, इन्द्रियों को जगाना

जिनान

शिक्षा की मौजूदा मुख्य धारा के बारे में चिन्ता का मुख्य विषय यह है कि वह रचनात्मकता को मारती है।

जिस उन्माद के साथ "कला" को लाया जा रहा है उससे लगता है कि इस नुकसान की भरपाई की कोशिश की जा रही है। लेकिन 'स्कूलिंग' न केवल रचनात्मकता को मारती है, वह प्रामाणिकता को, सांस्कृतिक विविधता को और सौन्दर्यबोधी संवेदना को भी मारती है।

यह बात देखने लायक है कि कला, वास्तुकला और डिजाइन के शिक्षण का इस देश में क्या प्रभाव पड़ा है। इससे हमें सबक मिल सकते हैं कि हमें स्कूलों में क्या नहीं करना चाहिए।

जहाँ तक भवन निर्माण, संकेत चिह्नों, उत्पादों, रंगों के इस्तेमाल और विज्ञापन के लिए लगे बोर्डों की बात है, संसार भर में अब एक ही तरह का नजारा देखने को मिलता है। लगभग एक सदी पहले तक संस्कृतियों में भिन्नता दिखाई देती थी, जीने के अन्दाज अलग–अलग थे, सौन्दर्यानुभूति से जुड़ी संवेदनाएँ भी भिन्न थीं–और इस सबसे एक सन्दर्भित वास्तुकला और कलाकृतियाँ देखने को मिलती थीं। वर्तमान शिक्षा ने सम्पूर्ण संसार में समरूपता पैदा कर दी है। डिजाइन तथा वास्तुकला–शिक्षा को विविधता की बरबादी में भूमिका निभाने वाले सबसे विनाशकारी कारकों में से एक कहा जा सकता है, और इसी के चलते जीवन–शैलियाँ भी एक सी हो गई हैं। पश्चिमी संस्कृति के अनुभवों–बौहौस, उल्म (बीसवीं सदी के दूसरे दशक में जर्मनी में स्थापित किया गया प्रथम डिजाइन शिक्षा संस्थान)–के आधार पर लिए गए पाठ्यक्रम विश्व भर में डिजाइन–शिक्षा की बुनियाद में हैं, और इसने मनोवैज्ञानिक तौर से हमारे अस्तित्व को कई स्तरों पर नुकसान पहुँचाया है–पश्चिम की नकल, हीन भावना, सांस्कृतिक स्तर पर संवेदनहीनता तथा अन्य किस्म के बोधात्मक नुकसान।

यह बात कला–शिक्षा के लिए भी सच है। आज भी मूल प्रेरणा पश्चिम में कला के आन्दोलनों से ली जाती है। कला–शिक्षा के अधिक औपचारिक होने के साथ ही उसमें एक कठोरता और गैर–लचीलापन भी आता जा रहा है; अधिक ध्यान नियमों, सूचनाओं, इतिहास आदि पर दिया जा रहा है। इससे भी अधिक भ्रामक बात यह मानना है कि कला–शिक्षा का रचनात्मकता तथा सुन्दरता के साथ सम्बन्ध है, मानो बाकी विषयों का रचनात्मकता से कोई सम्बन्ध न हो और उनका खूबसूरती से कोई सरोकार न हो।

सुन्दरता, ज्ञान और रचनात्मकता की केन्द्रीय भूमिका सभी प्रामाणिक संस्कृतियों की एक अलग से दिखाई देने वाली विशेषता रही है। इसलिए असल मुद्दा यह समझने का है कि कैसे अपनी सांस्कृतिक जड़ों को बनाए रखा जाए, कैसे शिक्षार्थी को खूबसूरती की उस मूल, प्रामाणिक भावना और समझ के साथ बने रहने में मदद की जाए जो सही अर्थों में उस असल सन्दर्भ के अनुभव पर आधारित हो जिसमें वह जी रहा है।

तो हम कुछ बुनियादी सवालों से शुरुआत करते हैं।

जीवन में खूबसूरती का उद्देश्य क्या है? उसे कैसे विकसित किया जाता है? क्या वह स्वाभाविक और जन्मजात है? ज्ञान के साथ उसका क्या सम्बन्ध है? या, बोध के साथ यह कैसे सम्बद्ध है? क्या इन्द्रियाँ इसमें कोई भूमिका अदा करती हैं? मौजूदा शैक्षिक व्यवस्था में अनुभूति की क्या भूमिका है? प्रामाणिकता क्या है? और मौलिकता क्या है? प्रामाणिक न होने का हमारे

द्वारा किए जाने वाले किसी भी काम पर या बनाई गई किसी भी चीज पर क्या प्रभाव पड़ता है? संस्कृति क्या है और इसका निर्माण कैसे होता है? सुन्दरता, रचनात्मकता और संस्कृति के बीच क्या सम्बन्ध है? संस्कृति किस प्रकार रचनात्मकता और खूबसूरती के फलने–फूलने के लिए माहौल बनाती है? हममें सुन्दरता की अनुभूति जगाने के लिए क्या कला–शिक्षण की जरूरत है या वह हमारे अस्तित्व में स्वाभाविक तौर पर, जन्मजात मौजूद है?

भारत के नैशनल इंस्टीट्यूट ऑफ डिजाइन (NID) में अध्ययन के दौरान मैंने खूबसूरती, सौन्दर्यानुभूति, रचनात्मकता, संस्कृति, सहज–स्वाभाविक प्रवृत्ति से सम्बन्धित कुछ बुनियादी सवालों की जाँच–पड़ताल शुरू की।

इस संस्थान में डिजाइन सीखने की प्रक्रिया पूरी तरह से पश्चिम–प्रवृत्त है। डिजाइन या सौन्दर्यानुभूति की समझ पैदा करने के लिए जिम्मेदार पाठ्यक्रम, जिनमें डिजाइन के तत्व, संरचना, रंग–रूप–आकार आदि शामिल हैं, अब भी बौहौस पर आधारित हैं और आज भी यह सब लगभग पहले ही की तरह पढ़ाया–सिखाया जाता है। द्वंद्व भरे एक समयकाल के बाद इंस्टीट्यूट में बिताए गए मेरे तीन साल खुद की गहन तलाश के साल रहे। यह बात बहुत ही स्पष्ट तौर पर केन्द्र में आई कि औपचारिक स्कूली–शिक्षा का उपनिवेशित, गुलाम दिमागों तथा सांस्कृतिक और आध्यात्मिक विलगाव के साथ सीधा सम्बन्ध है; इंस्टीट्यूट की 'शैक्षिक व्यवस्था' मेरे लिए इसी की एक मिसाल थी। यदि खूबसूरती की आपकी समझ और अनुभूति संचालित और अनुकूलित हो, गुलाम मानसिकता लिए हुए हो, तो संस्कृति के अर्थ ही क्या रह जाते हैं और किस चीज को आप अपना कह सकते हैं?

शिक्षा लोगों को अनुकूलित करने और गुलाम बनाने का सबसे शक्तिशाली औजार रहा है क्योंकि इसने दुनिया भर में तथाकथित शिक्षित लोगों की विश्व दृष्टि को पूरी तरह से पलट दिया है। स्कूली शिक्षा ने धार्मिक अन्धविश्वास के स्थान पर बस वैज्ञानिक अन्धविश्वास को जगह दे दी। उसने हमें अलग तरह की आस्था रखने वाला बना दिया; हमें सक्रिय रचनाकर्ताओं और ज्ञान के आविष्कारकों के स्थान पर लिखित पाठों और विशेषज्ञों के निष्क्रिय भक्तों में तबदील कर दिया। अब हम संसार को जानने के लिए अपनी इन्द्रियों, भावनाओं और अनुभव को प्रयोग में नहीं लाते।

यह बात इस देश की सब शैक्षिक संस्थाओं के बारे में कही जा सकती है। हमारे अस्तित्व के सभी पक्ष इस भ्रमपूर्ण अनुकूलन के अन्तर्गत आ गए हैं। जहाँ तक सूचना और जानकारी का सवाल है, हम जो भी सीखते हैं, पश्चिम के बारे में ही होता है। हमारी भावना स्वयं को पश्चिम से कम मानने की है, हम हीनता के शिकार हैं। हम पश्चिम का अनुकरण करते हैं और हमारी सौन्दर्यानुभूति भी परिवर्तित हो जाती है क्योंकि हम सौन्दर्य की पश्चिमी समझ को ही सीखते हैं। इसके साथ–साथ स्कूलों में ज्ञानार्जन की प्रक्रिया एक शिक्षार्थी की सब सच्ची विशेषताओं को बरबाद कर देती है। हम प्रतियोगी होना, झूठ बोलना, छल करना, स्वयं को ही आगे रखना सीखते हैं। डिजाइन का विद्यार्थी होने के नाते मैं स्वयं से सवाल करता था–मैं अपनी संस्कृति का सच्चा प्रतिनिधि कैसे बन सकता हूँ? और इसी से यह सवाल भी उठा कि संस्कृति क्या है? सौन्दर्यानुभूति और

संस्कृति, बोध और संस्कृति में क्या सम्बन्ध है?

इस देश के निरक्षर कारीगरों और बच्चों ने मुझे सुन्दरता को समझने में मदद की है।

मैं पिछले बीस साल से भी अधिक समय से ग्रामीण तथा जनजातीय समुदायों के बीच रह रहा हूँ। मैं उनके पास उन्हें 'विकसित करने' या शिक्षित करने के इरादे से नहीं गया था। मैं उनके पास अपनी सांस्कृतिक जड़ों को फिर से पाने के लिए गया था, जिन्हें मैं अपने शिक्षित होने की प्रक्रिया में खो चुका था। मैं उनसे सीखने के लिए गया था। क्योंकि 'शिक्षा' और 'विकास' से बचे रहने की वजह से वे अब भी सच्चे–खरे और अपने मूल रूप में ही हैं; वे अब भी उसी विश्व दृष्टि और संस्कृति को अपनाए हुए हैं जिसने उन्हें सदियों से जीवित रखा है।

यह अद्वितीय दृष्टिकोण मेरे लिए जनजातीय समुदायों की एक अलग तसवीर पेश करता है, और वे मुझे बुद्धिमान और विकसित दिखाई देते हैं; उनसे सीखकर ही हम एक निरन्तर टिकाऊ जीवन जीना सीख सकते हैं। परम्परागत ज्ञान को समझ पाना मेरे लिए बहुत मुश्किल रहा है क्योंकि समझ के मेरे ढाँचे पश्चिमी और तर्क–प्रवृत्त हैं। अपने दिमाग को औपनिवेशिक जकड़ से मुक्त करने और स्वयं की प्रामाणिकता को फिर से पाने की प्रक्रिया में मैं गैर–साक्षरों (इन्द्रीय साक्षरों) को जानने या उनके बीच रहने की प्रक्रिया की कुछ झलकें हासिल कर पाया हूँ।

सबसे महत्त्वपूर्ण सीख यह रही है कि सुन्दरता, बोध और मूल्य जन्मजात होते हैं, हमारी शरीर–क्रिया संरचना में स्थित होते हैं और हम इस संसार में सही हालात में हों तो ये विशेषताएँ जागृत हो जाती हैं। औपचारिक–अनौपचारिक 'शिक्षण' न हो तो भी साँस लिए जाने की ही तरह सीखने की प्रक्रिया जारी रहती है।

हस्तकारों के साथ नए डिजाइन बनाने की प्रक्रिया में मुझे इस बात का एहसास हुआ। मेरा मानना था कि सब लोग रचनात्मक होते हैं और यह भी, कि पश्चिमी संवेदना और अनुभूति का डिजाइनर होने के नाते मेरे डिजाइन से तो बात बिगड़ेगी ही। इसलिए मैंने ऐसी स्थितियाँ बनानी शुरू कर दीं जिनमें हस्तकार स्वयं डिजाइन बनाएँ और नए उत्पाद विकसित करें। और उन्होंने जो कुछ भी बनाया वह बहुत ही सुन्दर था–और मौलिक भी। इसकी वजह से मैंने हस्तकारों के समुदायों में सीखने की प्रक्रिया को और गहराई से देखना शुरू किया।

जो भी मैंने वहाँ देखा वह उस सबसे बिल्कुल उल्टा था जो हम तथाकथित शिक्षित और सभ्य लोग करते हैं।

बच्चे अपना हुनर शिक्षण या औपचारिक, व्यवस्थित ज्ञानार्जन की वजह से नहीं सीखते बल्कि खेलते हुए और वयस्कों के कृत्यों का स्वत: स्फूर्त अनुकरण करके सीखते हैं। मैंने पाया कि वे अच्छी कल्पनाशक्ति, रचनात्मकता, पक्का इरादा और निपुणता लिए हुए बहुत अच्छे पर्यवेक्षक हैं। अनुभूति और अन्दाजे का प्रयोग उनके लिए सीखने का मुख्य माध्यम है। हम वयस्कों की आदत के विपरीत, शब्दों का वे कम से कम प्रयोग करते हैं। सीखने की बुनियाद करना और अनुभव होते हैं। उनके पास पूर्ण स्वतंत्रता होती है और इसलिए बच्चों की आन्तरिक स्वायत्तता और पहलकदमी उनके द्वारा किए जाने वाले प्रत्येक काम में दिखाई देते हैं।

'ज्ञान' की आधुनिक व्यवस्था और गैर–साक्षर के 'जानने' में मुख्य अन्तर इस बात का है कि हम संसार को शब्दों, तर्क, और एक ऐसे विशेषज्ञ के माध्यम से जानते–समझते हैं जिसे एक 'मार्गदर्शक', एक संज्ञा के रूप में जाना जाता है जबकि वे संसार को अन्तर्ज्ञान और अन्दाजे से, बिना

गैर–साक्षर ग्रामीण महिला लक्ष्मी द्वारा बनाई कृतियाँ

पथ–प्रदर्शन के, या अपनी पहलकदमी से और एक क्रिया के रूप में संसार को जानते–समझते हैं।

ऐसा लगता है कि आधुनिक शिक्षा ने स्वाभाविक, प्राकृतिक प्रक्रिया को उलट दिया है और संसार को समझने के लिए बोधात्मक ढाँचे को पुन:निर्मित कर दिया है। तार्किकता, जो प्राकृतिक, स्वाभाविक प्रक्रियाओं में जानने का अन्तिम उत्पाद है, आधुनिक ज्ञान की प्रक्रिया में उसे समझ बनाने और संसाधित करने के लिए प्रयोग किया जाता है। अन्तर्ज्ञान और अन्तर्दृष्टि की कोई भूमिका नहीं है।

'प्रकृति को महसूस करना, प्रकृति को जानना' कार्यशाला अरुवाकोड, निलम्बार में गर्मियों की छुट्टियों में लगाई जाती रही है। अप्रैल और मई में कुम्हार बस्तियों के बच्चों के साथ इस कार्यशाला में इन्द्रियों और स्वायत्तता के महत्त्व को समझने, उसका एहसास होने पर बात की जाती थी। मेरा काम तो न्यूनतम सुविधा प्रदान करने वाले बस एक चपरासी का था जो उन्हें वे चीजें देखने की प्रक्रिया में डालता था जो वे आमतौर पर नहीं देखते हैं। यह काम मैं निर्देश देकर नहीं सिखाता था बल्कि स्वयं करके दिखाता था।

इस कार्यशाला से हम जिन बुनियादी मुद्दों को उठाते हैं वे हैं सीखने की प्रकृति, बच्चों में शारीरिक तौर पर पहले से पक्के तौर पर मौजूद और जड़ी हुई सौन्दर्यानुभूति, 'शिक्षक' की भूमिका आदि।

प्रतीत होता है कि हम पहले से ही सौन्दर्यानुभूति और समझ के साथ पैदा होते हैं।

यह कार्यशाला बस इसलिए है कि सुनने, देखने, चखने, छूने, महसूस करने, बनाने आदि के लिए एक स्थान मुहैया रहे। इसमें किसी प्रकार का शिक्षण नहीं होता है।

लेकिन कला–शिक्षा भी ऊपर से नीचे कुछ परोसे जाने तथा सूचना और जानकारी पर आधारित होती जा रही है; बच्चों से तथाकथित उस्तादों, माहिर कलाकारों आदि से सम्बद्ध विवरण याद रखने की अपेक्षा रहती है। मुझे एक बार एक स्कूल के बारे में पता चला जहाँ वैन गोक के चित्रों को नकल करने के लिए कहा जा रहा था। युनाइटिड किंगडम में कला–शिक्षा की यही प्रवृत्ति है। जाँचा जाता है कि बच्चे मोने, पॉल क्ली आदि कलाकारों की कृतियों को पहचान पाते हैं या नहीं। कला को इतिहास में परिवर्तित किया जा रहा है।

स्कूल की पाठ्यचर्या में कला अकेली ऐसी गतिविधि है जिसमें अन्य विषयों द्वारा पहुँचाई गई क्षति को पलटने की सम्भावना और ताकत मौजूद है।

स्कूल एक अजीब ही स्थान है जहाँ बच्चों को 'अतीत' में हुई बातों के बारे में सिखाकर दूरगामी 'भविष्य' के लिए तैयार किया जाता है। (उन्हें अलग तरह के इतिहासकारों के रूप में या जानकारी और सूचनाओं के अलग–अलग नाम वाले डिब्बों–विज्ञान, अँग्रेजी, सामाजिक, गणित आदि–के तौर पर तबदील कर दिया जाता है)।

सीखने के लिए या इस संसार को समझ पाने के लिए बच्चों को जो कुछ भी घटित हो रहा है, उस सबसे सम्बन्ध बनाने की जरूरत है।

मेरे विचार से 'कला'–शिक्षा में यह सम्भावना और ताकत है कि वह बच्चों को प्रामाणिक तथा मौलिक शिक्षार्थी/रचनाकार बनाए–विशेष तौर से तब जब उसे समझ और अनुभूति जगाने और शिक्षार्थी के जीवन–सन्दर्भ से सम्बन्ध बनाने के रूप में लिया जाए।

प्रत्येक पीढ़ी को अपने आसपास के यथार्थ से सम्बद्ध होते हुए अपनी सांस्कृतिक सुरुचियों के कुछ पक्षों को पुन: जीने, सीखने, रचने और गढ़ने की आवश्यकता रहती है। एक सन्दर्भ में मूलबद्ध सौन्दर्यबोधी समझ ने ही कभी संसार भर में भिन्न–भिन्न संस्कृतियों को पैदा किया।

हमारी इन्द्रियाँ बाहर के ही नहीं हमारे भीतर के संसार का भी द्वार हैं। उनसे सम्बोधित होना जरूरी है और वह भी इस तरह कि सब इन्सानों में निहित, स्वाभाविक, शरीर–विज्ञानी प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिल पाए।

रंगीन कागज से बना कोलाज

सुरुचि और संवेदना एक तरह से इन्द्रियों और भावनाओं को जागृत करने का मसला है।

सौन्दर्यबोधी समझ और रचनात्मकता को जागृत करना और उसका विकास न केवल कला के सब रूपों का आधार है बल्कि हमारी सब गतिविधियों की केन्द्रीय विशेषता भी है।

गीत गाने, रेखा–चित्र बनाने और रंग भरने की दक्षताएँ सिखाने की बजाए यह जागृति पैदा की जाए तो एक गुणात्मक बदलाव आएगा, रवैये में भी परिवर्तन होगा। केवल कौशल के सिखाने से तो शिक्षार्थियों को मात्र बाहरी रूप पर ध्यान केन्द्रित करने में मदद मिलती है और बहुत बार वे बिना किसी विषयवस्तु के रह जाते हैं। प्रामाणिकता के साथ देखने से विषयवस्तु पर ध्यान देने में मदद मिलती है।

असली काम यह देखने का है कि हम जो कुछ भी करते हैं, उसमें सुन्दरता और रचनात्मकता से कैसे सम्बोधित हुआ जाए – फिर वह चाहे गणित हो या भौतिक विज्ञान या इतिहास।

इससे भी बड़ी चुनौती है ऐसा वातावरण उपलब्ध करवाने की जो हममें मौजूद स्वाभाविकता को आगे आने की इजाजत दे।

इसके लिए संवेदनशीलता और भरोसा होना तथा ध्यानपूर्वक योजना बनाना जरूरी है जिससे वह भी हो पाए जिसकी योजना नहीं थी।

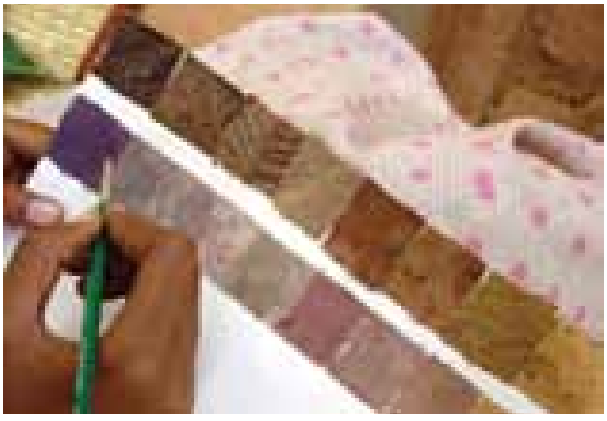

बच्चों की कला

राख तथा मिट्टी से बनी ज्यामिति आकृति

सन्दर्भ सूची

मुख्य लेख ग्रामीण जनजातीय समुदायों के साथ जीने के मेरे व्यक्तिगत अनुभव पर और यह समझने के लिए किए गए शोध और दस्तावेजीकरण पर आधारित है कि बच्चे और गैर–साक्षर हस्तकार कैसे सीखते हैं। इन मुद्दों को समझने में मुझे कई दार्शनिकों, वैज्ञानिकों, चिन्तकों और शिक्षकों से मदद मिली है। इनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं:

- van Illich, Dr. Humberto Maturana (the Chilean School of Biology of Cognition),
- Semir Zeki , professor of Neuroesthetics at University College London.
- Ellen Dissanayake, Affiliate Professor, School of Music, University of Washington
- Vilayanur Ramachandran Director of the Center for Brain and Cognition, Professor in the Psychology Department and Neuro-sciences Program at the University of California, San Diego, and Adjunct Professor of Biology at the Salk Institute for Biological Studies.

जिनान *गैर–साक्षर हस्तकारों के साथ लगभग 20 साल तक रहे हैं और उनके साथ काम किया है। इस दौरान उन्होंने बोध, रचनात्मकता, सुन्दरता की शरीरविज्ञानी बुनियादों का और आधुनिक स्कूलिंग से होने वाले नुकसानों का अध्ययन किया। इस समय वे इन्हीं समझदारियों पर आधारित एक स्कूल विकसित करने में लगे हुए हैं।* (www.reimaginingschools.wordpress.com) */ बच्चों से सीखने के मुद्दे पर शिक्षकों और अभिभावकों की कार्यशालाएँ भी आयोजित करते हैं (www.awakeningaestheticawreness.blogspot.com) / उन्होंने एम.ए.सी.टी.,भोपाल से मेकैनिकल इंजीनियरिंग की डिग्री और एन.आइ.डी., अहमदाबाद से डिजाइन में स्नातकोत्तर डिग्री हासिल की है। उनसे jinankb@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवादः** रमणीक मोहन*

10 बड़े विभाजन को पाटते हुए

jchUæukFk Vxkj dh iu% [kkt

विजय पडकी

गुरुदेव रबीन्द्रनाथ टैगोर इस देश के महानतम कलाकार ही नहीं, गहरी तार्किक सोच और शुद्ध वैज्ञानिक स्वभाव के इन्सान भी थे। अल्बर्ट आइंस्टाइन, जिन्हें अकसर 'सदी का वैज्ञानिक' माना जाता है, टैगोर के साथ विमर्श में रहे, और उन्होंने बेझिझक इस बात को स्वीकारा कि इस विमर्श के बाद उन्होंने स्वयं को पहले से अधिक ज्ञान–सम्पन्न पाया। इससे हमें कला और विज्ञान के प्रति टैगोर के परिप्रेक्ष्य के बारे में बहुत कुछ देखने को मिलता है। कई लोग टैगोर को इस उपमहाद्वीप का दा विंची मानते हैं, एक ऐसा महान विचारक जो कला और विज्ञान में कोई अन्तर नहीं करता था, और जिसने वास्तव में इन दोनों के परस्पर व्यवहार की लगातार जिन्दादिल छानबीन जारी रखी। यह शायद मानवता द्वारा ईजाद किया गया ऐसा विभाजन था जो उसके लिए किसी भी तरह मददगार नहीं था।

इस विभाजन का सामना करते हुए दो सवाल हमेशा हमारे सामने होते हैं:

- यह विभाजन हुआ कैसे?
- इस बारे में हम क्या कर सकते हैं?

शिक्षा की पाठ्यचर्या और उससे वाबस्ता शिक्षा–पद्धति इन्सान द्वारा बनाए गए हैं। इसलिए सम्भावना रहती है कि वे अपने समय के उत्पाद होंगे। भारत में पाठ्यचर्या–विषय के रूप में अँग्रेजी साहित्य को ही लीजिए। हम यह जानते ही हैं कि ब्रिटेन के बाहर के स्कूलों और कॉलेजों में अँग्रेजी साहित्य–शिक्षण औपनिवेशिक प्रक्रिया की पैदावार था। शुरुआत में यह विज्ञान, भूगोल या गणित की तरह पाठ्यचर्या में पढ़ाया जाने वाला 'विषय' नहीं था। एक नाटक से एक अंश यहाँ पर देना शायद उचित ही होगा। यह वार्तालाप लगभग 60 वर्ष के जीत मुखर्जी नाम के भारतीय इंजीनियर और ब्रिटिश भारत के एक स्कूल में उसकी शिक्षिका रही सुश्री एलिस टेलर के बीच है। जीत अपनी शिक्षिका से ब्रिटिश शैक्षिक व्यवस्था में प्राप्त शिक्षा के प्रति बहुत आभार प्रकट करता है। दूसरी ओर सुश्री टेलर बहुत बुरा महसूस कर रही है कि उसने युवा भारतीयों के दिमागों को प्रदूषित किया।

एलिस: *युद्ध, कत्ल–ए–आम, धरती की लूट को क्षमा किया जा सकता है, भुलाया भी जा सकता है। इन सबकी भरपाई की जा सकती है। लेकिन दिमाग को पहुँचाए गए स्थायी नुकसान को कभी क्षमा नहीं किया जा सकता। वह आपकी मौत के वक्त आपके साथ दफनाया नहीं जा सकता। वह आगे पीढ़ियों तक जाएगा।*

जीत: *आपने हमें विज्ञान और प्रौद्योगिकी दिए। संसार के साथ बात करने को एक भाषा दी, शेक्सपियर और .....*

एलिस: *वो मखमली जबान वाला मौकापरस्त?! उर्दू में उसके लिए क्या शब्द है – मतलबी, शायद?*

जीत: *विलियम शेक्सपियर, मतलबी!*

एलिस: *वो दिलफेंक जिसने अपनी मीठी जबान से लन्दन के अभिजात्य वर्ग तक का रास्ता बना लिया और उन्हें अपने शब्दजाल से मोहित कर अपने प्रिय प्रोजेक्टों, अपनी अल्हड़ फंतासियों के लिए धन वसूल कर लिया।*

जीत: *उस शब्द चतुर मोहकता को संसार की सौ जबानों में अनुवाद किया गया!*

एलिस: *सोचो, जीत, अगर यह साम्राज्य न होता तो क्या इस नाम–शेक्सपियर–का कहीं भी, कोई भी अर्थ होता?*

जीत: *कुछ भी कहो, यह महान साहित्य तो है।*

एलिस: *क्योंकि हमने तुम्हें यह विश्वास करना सिखाया कि यह महान साहित्य है। क्या तुम जानते हो, जीत, कि अँग्रेजी साहित्य साम्राज्य से पहले स्कूलों में कोई विषय ही नहीं था? भौतिक विज्ञान और गणित और भूगोल – हाँ, ये विषय सिखाए जा सकते थे। उनका अध्ययन किया जा सकता था। साहित्य तो बस पढ़ने के लिए, आनन्द उठाने के लिए था। इसे पढ़ाया या पढ़ा नहीं जाता था। अँग्रेजी साहित्य को पढ़ाई के पाठ्यक्रम के रूप में केवल साम्राज्य के हितों के लिए लाया गया।*

जीतः *क्या यह उसका दोष था कि वह इतिहास में एक महान लेखक के रूप में अलग दिखाई देता था?*

एलिसः *क्या यह उनका दोष है कि हर देश में उस जैसे सैकड़ों लोग, उस जितनी ही रचनात्मक ऊर्जा लिए हुए लोग, कभी भी बाकी संसार की नजरों में नहीं आए?*

*(**साभारः** गोल्ड एण्ड सिल्वर, बंगलौर लिटिल थियेटर, 1997। बंगलौर लिटिल थियेटर और लन्दन के रॉयल नैशनल थियेटर के बीच आदान–प्रदान के प्रोजेक्ट के हिस्से के तौर पर लिखा गया)।*

यह मेरा सौभाग्य है कि मैं देशीय ज्ञान–व्यवस्थाओं के क्षेत्र में एक अन्तर्राष्ट्रीय प्रोग्राम से सम्बद्ध रहा हूँ। यह प्रोग्राम लातिनी अमेरिका, अफ्रीका और दक्षिणी एशिया के कई देशों में चल रहा है। इसके अन्तर्गत टिकाऊ खेती, सामुदायिक स्वास्थ्य, चिकित्सा व्यवहार, प्रौद्योगिकी–निर्माण, पोषण, जल प्रबन्धन आदि जैसे क्षेत्रों में स्थानीय लोगों के अनुभवजन्य ज्ञान–आधार का दस्तावेजीकरण किया जाता है। प्रथाओं की बुनियाद में मौजूद 'विज्ञान' कई बार बहुत प्रभावशाली और गम्भीर होता है हालाँकि समुदाय स्वयं उसे विज्ञान नहीं कहते। यह मिट्टी के संरक्षण की बात हो सकती है या फिर वनस्पतियों से औषधियाँ तैयार करने की कला। वास्तव में तो विज्ञान की अवधारणा को जिस रूप में हम जानते हैं, उस रूप में वह कई समुदायों में मौजूद ही नहीं है। प्रकृति के साथ एक होने की चेतना है, बस।

क्या यह सम्भव है कि कला और विज्ञान की अवधारणाएँ हमारी बोधात्मक व्यवस्था में एक ढाँचागत सैद्धान्तिक संरचना के उच्च–कोटि स्तर पर कार्य करती हों? दूसरे शब्दों में मान्यताओं की एक व्यवस्था जो तय करती है कि हम मान्यताओं की किन अन्य व्यवस्थाओं में विश्वास रख सकते हैं? इतिहास में इन दो अलग–अलग ढाँचागत सैद्धान्तिक संरचनाओं को ही लें :

- टॉलमी द्वारा प्रतिपादित धरती–केन्द्रीय ब्रह्माण्ड का मॉडल।
- कॉपरनिकस का सूर्य–केन्द्रीय ब्रह्माण्ड का मॉडल।

एक ढाँचागत सैद्धान्तिक संरचना के रूप में कार्य करते हुए पहले मॉडल ने तय किया कि सही विज्ञान और गलत विज्ञान क्या है। दूसरे मॉडल ने जब पहले का स्थान ले लिया, तो उसने भी ऐसा ही किया।

इसी प्रकार यह भी सम्भव है कि हमारे पास दो बहुत ही अलग–अलग ढाँचागत सैद्धान्तिक संरचनाएँ हों जो "सभ्य" लोगों की विज्ञान–प्रौद्योगिकी वाली विश्वदृष्टि तथा "देशज, स्थानीय" लोगों की कला–विज्ञान विश्वदृष्टि की व्याख्या करती हों :

- धरती इन्सान की है।
- इन्सान धरती का है।

यह दलील दी जा सकती है कि बच्चे के उद्देश्यपूर्ण बोधात्मक विकास की दृष्टि के नजरिए से कला और विज्ञान का विभाजन न केवल कोई मदद नहीं करता बल्कि असल में नुकसानदेह है। जैसा कि टैगोर का मानना था, यह अन्तर मनुष्य का बनाया है और वयस्कों की समस्या है। इसका कष्ट बच्चों पर नहीं डाला जाना चाहिए। अवधारणा के बनने के शुरुआती चरणों में जब अपने आसपास के तमाम अद्‌भुत किस्म के अनुभवों और उत्प्रेरकों को जाँचा–परखा जाता है, तो 'ज्ञान' की रचना और 'सत्य' पर बनने वाली राय के लिए परिप्रेक्ष्यों में विभिन्नता से बहुत लाभ प्राप्त होता है। जिस संसार में हम जी रहे हैं, उसमें होने वाली उल्लेखनीय घटनाओं की समझ और कद्र कला तथा विज्ञान में कोई अन्तर नहीं करती।

इस तरह अनुभव की विविधता के आलिंगन में अन्तर–इन्द्रीय अनुभव शामिल रहते हैं–जैसे, किसी तसवीर का अवलोकन करते समय किसी ध्वनि का देखना या संगीत का सुनना। वास्तव में इससे हम सीखने की एक स्वस्थ आदत में ढल सकते हैं जिसके तहत हम बाद के जीवन में बहुविध परिप्रेक्ष्यों की तलाश के लिए प्रवृत्त हो सकते हैं। इन्द्रियों से जुड़ी जानकारियों को सीमित खानों में रखकर वर्गीकृत कर दिया जाए तो चीजों की कद्र करने, उनकी समझ को समृद्ध करने का काम अवरुद्ध होता है। अकादमिक विषय–क्षेत्रों में अन्तर (और उनके लिए आवश्यक अनुशासन) की बात बाद के सालों के लिए तो महत्त्वपूर्ण हो सकती है लेकिन प्राइमरी स्तर की स्कूली–शिक्षा के दौर में इसकी जरूरत प्रतीत नहीं होती।

तर्क की यह धारा हमें इस व्यावहारिक सवाल की ओर ले जाती है कि शुरुआती सालों में ज्ञान–निर्माण के समावेशी

नजरिए को बढ़ावा देने के लिए क्या कुछ किया जा सकता है। टैगोर की योजना में तो इसका बहुत ही आसान जवाब था—कल्पनाशक्ति को बढ़ावा दो। कम—उम्र लोगों के साथ और उनके लिए अपने काम में टैगोर कहानियाँ बनाते थे तो उनमें एक बच्चे की मासूमियत के साथ—साथ विषयवस्तु की गहराई और गम्भीरता रहती थी। वे कभी भी बच्चों को सबक देने के मकसद से सम्बोधित नहीं होते थे बल्कि कहानी सुनाने की उनकी कला में यह स्वीकृति थी कि एक बच्चा उससे कहीं उच्च स्तर की कल्पना (और समझ तथा बोध) के काबिल होता है जितने के काबिल उसे वयस्कों द्वारा समझा जाता है। यह सिद्धान्त टैगोर ने स्वाभाविक, सहज बोध से पा लिया था और बाद में बोध—विज्ञान और बाल—विकास अध्ययनों ने इस सिद्धान्त को पर्याप्त रूप से बल प्रदान किया। कल्पना करने की क्षमता को अब स्वयं में एक उद्देश्य के रूप में लिया जाता है, कलाओं और विज्ञान की दूसरे स्तर की क्षमताओं से भी उच्च। कल्पनाशक्ति का मंत्र उनके आत्मकथात्मक विचारों समेत टैगोर की लिखतों में बार—बार आता है। उदाहरण के लिए *"... मुझे जब—जब मौका मिला, प्रकृति के जादुई आकर्षणों से मुझे अपार खुशी मिली। अत्यधिक भौतिक सम्पत्ति दिमाग को कुन्द और सुस्त कर देती है। हम भूल जाते हैं कि खुशी हमारे अन्दर से पैदा होती है न कि बाहर से। यह वास्तव में बड़े होने का सबसे पहला सबक है। एक बच्चे के पास जो कुछ है वह बहुत कम और तुच्छ हो सकता है लेकिन उसके अन्दर से प्राप्त होने वाली खुशी के लिए उसे इससे अधिक कुछ चाहिए भी नहीं। जब हम बच्चे को खिलौनों से लाद देते हैं तो उसे दुखी और दयनीय बना देते हैं, खेल की उसकी अनुभूति और सुरुचि को बिगाड़ देते हैं।"*

हम बहुत आसानी से कलाओं को कल्पनापूर्ण गतिविधि के एक रूप की शक्ल में देख सकते हैं। विज्ञान को भी एक कल्पनाशील गतिविधि के रूप में देखा जाना चाहिए, क्योंकि यह हमें उन अमूर्त तथ्यों को समझ पाने में मददगार होता है जिन्हें हम जरूरी नहीं कि परम्परागत अर्थों में ही देखें। जितना अधिक एक बच्चा कल्पना करने की क्षमता लिए होगा, उतनी ही अधिक उपजाऊ धरती ज्ञान—निर्माण के लिए होगी। कलाओं के समकालीन शिक्षाशास्त्रीय तरीकों का कल्पनाशक्ति की क्षमता को पोषित करने में बहुत महत्त्व हो सकता है, खासतौर से उस सूरत में जबकि वे उपदेशात्मक होने के बजाए सहजता पैदा करने वाले और मददगार होते हैं ।

स्कूली पाठ्यचर्या में थियेटर की गतिविधि को विविध बुद्धि कौशल विकसित करने में विशेष तौर से प्रभावशाली माना जाता है। साथ ही अनुभवजन्य कार्यप्रणाली पर इस गतिविधि की उच्च निर्भरता की वजह से मस्तिष्क के दाएँ और बाएँ हिस्से के विकास के अन्तर को घटाने और समाप्त करने में भी इसे प्रभावशाली माना जाता है। स्कूलों में थियेटर—अध्ययन के महत्त्व की इस समझ में से ही शिक्षा में थियेटर का विशेषज्ञ—विषय निकला है।

आम धारणा के विपरीत शिक्षा में थियेटर केवल पढ़े जा रहे पाठ के 'सन्देश' के विवरण वाले दृश्यों की 'अदायगी' ही नहीं है। अदायगी तो शिक्षा में थियेटर के सम्भावित महत्त्व का एक छोटा सा अंश मात्र है — वह अनुभवजन्य कार्य—विधि की उपलब्ध ताकत का इस्तेमाल नहीं करती। इसके अलावा इस प्रकार की अदायगी का नयापन जल्द ही घिस जाता है और उसे लम्बे अर्से तक बनाए नहीं रखा जा सकता। भारत में इससे सम्बद्ध जमीन बहुत विकसित नहीं है, मुख्य तौर से इसलिए कि थियेटर की वृहत संस्था ही बहुत कम विकसित है।

विजय पडकी *थियेटर—शिक्षक हैं। वे थियेटर में 55 वर्ष से सक्रिय हैं और 1960 में शुरू हुए बंगलौर लिटिल थियेटर के प्रारम्भ से ही आजीवन सदस्य हैं। व्यवसाय की दृष्टि से वे मनोविज्ञान—विशेषज्ञ और व्यवहारवादी वैज्ञानिक हैं तथा संगठन एवं सांस्थानिक विकास के क्षेत्र में महारत रखते हैं। वर्तमान में वे थियेटर—शिक्षा को अपना मिशन मानने वाली नवरचित एकैडमी ऑफ थियेटर आर्ट्स के अवैतनिक प्रधान हैं। उनसे vijay@bangalorelittletheatre.org या vpadaki.theatre@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवादः** रमणीक मोहन*

एक शिक्षक सोचता है...

सुरक्षा रावत
कला अध्यापक, राजकीय इन्टर कॉलेज, श्रीकल्खल, उत्तरकाशी।

मेरा सरकारी स्कूल उत्तरकाशी से करीब 60 किलोमीटर की दूरी पर, मुख्य सड़क से 2-3 किलोमीटर अन्दर स्थित है। सीधी चढ़ाई है और स्कूल कुछ गाँवों के बीच में है। आसपास खूबसूरत पहाड़ हैं जिन पर मवेशी चरते रहते हैं।

मैं पिछली अक्तूबर में कला–अध्यापक के तौर पर नियुक्त हुआ और कला तथा संस्कृति का काम मेरे जिम्मे है। थियेटर के साथ मेरा हमेशा से ही करीबी रिश्ता रहा है और मेरी इस दिलचस्पी ने मुझे मेरे विद्यार्थियों के नजदीक आने में मदद की। इस इलाके में मूलभूत सुविधाओं का भी अभाव है लेकिन प्रत्येक पहाड़ पर मोबाइल टावर हैं। बच्चों के पास कला से सम्बद्ध सामग्री हो चाहे न हो, उनमें से प्रत्येक के पास मोबाइल तो अवश्य था। इसलिए पिछले साल के दौरान मैंने अपनी सम्पूर्ण ऊर्जा अपनी कक्षाओं के लिए कला से सम्बद्ध सामग्री जुटाने में लगाई।

सर्दियों की धूप में बच्चे और मैं विचार–विमर्श के लिए एकत्र हुए। हमने परम्परा से हटते हुए, कक्षा के कमरे से बाहर आकर बातें कीं और माहौल बहुत ही सुखद हो गया। कक्षा 6 से 12 में करीब 350 बच्चे थे और कभी–कभी मैं एक ही समय पर एक से अधिक कक्षा के बच्चों को पढ़ा रहा होता था। हमें एहसास भी नहीं होता था कि वक्त कब बीत गया – बच्चे अपने काम में इतने मगन हो जाते थे कि वे भोजनावकाश के बाद तक भी काम में लगे रहते।

अब से पहले बच्चों के लिए कला गणित जैसे ही किसी भी अन्य विषय की तरह थी और वे बहुत ही यांत्रिक ढंग से बस पत्थर या फूल या फल आदि बनाते रहते थे। मैंने बने–बनाए पाठ्यक्रम से हटकर कुछ अलग और रोचक करने की कोशिश की। हमने तरह–तरह के पेड़–पौधे–जीव बनाए, विशेष तौर से पत्ते। बच्चों ने स्वयं करीब 40-50 किस्म के पत्ते एकत्र किए – सच कहूँ तो स्वयं मैंने हरे रंग के इतने शेड और पत्तों पर ऐसी नाजुक रूपरेखाएँ पहली बार देखीं।

मैंने उन्हें मूल रंगों के बारे में भी सिखाया। लाल तथा पीले के मेल से नारंगी रंग बनने के बारे में बताया, लाल और हरे रंग के मेल से काला रंग बनने की बात या लाल और नीले से बैंजनी रंग बनने की बात भी सिखाई।

मुझे याद है कि जब पिछले साल बहुत समय तक उनके पास कला–सामग्री नहीं थी तो मैंने उन्हें पेंसिलें और पानी के रंग उपलब्ध करवाए। इसका खर्च मुझे ही उठाना पड़ा लेकिन मैं सन्तुष्ट हूँ कि यह सामग्री प्रयोग में लाई गई। इससे रवैये में बड़ा परिवर्तन आया।

नब्बे प्रतिशत बच्चे पहाड़ भी ढंग से नहीं बना पाते थे। वे अपार सुन्दरता की गोद में बैठे थे मगर शानदार पहाड़ों, दूर तक दिखाई देते देवदार के पेड़ों तथा मीलों तक फैली हरियाली ने भी कभी उनके मन में सुन्दरता का विचार पैदा नहीं किया। वे बस तयशुदा पाठ्यक्रम को पूरा करना और इम्तिहान देना चाहते थे। इस बात की किसी को भी चिन्ता नहीं थी कि वे असल में क्या सीख या समझ पाए थे। मेरा उद्देश्य रहा है कि पाठ्यक्रम को ध्यान में रखा जाए लेकिन अन्य सम्बद्ध चीजें भी सिखाई जाएँ – जैसे, कला क्या है और उसका हमारे जीवन में क्या महत्त्व है जैसे प्रश्नों के उत्तर। मेरा प्रयास उनके परिप्रेक्ष्य को बदलने का रहा है। कला एक व्यक्ति के विकास के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है, और वह हमारे जीवन, हमारे घर, हमारे वस्त्रों में स्पष्ट तौर पर दिखाई देती है। मेरा उद्देश्य कुछ बच्चों को प्रेरित करने का है कि वे कला को एक पेशे के तौर पर अपनाएँ – लेकिन यह भी है कि वे चाहे जो करें, जीवन में कलात्मक दृष्टिकोण रखें। यह मेरी सच्ची इच्छा है। **अनुवाद:** रमणीक मोहन

11 स्कूली शिक्षा में कठपुतली का उपयोग

डॉ. मिरेला फ़ोर्स्बर्ग अह्ल्क्रोना

शिक्षा के औजार के तौर पर कठपुतलियाँ विचारों, भावनाओं और अनुभवों के जीवन्त प्रतीक का काम करती हैं। शोधात्मक रुचियाँ कठपुतली के अर्थ और महत्त्व की ओर निर्देशित होती हैं–मानव गतिविधि में इस गतिविधि के व्यक्तिपरक उत्पाद द्वारा। मेरे अनुसन्धान का उद्देश्य कठपुतली की सम्प्रेषण सम्बन्धी विशेषताओं पर रौशनी डालते हुए स्कूल–पूर्व और स्कूली शिक्षा में कठपुतली की एक मध्यस्थ औजार के सापेक्ष, भाषाई और क्रियात्मक सम्भावनाओं के बारे में ज्ञान विकसित करना है।

पपेट यानी कठपुतली क्या है?

शब्द पपेट लातिनी शब्द 'प्युपा' से निकला है, जिसका एक अर्थ छोटा जीव भी है। अर्थ इस पर भी निर्भर करता है कि एक दर्शक पपेट को–जो हिलता है, बोलता है, और अपने प्रदर्शन में क्रियाओं और विषयवस्तु के मध्यस्थ का काम करता है–किस नजर से देखता है। जब कठपुतली एक व्यक्ति–विशेष के रूप में भावनाएँ और विचार व्यक्त करती है तो उसे एक ऐसे 'वास्तविक' इन्सान के तौर पर देखना आसान हो जाता है जिसके साथ हम सम्प्रेषण कर सकते हैं।

एक वस्तु के सजीव हो जाने का विचार लोगों को हमेशा रोमांचित करता रहा है और उनकी कल्पना को चुनौती देता रहा है। कठपुतली (एक दस्ताना, रस्सी या छड़–कठपुतली) एक भौतिक हस्तकृति है जिसमें विशेष हरकतें तो शामिल की जाती हैं लेकिन उसके प्रयोग से सम्बन्धित उद्देश्य और

गतिविधियाँ नहीं। हरकत, बोल और रूपरंग जैसी बाहरी विशेषताओं के माध्यम से पैदा किए गए दृष्टि के प्रभाव के जरिए कठपुतली की क्रियाएँ दर्शकों के विचारों, भावनाओं और सम्बद्धताओं को जागृत कर सकती हैं।

हमारी मदद से कठपुतली जीना शुरू कर सकती है, वह कर सकती है जो अकल्पनीय है–यानी उसका क्रिया में होना और जीवित होने का भ्रम पैदा करना। कठपुतली की सम्प्रेषण की सम्भावनाएँ सर्वप्रथम तो किसी व्यक्ति के साथ सम्बन्ध में उभरकर आ सकती हैं; सम्प्रेषण के माध्यम से ही एक कठपुतली के अस्तित्व को स्वीकारा और विकसित किया जा सकता है। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो सम्प्रेषण से सम्बन्धित कठपुतली की विशेषताओं को अलग–अलग क्षेत्रों में अलग–अलग उद्देश्यों के लिए इस्तेमाल किया गया है, जैसे कि थियेटर, शिक्षा, चिकित्सा और राजनीति के क्षेत्रों में।

एक कठपुतली का शरीर और बनावट आमतौर पर तकनीकी नियमों द्वारा निर्धारित होते हैं। लेकिन शिक्षा में कठपुतली के प्रयोग के लिए विषयवस्तु और उद्देश्य कई तरह के शिक्षाप्रद प्रश्नों से निर्धारित होते हैं, जैसे–क्या, कैसे, क्यों और किसके लिए? इसका अर्थ है कि एक ही कठपुतली को अलग–अलग उद्देश्यों और अलग–अलग शैक्षिक परिप्रेक्ष्यों के लिए प्रयोग किया जा सकता है।

"वास्तविक संसार" और सम्भव काल्पनिक संसारों के बीच

सम्बन्ध स्थापित करने की कठपुतली की क्षमता का अर्थ है कि दर्शक के सामने जो कुछ भी उस क्षण हो रहा होता है, वह होता भी है और नहीं भी होता—कठपुतली सच में जिन्दा नहीं है मगर वह उस पल में जो कहती और करती है, वह वास्तविक है। 'जो है' और 'जो नहीं है' के बीच 'जो हो सकता है' का सेतु कठपुतली के द्वन्द्व को प्रदर्शित और उसका प्रतिनिधित्व करता है। यह अभिनय कर रही कठपुतली की मूल विशेषता और व्यवहार है। कठपुतली की क्रियाओं को द्विदृष्टि की अवधारणा के तहत भी समझा जा सकता है, जिसका अर्थ है कि एक कठपुतली को दर्शकों के द्वारा एक ही समय पर दो अलग—अलग तरह से देखा जाता है—अभिनय में एक पात्र के तौर पर और एक काल्पनिक जीवन के रूप में।

अनुसन्धान की सैद्धान्तिक बुनियाद सामाजिक—सांस्कृतिक परम्परा में स्थित होती है। इस परम्परा में साधनों के प्रयोग को एक व्यक्तिगत और सामाजिक क्रिया के तौर पर लिया जाता है जिसमें सामाजिक तथा सांस्कृतिक प्रथाओं का अधिग्रहण अन्य व्यक्तियों, अन्य सन्दर्भों और गतिविधियों के सम्बन्ध में होता है। शिक्षा में कठपुतली का प्रयोग ऐसी क्रियाओं को लेकर होता है जो व्यक्तिगत भी होती हैं और सामूहिक भी। साथ ही वे एक—दूसरे के साथ गतिशील तरीके से सम्बद्ध भी होती हैं। अनुसन्धान की रुचि सम्प्रेषण की प्रक्रियाओं की विषयवस्तु पर केन्द्रित रहती है, जहाँ कठपुतली शिक्षक और बच्चों के बीच मध्यस्थ—साधन का काम करती है। शोधात्मक रुचि का ध्यान शैक्षिक सन्दर्भ में कठपुतली में छुपी सम्प्रेषण की सम्भावनाओं, विशेषताओं और अवसरों को उजागर करने पर भी रहता है। मध्यस्थता और 'मध्यस्थता की क्रिया' वह कड़ी है जो सोच—विचार तथा अवधारणाओं के बनने और उभरने में मददगार होती है। मध्यस्थता का सम्बन्ध इस बात से होता है कि बच्चे किस तरह कठपुतली के साथ, उसके बारे में और उसकी वजह से अपने अवधारणात्मक संसार को रचते और उसके मध्यस्थ बनते हैं, ज्ञान को विकसित करते हैं, अनुभवों का आदान—प्रदान करते हैं, सम्बन्ध स्थापित करते हैं और नई गतिविधियाँ रचते हैं (फ़ॉर्स्बर्ग अहल्क्रोना, 2012)।

शिक्षक, कठपुतली की रचना और मध्यस्थता

शिक्षाप्रद परिप्रेक्ष्य से देखें तो एक साधन के तौर पर कठपुतली की रचना मूल तौर पर बौद्धिक होती है क्योंकि वह शिक्षक द्वारा उसके काम पर हुए चिन्तन पर आधारित होती है और इस पर भी कि किस तरह कठपुतली की मदद से कुछ विशेष आवश्यकताओं को एक प्रक्रिया में से गुजारकर पूरा किया जा सकता है। कुछ रचने की प्रक्रिया रचनात्मक गतिविधि—चक्र से सम्बद्ध होती है—यह एक व्यक्ति की बौद्धिक और भावनात्मक काबिलियत में अन्त:क्रिया है, यानी विचार और भावनाएँ, दोनों रचनात्मक क्रिया के बनने में योगदान देते हैं (वायगॉत्स्की, 1971)।

यदि एक शिक्षक कठपुतलियाँ बना सकता/सकती है तो वह कठपुतली को उपयुक्त शैक्षिक उद्देश्यों और विषयवस्तुओं पर आधारित साधन के रूप में भी बना और प्रयोग कर सकता/सकती है। यह दिन—प्रतिदिन के जीवन में चिह्नित की गई स्थितियों पर प्रतिक्रिया के बारे में हो सकता है या फिर उस विशेष सामग्री के बारे में जिसे शिक्षक बच्चों के साथ काम में विकसित करना चाहता है। कठपुतली के प्रयोग में शिक्षक का व्यावसायिक/पेशेवर इरादा कठपुतली की सौन्दर्यशास्त्रीय रचना और विषयवस्तु का आधार होता है। एक कठपुतली की रचना भावनात्मक होती है क्योंकि वह शिक्षक की व्यक्तिगत प्रतिबद्धता पर आधारित होती है। बौद्धिक और भावनात्मक, दोनों तत्व कठपुतली के कलात्मक डिजाइन पर प्रभाव डालते हैं। यानी उसके सौन्दर्यशास्त्रीय डिजाइन पर—रंगों और सामग्री का चुनाव बस यूँ ही नहीं होता बल्कि शिक्षक की शिक्षाप्रद रणनीति

का हिस्सा होता है, और रंग–सामग्री आदि के माध्यम से ही एक खास इरादा या सन्देश हम तक पहुँचता है। बच्चों के साथ परस्पर अन्त:क्रिया में ही कुछ अन्य सम्भावित, छुपी हुई विशेषताएँ भी विकसित होती हैं। दूसरे शब्दों में, एक साधन के तौर पर कठपुतली स्वत:स्फूर्त कल्पना के एक बहुत ही छोटे हिस्से को लागू करती है। कहा जा सकता है कि अर्थ–निर्माण के माध्यम से, मध्यस्थता के साधन के तौर पर कठपुतली एक बौद्धिक और भावनात्मक अन्त:क्रिया का उत्पाद है।

शिक्षक अपने व्यवहार को कैसे प्रभावित करें? इस बात से सम्बद्ध विचार शुरुआत में तो बस गतिविधि के लिए एक पूर्व शर्त के तौर पर आते हैं। अलेक्सी लियोंतिएव (कोल, 2009) के मुताबिक कर्ता (शिक्षक) तो जरूरत से संचालित होता है लेकिन पात्र (कठपुतली) उद्देश्यों की प्रेरक शक्ति के माध्यम से गतिविधि की प्रक्रियाओं को दिशा देता है। जिन परिस्थितियों में शिक्षक कठपुतली के साथ सम्प्रेषण करता है, वे पात्र को जीवन्त बना देती हैं और इसे हम चीजों के पुनर्जीवित होने की संज्ञा दे सकते हैं। चीजों का पुनर्जीवित होना शिक्षक और बच्चों के बीच रिश्ते को विकसित करता और ताकत देता है। यह बच्चों में अन्तर्व्यक्तिपरकता के विकास में भी मददगार होता है, विशेष तौर से तब जब बच्चे और शिक्षक दोनों ध्यान के केन्द्र में होते हैं और जब उनके इरादे और भावनात्मक मन: स्थितियाँ भी एक से होते हैं। इस प्रकार की गतिविधियाँ बाहरी और आन्तरिक, दोनों तरह की क्रियाओं को बोधात्मक और भावनात्मक बनाती हैं।

विषय के रूप में कठपुतली और उसमें छुपी सम्बन्धात्मक सम्भावनाएँ

एक विषय के तौर पर कठपुतली का भावनात्मक मूल्य बच्चों के वार्तालाप और कठपुतली के बारे में बात करने के उनके लहजे में झलकता और विकसित होता है। यहाँ भावनात्मक मूल्य न केवल बच्चों द्वारा अभिव्यक्त भावनाओं के अस्तित्व की ओर इशारा करता है बल्कि इसमें कठपुतली के 'वास्तव में होने' से सम्बद्ध अर्थ के बारे में वार्ता/मोल–तोल भी शामिल है–और वह भी जो उस अर्थ में निहित है। जब ल्योंतिएव 'उद्देश्यों की प्रेरक शक्ति' के बारे में लिखते हैं, तो वे उस प्रक्रिया का जिक्र कर रहे हैं जिसके तहत पात्र की छुपी हुई विशेषताएँ विभिन्न सम्प्रेषणीय क्रियाओं की प्रेरक शक्ति की परस्पर अन्त: क्रिया को रचती हैं। कठपुतली पर इस बात को लागू करें तो इसका अर्थ है कि कठपुतली की विशेष क्रियाएँ 'छुपी हुई हैं' और वे तब ही सामने आती हैं जब कठपुतली हाथ पर 'क्रिया में आती है', और अन्त:क्रिया में आती है। कठपुतली की छुपी हुई सम्बन्धात्मक सम्भावना तब उभरती है जब बच्चे, कठपुतली के साथ सम्बन्ध में भावनात्मक मूल्य विकसित करते हैं और ज्ञान से सम्बद्ध तथा भावनात्मक उद्देश्यों पर आधारित सम्प्रेषणीय क्रियाएँ करते हैं जो वास्तविक और कल्पित संसारों के बीच की सीमाओं को लांघ जाती हैं।

मध्यस्थता और कठपुतली की सम्भावित भाषाई शक्ति सामाजिक–सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य के ढाँचे के अन्तर्गत एक बुनियादी मान्यता यह है कि भाषा समाज और व्यक्तियों के बीच एक कड़ी का काम करती है, क्योंकि वह एक व्यक्ति को मदद करती है कि वह अन्य लोगों के परिप्रेक्ष्यों में भागीदार हो पाए; यह मदद भी करती है कि वह मध्यस्थता में आए अनुभवों में भागीदार हो पाए। लेव वायगॉत्स्की (1986) के अनुसार भाषा लोगों के बीच और लोगों के स्वयं के भीतर कड़ी का काम करती है – यानी बाह्य सम्प्रेषण और आन्तरिक सोच–विचार के बीच कड़ी का काम करती है।

विवरण के रूप में सम्प्रेषण बस घटनाओं का सीधा–साधारण

प्रस्तुतीकरण मात्र नहीं होता। वह किसी के स्वयं के परिप्रेक्ष्यों, उद्देश्यों, मूल्यों, और समकालीन तथा स्थानिक दिशा–निर्धारण को भी गले लगाता है–ये वे पक्ष हैं जिन्हें जेरोम ब्रुनर (1990) 'चेतना की दृश्यभूमि' कहते हैं। ब्रुनर (1986, 2002) तथा बर्ट वैन ओर्स (2003) के अनुसार वर्णन करना और वृत्तान्त अनुभवों को व्यवस्थित करने का ही एक तरीका है। इन्हें सामाजिक परिघटनाओं की तरह देखा जा सकता है और सम्प्रेषण के एक ऐसे मूल रूप की तरह, जिसके माध्यम से लोग विचार और भावनाएँ व्यक्त करते हैं।

कठपुतली में छुपी भाषाई शक्ति की सम्भावना तब उभरकर आई जब उससे सम्प्रेषण करते हुए बच्चे सांस्कृतिक और सामाजिक अनुभवों के मध्यस्थ बने, उन्होंने ज्ञान और ज्ञानार्जन की अपनी अवधारणाओं को व्यक्त किया तथा भाषा के संकेतात्मक, चिह्नात्मक और आलंकारिक कृत्यों को विक. सित किया। आमतौर पर कठपुतली के साथ बच्चों की मौखिक और गैर–मौखिक गतिविधियों में आज के ज्वलन्त मुद्दे प्रस्तुत हुए लेकिन वास्तविक और कल्पित संसारों की सीमाओं से बाहर निकलकर कठपुतलियाँ एक सम्भावित भविष्य की परिकल्पनाओं को भी जन्म देती हैं।

त्रिपक्षीय रिश्ते और कठपुतली की क्रिया–सम्बद्ध सम्भावित शक्ति

त्रिपक्षीय रिश्ते शिक्षक, कठपुतली और बच्चों के बीच सम्प्रेषण के दौरान विकसित होने वाले सम्बन्ध हैं–ये सामाजिक ज्ञानार्जन की गतिविधियों में भाग लेने, साझा ज्ञान रचने और विकसित करने का एक तरीका हैं। सम्प्रेषण एक साझा चीज यानी कठपुतली पर और किन्हीं सन्दर्भों में उसकी क्रियाओं पर आधारित होता है। त्रिपक्षीय रिश्ता शैक्षिक प्रक्रिया में अर्थ–निर्माण के माध्यम से पात्र की व्यक्तिपरक और वस्तुपरक प्रक्रिया से सम्बद्ध होता है। वायगॉत्स्की (1986) शैक्षिक प्रक्रिया को एक भागीदारीपूर्ण प्रक्रिया और अन्त:क्रिया मानते हैं जिसमें स्वत:स्फूर्त और वैज्ञानिक अवधारणात्मक सोच–विचार के बीच आदान–प्रदान विकसित होता है। और यह सम्बद्ध पक्षों के बीच परस्पर सहायता तथा अन्त: क्रिया से हो पाता है।

कठपुतली में छुपी क्रिया से सम्बद्ध सम्भावना एवं शक्ति इन त्रिपक्षीय रिश्तों के विकास के माध्यम से निकलकर आई, और इसे हम वायगॉत्स्की के 'निकटतम विकास के क्षेत्र' (वायगॉत्स्की, 1978) के अर्थ में भी व्याख्यायित कर सकते हैं। कठपुतली में छुपी क्रिया–सम्बद्ध सम्भावना एवं शक्ति बच्चों के खेल में और सामूहिक तथा रचनात्मक क्रियाओं के माध्यम से उभरकर आती है। बच्चों की प्रस्तुतियाँ और कठपुतलियों के साथ खेल उनके द्वारा स्थितियों को समझने की कोशिश को दर्शाते हैं, जहाँ कल्पना और वृत्तान्त महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

References:

1. Bruner, J. (1986). Actual minds, possible worlds. Cambridge, MA: Harvard University Press.
2. Bruner, J. (1990). Acts of Meaning. Cambridge, MA: Harvard University Press.
3. Bruner, J. (2002). Making Stories. Law, Literature, Life. Cambridge, MA: Harvard University Press.
4. Cole, M. (2009). The development of Mind. Selected Works of Aleksei Nikolaevich Leontyev. Marxists Internet Archive. P:O:Box1541; Pacifica,CA 94044; USA
5. Forsberg Ahlcrona, M. (2012). The puppet´s communicative potential as a mediating tool in preschool. DOI: 10.1007/s13158-012-0060-3, inpress. International Journal of Early Childhood
6. van Oers, B. (Ed.). (2003). Narratives of Childhood. Theoretical and Practical Explorations for the Innovation of Early Childhood Education.Amsterdam: VU University Press.
7. Vygotsky, L: S. (1971). The Psychology of Art. (The Massachusetts Institute of Technology). Cambridge, MA: MIT Press.
8. Vygotsky, L. S. (1986). Thought and language. Cambridge, MA: MIT Press.
9. Vygotsky, L.S. (1978). Mind in society: The development of higher psychological processes. Cambridge, MA: Harvard University Press.

डॉ. मिरेला फ़ोर्स्बर्ग अह्ल्क्रोना *युनिवर्सिटी ऑफ स्कोव्द, स्वीडन में लेक्चरर तथा शोधकर्ता हैं। एक शोधकर्ता के रूप में वे ऐसी परियोजनाओं में भाग लेती हैं जिनका उद्देश्य कठपुतलियों को एक शैक्षिक साधन तथा माध्यम के रूप में इस्तेमाल करते हुए नए तौर–तरीकों का आविष्कार करना और रचना है। प्रारम्भिक शिशु शिक्षा में वे शिक्षण में मध्यस्थ साधन के तौर पर कठपुतली तथा सम्प्रेषण के एक अलग तरीके के रूप में कठपुतली–खेल से सम्बद्ध पाठ्यक्रम पढ़ाती हैं। उनसे* mirella@viovio.se *पर सम्पर्क किया जा सकता है।* ***अनुवादः*** *रमणीक मोहन*

12 शिक्षा में परम्परागत मंच-कलाएँ

वी. आर. देविका

मैं अपनी कक्षा की शुरुआत हमेशा एक कहानी से करती हूँ। कहानी किसी भी बात से बनाई जा सकती है। बात बस कक्षा की आयु को ध्यान में रखने की है। जैसे, कक्षा के रास्ते में खिड़की की चौखट पर एक छोटी मकड़ी के बारे में छोटी सी कहानी जिसमें मकड़ी मुझसे प्रश्न करती है कि मैं कक्षा में क्या करने जा रही हूँ, अपने साथ कई उत्तर लाती है। कहानी हमेशा होती ही है।

प्राचीन भारतीय नाट्यशास्त्र के मुताबिक कहानी की रचना शिक्षण के एक तरीके के तौर पर हुई। महारत हासिल करने लायक 64 कलाओं में से एक, कहानी सुनाने की कला आपके सन्देश के लिए एक मूड तैयार करती है। नाट्यशास्त्र भी एक कहानी से प्रारम्भ होता है। जब यह संसार लालच और दुख में लिप्त था तो विद्वान लोग ब्रह्म के पास गए और उनसे कुछ ऐसा रचने को कहा जो सम्पूर्ण ज्ञान का सारतत्व सभी स्तर के लोगों तक पहुँचाए। ब्रह्म कुछ देर के लिए ध्यानमग्न हुए, नाट्यवेद या पंचमवेद की रचना की और मानवता को रचनात्मक कलाएँ प्रदान कीं। उन्होंने ज्ञानार्जन के लिए दृश्य–सहायक सामग्री का सृजन किया।

गतिविधि: क्या हम कलाओं की सूची बना सकते हैं?

'नाट्यशास्त्र' में ब्रह्म कहते हैं कि कलाओं की रचना "अज्ञानियों में अक्लमन्दी, और विद्वानों में ज्ञान पैदा करने के लिए, राजाओं के लिए मनोरंजन और दुख के मारों के लिए धैर्य प्रदान करने के लिए की गई थी। विभिन्न मनोदशाओं से भरपूर, कलाएँ आत्मा की विविध प्रबल भावनाओं से अनुप्राणित और मानवता के बेहतरीन, औसत और निम्न, हर प्रकार के कृत्यों से सम्बद्ध होती हैं, बेहतरीन सलाह तथा मनोरंजन प्रदान करती हैं और अन्य सब कुछ भी।" यह शिक्षा की भी कई परिभाषाओं में से एक परिभाषा हो सकती है। शिक्षा को उसके व्यापकतम, सामान्य अर्थ में बहुत लोगों द्वारा ऐसे साधन के तौर पर लिया जाता है जिसके माध्यम से लोगों के एक समूह के उद्देश्य और आदतें एक से दूसरी पीढ़ी तक जीवित रहते हैं, और यह आमतौर पर किसी भी ऐसे अनुभव के माध्यम से होता है जिसका आपके सोचने, महसूस करने या कुछ करने के तरीके पर प्रारम्भिक असर पड़ता है। अपने संकीर्ण, तकनीकी अर्थ में शिक्षा एक औपचारिक प्रक्रिया है जिसके माध्यम से समाज जानते–बूझते हुए अपने संचित ज्ञान को स्कूलों में शिक्षा के जरिए एक से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाता है। कलाओं की रचना इसी मकसद से की गई थी।

मेरा कहना है कि शिक्षक अभिनेता भी होता है। एक अभिनेता की ही तरह वह औपचारिक पाठ को कक्षा में अपने शिक्षण के माध्यम से जीवन्त कर देता है। उसे भी अपना सन्देश पूरी तरह दिमाग में बैठाने के लिए चार्ट तथा गतिविधियों जैसी सहायक सामग्री का सहारा लेना पड़ता है।

अपना सन्देश पहुँचाने के लिए शिक्षक को सम्प्रेषण के अलग–अलग तरह के तौर–तरीके सीखने पड़ते हैं। परम्परागत मंच कलाएँ श्रोताओं तक अपनी बात पहुँचाने के लिए सम्प्रेषण (अभिनय) के चार तरीके अपनाती हैं:

1. **आंगिक अभिनय** हाथ–पाँव के माध्यम से अभिव्यक्त अभिनय होता है। शिक्षक को देखना होगा कि एक विचार को अभिव्यक्त करने के लिए शरीर का प्रयोग कैसे किया जा रहा है। क्या हम बिल्कुल सीधे खड़ा होते हैं? क्या हम किसी बात पर बल देने के लिए अपने हाथों को प्रयोग में लाते हैं? क्या हम अपनी भाव–भंगिमा और हरकतों से बच्चों तक यह बात पहुँचा रहे होते हैं कि हम व्यावहारिक शिक्षक हैं?

गतिविधि: क्या कोई विचार बिना बोले अभिव्यक्त किया जा सकता है? छोटे समूहों में इस पर विचार–विमर्श हो सकता है। किसी पढ़ाए चुके पाठ से कोई एक बात उठा लें और उसे समूह के तौर पर बिना बोले अभिव्यक्त करें।

2. **अहर्य अभिनय** विभिन्न भूमिकाओं में अभिनेता की वेशभूषा और मेकअप से सम्बद्ध होता है। यह वेशभूषा तथा अन्य तरह की शारीरिक सजावट के माध्यम से प्रदर्शित होता है। मैं इसे एक विचार को उदाहरणस्वरूप समझाने के लिए कक्षा में बाहर से लाई गई सहायक सामग्री के रूप में देखती हूँ।

गतिविधि: रेखाचित्र बनाने के माध्यम से या साज–सामान का प्रयोग करके एक विचार को कैसे अभिव्यक्त किया जाए? छोटे समूह की गतिविधि।

3. **वाचिक अभिनय** में भाषा के प्रयोग, आवाज के लहजे और उतार–चढ़ाव, लय और शब्दों पर बल आदि के माध्यम से नाटक की काव्यात्मक विशेषताओं को उजागर किया जाता है। अधिकतर शिक्षकों को इस बात का एहसास होता है कि उन्हें आवाज की जरूरत पड़ेगी। क्या हम शब्दों को चबाए–खाए बिना स्पष्टता के साथ बोलना सीखते हैं? क्या हम बोलने के अपने लहजे को ऐसा रखते हैं कि वह आसानी से समझ आ सके? क्या हम अपने उच्चारण पर ध्यान देते हैं?

गतिविधि: क्या हम एक ही वाक्य को अलग–अलग ढंग से बोल सकते हैं? छोटे–छोटे समूह वाक्य के अलग–अलग हिस्सों पर बल देकर, अलग–अलग भाव से बोलकर, अपने विचार रखने का अभ्यास कर सकते हैं। क्या हम पाठ में दिए गए बिन्दुओं से लोकप्रिय, थपकी–संगीत बना सकते हैं?

4. **सात्विक अभिनय** या मन–मस्तिष्क का अभिनय कलाकार की आन्तरिक समझ और उस क्षण के मूड को जीने का द्योतक है। क्या हम शिक्षक, शिक्षक के तौर पर अपनी भूमिका के सत्व या सारतत्व को समझते और महसूस करते हैं? क्या हम उसे व्यवहार में लागू करते हैं? क्या हमें इस बात पर ध्यान देने के लिए स्वयं को प्रशिक्षित नहीं करना चाहिए कि एक शिक्षक के तौर पर हम चारों ओर क्या फैला रहे हैं, प्रसारित कर रहे हैं?

गतिविधि: सचेत रहना ज्ञानार्जन के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण है। किसी भी समस्या के लिए प्रौद्योगिकीय समाधान या वैज्ञानिक मॉडल ही को क्यों महत्त्व दिया जाता है? सांस्कृतिक ताने–बाने में एकीकृत किए जाने से पहले कुछ विचारों की पुन: खोज होना क्यों आवश्यक है? क्या विज्ञान, कला और प्रौद्योगिकी के बारे में इच्छा और कल्पना की अभिव्यक्ति के हवाले से तथा ज्ञान में लगातार वृद्धि के तौर पर विचार करना महत्त्वपूर्ण नहीं है? अल्बर्ट आइंस्टाइन ज्ञान के मुकाबले कल्पना को अधिक महत्त्व दिए जाने की बात करते थे।

मंच–कलाएँ समझ और आनन्द की तलाश में रहती हैं, रस को एक उद्देश्य के रूप में लिया जाता है। इसे पाने के लिए कलाएँ शरीर, चेहरे के भाव–भंगिमा, संगीत, लय–ताल, वार्तालाप, कहानी सुनाना आदि के माध्यम से सम्प्रेषण का काम करती हैं। रस की अवधारणा सबसे पहले भारत के प्राचीनतम नाट्यसिद्धान्त के शोधप्रबन्ध 'नाट्यशास्त्र' में प्रस्तुत की गई, और इसे हम सौन्दर्यशास्त्रीय रसास्वादन के रूप में समझ सकते हैं। मगर यह तो इसकी सतही परिभाषा है जो इसके आध्यात्मिक और दर्शनशास्त्रीय निहितार्थ के साथ न्याय नहीं करती। इसे सामान्य आनन्द या मनोरंजन से लेकर सम्पूर्ण तल्लीनता तक के अनुभव के रूप में देखा जाता है।

देशीय मंच–कलाओं के रूप

रूपों की विविधता को देखिए:

- जनजातीय मूक–अभिनय और नृत्य–नाटकों समेत परम्परागत लोक–थियेटर या ग्रामीण नाट्यरूप।
- कठपुतलियों की कला।
- मौखिक साहित्य और संगीत के विभिन्न रूप, लोकसंगीत शैलियाँ, गाथा–गीत, हरिकथा, कबिगन, कहानी सुनाना आदि।
- मेले और त्यौहार, सामाजिक सभाएँ एवं अन्य समारोह।
- लोक नृत्य

- रीतियों से सम्बद्ध प्रतीक–चिह्न, परम्परागत डिजाइन और नमूने
- ध्वनि संकेत और वाणी स्थानापन्न (वाणी के लिए प्रातिनिधिक स्वरूप)

उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश के लोकप्रिय गाथा–गीतों का आल्हा रूप आज भी दशकों बाद तक अपनी विषयवस्तु और रूप–स्वरूप दोनों शक्लों में जीवित है। यह जानते हुए कि इस शैली का आम लोगों के साथ कितना गहरा सम्बन्ध है, कई लोक कवियों ने देश के ग्रामीण इलाकों से सम्बोधित होने के मकसद से इसमें कई नए शब्द भी जोड़ दिए। राजनैतिक दल और विक्रय को बढ़ावा देने वाली एजेन्सियाँ भी अपना सन्देश लोगों तक पहुँचाने के लिए इन कथा–वाचकों को प्रयोग में लाती हैं। इस प्रकार आल्हा के इस्तेमाल ने उसके प्रभाव को उन सांस्कृतिक इलाकों के अलावा भी बढ़ाया है जहाँ यह परम्परागत तौर पर जीवित रह पाया है। अन्य भाषाई क्षेत्रों से भी हमें ऐसे ही अन्य उदाहरण मिलते हैं।

सम्प्रेषण के आधुनिक साधन उपलब्ध होने के बावजूद परम्परागत लोक–माध्यम अब भी जिन्दा हैं–इस तथ्य के चलते यह और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि शिक्षाशास्त्री उनकी वैधता को जाँचें।

जब मैंने शास्त्रीय नृत्य और उसकी निर्माण–विद्या को तथा लोक–कलाओं के विभिन्न रूपों और उनकी गतिशीलता को देखा तो मुझे लगा कि इन्हें हमने अपनी स्कूली व्यवस्था में स्थान नहीं दिया जबकि उनका स्थान वहाँ है। भरतनाट्यम, कत्थक या ओडिसी जैसे नृत्य–रूप की शिल्प–कला और विन्यासों में एक गणितीय ढाँचा नजर आता है। इन्हें ज्यामिति और भूगोल के साथ बहुत आसानी से सम्बद्ध किया जा सकता है। संगीत में भी गणित भरपूर ढंग से मौजूद है।

जरूरी है कि हम बच्चों में अचम्भे की भावना विकसित करें–परम्परागत स्वरूपों की गतिशीलता, किस प्रकार उनमें समय और स्थान की समस्याओं के समाधान किए जाते हैं, किस प्रकार वे निरन्तर समकालीन घटनाओं को महाकाव्यों के साथ सम्बद्ध करते हैं, उनका लचीलापन और किस प्रकार कपड़े के पर्दे के इस्तेमाल जैसी तकनीकें अपनी अवधारणा में अति–आधुनिक हैं।

देवरत्तम देवदन्दुभि की ताल पर नाच का एक गैर–काव्यात्मक रूप है। मैंने जब यह 1984 में देखा तो इसकी अमूर्तता ने मेरा ध्यान अपनी ओर खींचा–इस बात ने भी, कि यह कला का एक गैर–काव्यात्मक रूप है और पुरुषों का नृत्य है। मैं इसे स्कूल में लाने और लड़कों को इसमें प्रशिक्षित किए जाने की बात से बहुत आनन्दित हुई। लड़कों को लगता है कि नृत्य तो बस लड़कियों के लिए होता है। देवदन्दुभि की तालों के ध्वनीय शब्दांश एक ऐसा मौखिक अभ्यास है जो उच्चारण और पठन के काम को आसान बना देगा। लयबद्ध सस्वर वाचन शरीर को भी एक लय और शालीनता प्रदान करता है। हमारे देश के कोने–कोने में कला के अमूर्त रूप उपलब्ध हैं। आवश्यकता है कि शैक्षिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए पूरे दिल से इनकी व्याख्या की जाए। स्थानीय संस्कृति के साथ सेतु बनाने के लिए महत्त्वपूर्ण है कि मंच–कला के स्थानीय रूपों का प्रयोग किया जाए।

लोक–थियेटर और उसके कुछ रूप

थेरुकूथु तामिलनाडु के उत्तरी क्षेत्रों में परम्परागत मंच–कला का एक लोकप्रिय रूप है। यह गाथा–गीत, संगीत–नाटक और नृत्य–नाटक का एक बहुत ही सशक्त संगम–रूप है। इसकी शुरुआत सोलहवीं सदी से मानी जाती है। इसमें अभिनीत नाटकों की विषयवस्तु आमतौर पर मिथकीय रूप–स्वरूप लिए होती है। लेकिन कहानियों को समकालीन रंग दिया जाता है।

थेरुकूथु का प्रयोग गाँव में अच्छी फसल होने पर धन्यवादस्वरूप या वर्षा के लिए प्रार्थनास्वरूप और मन्दिरों के अनुष्ठानों तथा सामाजिक जीवन के चक्रों के अनुष्ठानों में किया जाता है। रामायण और महाभारत के महाकाव्य अपने विभिन्न चरणों में रीति अनुसार चित्रित किए जाते हैं–रात को प्रदर्शन के समय गाँव के जो लोग दर्शक होते हैं, वही अब प्रतिभागी बन जाते हैं। थेरुकूथु एक ड्रामा, तमाशा, रीति या अनुष्ठान और जीवन–चक्र का एक महत्त्वपूर्ण भाग–यह सब कुछ ही है। इसमें उच्च कोटि के साहित्यिक संवाद और गीत होते हैं, और मौजूदा समयकाल को महाकाव्य के समयकाल के साथ जोड़ने वाली समकालीन अभिव्यक्ति भी होती है। इस ड्रामा और अनुष्ठान के प्रदर्शन में युगों और समय के बीच लगातार एक गति और आगे–पीछे होने की प्रक्रिया रहती है।

कूथु के और भी कई पहलू हैं–जैसे, कूथु के चरित्रों का स्वयं का परिचय करवाने का तरीका; कतियाकरण की भूमिका, जो नाटक और प्रदर्शन के विभिन्न समयकालों को जोड़ने का काम करता है; समकालीन स्थितियों के साथ समानान्तर हालात बनाना, और समय तथा स्थान के चित्रण से सम्बद्ध ड्रामा सम्बन्धित समाधान।

जब मैंने सर्वप्रथम थेरुकूथु देखा तो मैं अचम्भे में थी। कक्षा में प्रयोग के अनगिनत विचार दिमाग में आने लगे। सबसे पहला ख्याल आया कि सुबह की सभा में इतिहास और सन्दर्भ के विवरण के साथ इसका एक प्रदर्शन हो, गाँव के परिवेश और माहौल का अन्दाजा दिया जाए और फिर परदे के कपड़े का प्रयोग हो। जैसे ही कोई पात्र प्रवेश करता है, कतियाकरण उससे बार–बार प्रश्न पूछता है–इससे मेरे मन में विचार आया कि कक्षा में ऐसे ही ड्रामाई क्षण बनाए जाने चाहिए। मैंने कक्षा 7 में गर्म और ठण्डे प्रवाहों का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों से कहा कि वे इनकी भूमिकाएँ निभाएँ। उन्हें हाथ से पकड़े जाने वाले पर्दे के पीछे खड़ा कर दिया गया और घोषणा करने को कहा गया कि ठण्डा प्रवाह प्रवेश करने वाला है। फिर पर्दा हटा दिया गया और प्रवाह ने बहुत ही रचनात्मक तरीके से अपना परिचय करवाया। कक्षा ने सवाल किए–तुम कैसे बनते हो? तुम आमतौर पर कहाँ रहते हो? तुम्हारे प्रभाव क्या हैं? मैंने यह तरीका ऐतिहासिक चरित्रों के लिए, किसी कविता के पात्र के लिए, 90 डिग्री के कोण के लिए, एक लम्बवत रेखा आदि के लिए भी अपनाया है।

मैंने यहाँ कुछ ही उदाहरण दिए हैं और इनसे हमें हमारे पास उपलब्ध विशाल देशीय, स्थानीय खजाने का अन्दाजा हो जाता है। कक्षा में नए विचार और तकनीकें लाने के अलावा यह खजाना जीने की एक और ही शैली को जज्ब कर पाने को सम्भव बनाता है। किसी भी अन्य चीज से बढ़कर शिक्षा ही है जिसके माध्यम से हम नौजवानों को ग्रामीण जीवन के सीधे सम्पर्क में ला सकते हैं, और उनमें परम्परागत कलाओं के लिए भावना और आदर जगा सकते हैं।

वी.आर. देविका *द असीमा ट्रस्ट (www.aseematrust.org) की संस्थापक और प्रबन्धक न्यासी/प्रबन्धक समिति की सदस्य हैं। यह स्कूलों के लिए परम्परागत मंच–कलाओं, शिक्षा और महात्मा गाँधी को जोड़ने वाली एक गैरलाभकारी संस्था है। देविका मंच–कलाओं और शिक्षा के लिए भावना से ओत–प्रोत, एक जानी–मानी संस्कृतिकर्मी हैं। वे चर्खा कातने, शान्ति के लिए शिक्षा और विद्यार्थियों एवं शिक्षकों के लिए सम्प्रेषण की दक्षताओं पर नियमित कार्यशालाएँ आयोजित करती हैं। उनसे vrdevika@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है।* ***अनुवादः*** *रमणीक मोहन*

13 थियेटर और विज्ञान

नीलांजन पी. चौधरी

थियेटर विज्ञान की उत्तेजना और समृद्धता को सम्प्रेषित करने का एक सशक्त माध्यम हो सकता है।

1959 में केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में दिए गए एक प्रभावशाली व्याख्यान में ब्रिटेन के रसायनशास्त्री और उपन्यासकार सी.पी.स्नो ने युद्धोत्तर ब्रिटेन में विज्ञान और मानविकी के बीच लगातार बढ़ती खाई की ओर ध्यान आकर्षित किया था। उन्होंने बल देकर कहा था कि "...सम्पूर्ण पश्चिमी समाज का बौद्धिक जीवन निरन्तर दो ध्रुवीय समूहों में बँटता चला जा रहा है"—एक ओर तो साहित्यिक बुद्धिजीवी हैं और दूसरी ओर भौतिक विज्ञानी।

इसके आधी सदी बाद, लगता है कि दुनिया के एक गर्म भाग यानी भारत में स्थिति किसी विशेष रूप से बदली नहीं है। मैं किसी भी तौर पर स्वयं को बुद्धिजीवी कहने की कल्पना नहीं करता और इसलिए मैं भारतीय समाज के 'बुद्धिजीवी जीवन' पर कोई टिप्पणी नहीं कर सकता लेकिन मैं यह जरूर मानता हूँ कि जिस ध्रुवीकरण की ओर सी.पी.स्नो ने इशारा किया, वह हमारे स्कूलों, कॉलेजों और दैनिक जीवन में पूरे दम—खम के साथ जिन्दा है।

भारत में विज्ञान, मानविकी और कलाओं के बीच पक्की लकीरें बहुत गहरे तक, और शुरुआती दौर में ही, खींच दी जाती हैं। औपचारिक तौर पर यह कक्षा दस के बोर्ड के इम्तिहान के बाद होता है, जब विद्यार्थियों को मानविकी, विज्ञान और कॉमर्स में से कोई एक संकाय चुनना ही होता है। यहाँ से आगे औपचारिक शिक्षा व्यवस्था की कड़ाई के चलते उस 16 वर्षीय बच्ची के लिए बहुत कम स्थान रहता है जिसकी, मसलन, चित्रकला और भौतिक विज्ञान, दोनों में दिलचस्पी है (हालाँकि यह दिलचस्पी भी तब ही बनी रह पाएगी अगर वह पिछले 10 सालों की रटन्त की प्रक्रिया से बची रह पाई हो)। विदेश के विश्वविद्यालयों में आप इंजीनियरिंग में एक मुख्य विषय के साथ फिल्म जैसा अध्ययन में एक कम महत्त्वपूर्ण, लघु विषय चुन सकते हैं, लेकिन भारत में तो इस बात की सम्भावना न के बराबर है। इसीलिए हैरत नहीं है कि हमें अपने मुल्क में स्टीव जॉब्स जैसा कोई व्यक्ति बहुत कम ही मिलता है, जिन्होंने इंजीनियरिंग तथा सुलेख—विद्या को एकीकृत कर लिया जिसके नतीजे में उनके ऐपल उत्पादों का उसे प्रयोग करने वालों के साथ कमाल का परस्पर निर्वाह विकसित हो पाया।

पहले से कहीं अधिक विशेषज्ञता पर आधारित संसार हमें सीधे—संकरे रास्तों की ओर ही ले जाता है और इससे कला तथा विज्ञान, दोनों की समृद्धता की हमारी समझ भी घटती है। लेकिन जब इन दोनों का मेल हो जाए तो नतीजे अप्रत्याशित और बहुत ही दिलचस्प होते हैं। मैं पिछले

माइकल फ्रेन के नाटक 'कोपनहेगन' का एक दृश्य

कुछ महीनों में ऐसे ही मिलन की अवस्था का हिस्सा बन पाया हूँ। मैं कभी–कभी एक थियेटर ग्रुप के साथ काम करता हूँ। उन्होंने विज्ञान और वैज्ञानिकों के दो नाटकों का मंचन किया–माइकल फ्रेन का नाटक 'कोपनहेगन' तथा बर्टोल्ट ब्रेख़्त का नाटक 'द लाइफ ऑफ गैलिलियो'।

दोनों नाटक सत्य घटनाओं पर आधारित हैं। दोनों में ऐतिहासिक पात्र हैं। 'कोपनहेगन' आधुनिक अणु भौतिकी के दो दिग्गजों–वर्नर हाएज़न्बर्ग और नील्स बोहर–के बीच हुई एक रहस्यमयी बैठक का एक ड्रामाई विवरण है। यह मुलाकात सितम्बर 1941 में बोहर के घर पर कोपनहेगन में हुई थी जब द्वितीय विश्व युद्ध अपने चरम पर और डेनमार्क जर्मनी के कब्जे में था। हाएज़न्बर्ग उन गिने–चुने वैज्ञानिकों में थे जो हिटलर के जर्मनी में ही बने रहे थे, जबकि आइंस्टाइन, वॉल्फ़गांग पॉलि, मैक्स बॉर्न जैसे वैज्ञानिक साथी देशों के साथ जा मिले थे। हाएज़न्बर्ग बहुत ही देशभक्त जर्मन थे और उन पर हिटलर के लिए अणु बम बनाने की कोशिश में शामिल होने का इल्जाम था, जिसका वे बार–बार खण्डन करते रहे थे। दूसरी ओर नील्स बोहर मैन्हैटन प्रोजेक्ट का हिस्सा थे जिसके तहत साथी देशों के वे अणु–बम बनाए गए जिनका प्रयोग हिरोशिमा और नागासाकी पर किया गया था।

फिल्म 'राशोमॉन' जैसे विवरणात्मक ढाँचे वाला यह नाटक समयकाल और स्थान के सन्दर्भ में इधर–उधर होता रहता है और हाएज़न्बर्ग तथा बोहर की उस मुलाकात को व्याख्यायित और पुन:व्याख्यायित करता है। इस महत्त्वपूर्ण सवाल का जवाब तलाशने के कई प्रयास होते हैं– हाएज़न्बर्ग 1941 में बोहर से कोपनहेगन में क्यों मिले? प्रत्येक नाटकीय व्याख्या दर्शकों के लिए एक अलग ही जवाब प्रदान करती है। इनमें से कुछ व्याख्याएँ इस प्रकार हैं:

1. हाएज़न्बर्ग ने वैज्ञानिक के तौर पर बोहर की अन्तरात्मा से अपील करने की कोशिश की–इस आशा के साथ कि वे साथी देशों को मैन्हैटन प्रोजेक्ट रोकने के लिए प्रभावित कर पाएँगे।
2. हाएज़न्बर्ग ने विखण्डन की भौतिकी को समझने के मकसद से बोहर के दिमाग को टटोलने–बींधने की कोशिश की ताकि वह स्वयं बम बना सकें, और
3. वे यह बताने–समझाने आए थे कि वे किस प्रकार नात्ज़ी वैज्ञानिकों को बम बनाने से रोक रहे थे और क्यों उनका जर्मनी में ठहरे रहना जरूरी था।

नाटक कई स्तरों पर चलता है–व्यक्तिगत, राजनीतिक और वैज्ञानिक। वह बोहर तथा हाएज़न्बर्ग के बीच व्यक्तिगत और पेशेवर रिश्ते की पड़ताल करता है, जो कभी दोस्त और सहकर्मी थे मगर अब एक–दूसरे के विरुद्ध खड़े हैं। नाटक एक वैज्ञानिक की मानवीय दुविधाओं को उजागर करता है–किस प्रकार अपने अनुसन्धान में व्यस्त रहते हुए वह इस बात की परवाह नहीं करता कि "सत्य किस ओर ले जाएगा" लेकिन अचानक पाता है कि उसकी स्वाभाविक मानवीयता इस बात का ध्यान रखने के लिए उसे बाध्य करती है।

बर्टोल्ट ब्रेख़्त के नाटक 'द लाइफ ऑफ गैलिलियो' का एक दृश्य

माइकल फ्रेन का नाटक 'कोपनहेगन' बहुत ही जटिल और सूक्ष्म अर्थभेद लिए हुए है। इस तीन घण्टे लम्बे नाटक में बहुत ही दुर्बोध और गूढ़ अवधारणाओं और सिद्धान्तों का जिक्र है – जैसे, सन्देह और अनिश्चितता का सिद्धान्त, श्रोडिंगर्स कैट, मैट्रिक्स मेकैनिक्स, विकीर्ण समीकरण का सिद्धान्त आदि – और इसकी वजह से यह नाटक दर्शकों के लिए बहुत ही असाधारण तौर पर कठिन अनुभव

सिद्ध होता है, और बौद्धिक स्तर पर चुनौतीपूर्ण भी। हमें तो लग रहा था कि नाटक शुरू होने के आधा घण्टे के अन्दर–अन्दर लोग नाटक छोड़कर जाने लगेंगे।

लेकिन हमें देखकर हैरत हुई कि हॉल लोगों से खचाखच भर जाता था। जम्हाई लेने वाले एकाध व्यक्ति की बात अलग, लोग पूरे नाटक को बड़ी एकाग्रता से देखते थे। विज्ञान से बुरी तरह डरने वाले दर्शक भी कह रहे थे कि उन्होंने कभी नहीं सोचा था कि आणविक भौतिक–विज्ञान इतना दिलचस्प हो सकता है। अन्य ने कहा कि वे नाटक में इतिहास के सजीव हो जाने की बात से रोमांचित हो उठे थे। विज्ञान में बहुत आगे तक की डिग्री प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों का कहना था कि उन्हें आखिरकार समझ आ ही गया कि क्वांटम मेकैनिक्स क्या होता है (हालाँकि उनके द्वारा कही गई इस बात को तो थोड़ा सन्देह के साथ ही लेना चाहिए)।

दूसरी ओर ब्रेख़्त का नाटक 'द लाइफ ऑफ गैलिलियो', जो सूर्यकेन्द्रीयता के सिद्धान्त को स्थापित करने के लिए चर्च के विरुद्ध गैलिलियो के संघर्ष को दर्शाता है, बहुत हद तक हमारी समझ के दायरे का नाटक है। सर्वप्रथम, विज्ञान की अधिकतर बातें ग्रहों और सितारों की हरकतों से सम्बद्ध हैं, जो क्वांटम मेकैनिक्स के मुकाबले बहुत कम बोझिल हैं। कहानी एकरेखीय है, बीच–बीच में हल्के–फुलके क्षण भी आते हैं। केन्द्रीय मुद्दे महाकाव्यात्मक फलक के हैं और ड्रामाई भी हैं – विज्ञान और अन्धविश्वास के बीच संघर्ष,

'द लाइफ ऑफ गैलिलियो' से एक और दृश्य

राजशक्ति बनाम विचारों की ताकत, शरीर की जरूरतें बनाम आत्मा की लालसाएँ, प्रेम बनाम ईमानदारी आदि।

लेकिन यह एक बहुत लम्बा और शब्दातिरेक का नाटक है–तीन घण्टे लम्बा है। आज के ट्विटर युग में शनिवार शाम की मनोरंजन संध्या का नाटक नहीं है यह। पर्दा उठने से पहले हम एक बार फिर बेचैन थे–और एक बार फिर दर्शकों ने अपनी संख्या और धैर्यवान उपस्थिति से हमें चौंका दिया। सबसे खुशी की बात बड़ी संख्या में बच्चों का होना था–बहुतों ने बाद में हमें कहा कि उन्हें नाटक बहुत पसन्द आया।

बच्चे बेहतरीन और सबसे सच्चे–खरे आलोचक होते हैं। वे नाम की परवाह नहीं करते–बहुत सम्भव है कि ब्रेख़्त और गैलिलियो उनके लिए गुलाबी वेशभूषा में आए मंगल ग्रह निवासियों की तरह हों। वे बोरियत महसूस कर रहे हों तो बहुत जल्द और सीधे–स्पष्ट शब्दों में यह कहे बिना नहीं रहते। मैं हैरान हूँ कि किस बात ने एक ग्यारह–बारह साल के बच्चे को तीन घण्टे के लिए बाँधकर रखा होगा जब कि यह कहानी एक ऐसी खोज से सम्बद्ध है जिसके बारे में प्रत्येक आठ साल के बच्चे को जानकारी होती है।

जाहिर है, इसका जवाब कहानी सुनाने की कला की ताकत में छिपा है। थियेटर द्वारा विज्ञान की कहानी बिल्कुल ही अलग अन्दाज में बयान की जाती है।

स्कूल की पाठ्यपुस्तकों में गैलिलियो का बड़ा संघर्ष एक पृष्ठ की रूखी–सूखी बात और एक–दो चित्रों तक सीमित होकर रह जाता है। लेकिन ब्रेख़्त अपने उत्कृष्ट गद्य में विज्ञान और वैज्ञानिक विचार के कई अलग–अलग आयामों को तलाशते और उनकी पड़ताल करते हैं–सत्ता की अस्वीकृति ("सत्य समय की सन्तान है, सत्ता की नहीं"), प्रयोगधर्मी प्रमाण के बिना सिद्धान्त का खोखलापन ("क्या आप उन सितारों को जो आपको असम्भव और गैर–जरूरी लगते हैं, टेलिस्कोप में से देखने की जहमत उठाएँगे?"), सिद्धान्त की वैधता सिद्ध करने के लिए बारम्बार परीक्षण ("पचास बार आदमी बर्फ के टुकड़ों को तोलता है") और मानवता के प्रति विज्ञान का दायित्व (जब गैलिलियो

वैज्ञानिकों को "आविष्कारशील बौने" कहता है)।

थियेटर विज्ञान की समृद्धता और उत्तेजना को सम्प्रेषित करने का एक सशक्त माध्यम हो सकता है। एक बात इसे एक अद्वितीय माध्यम बनाती है : थियेटर में मानव की उन जटिल तथा गड्ड–मड्ड भावनाओं को उजागर करने की काबिलियत है जो इस संसार की व्याख्या करने वाले तटस्थ और सुरुचिपूर्ण समीकरणों के साथ रहती हैं। इनमें उन लोगों के द्वन्द्व और पसन्द, निराशाएँ और उल्लास शामिल हैं जिनके बारे में हम जानते हुए भी उन्हें वास्तव में नहीं जानते।

विज्ञान और कला के बीच के जिस अन्तर की बात सी. पी.स्नो करते हैं, थियेटर द्वारा उसे पाटे जाने की सम्भावना है। क्या थियेटर हमारे मस्तिष्क के दाएँ और बाएँ, दोनों भागों को क्रियाशील कर सकता है और बहुमुखी बच्चों को विकसित करने में मददगार हो सकता है? क्या वह पहले से अधिक संख्या में बच्चों को प्रेरित कर सकता है कि वे विज्ञान को, न कि इंजीनियरिंग, चिकित्सा या प्रबन्धन को, पेशे के रूप में देखें? क्या वह चित्रकारों को रंगों के विज्ञान में अधिक दिलचस्पी लेने को राजी कर सकता है? अभी शायद हम इन सवालों के जवाब तलाशने की कोशिश भी नहीं कर सकते क्योंकि भारत में विज्ञान–थियेटर का अनुभव बहुत ही हाल की बात है।

लेकिन मेरे विचार में विज्ञान के लिए थियेटर का असल महत्त्व कहीं और ही है।

हमारे मुल्क में अन्धविश्वास और अतार्किक सोच का बहुत जोर है और यह बात कभी–कभी बहुत ही कटु तरीके से सामने आती है–दूध पीते गणेश को देखने को आतुर भीड़ के रूप में, या बुराई से बचाव के मकसद से कौओं को भोजन खिलाते मुख्य–मंत्रियों के रूप में, उन प्रेमियों के रूप में जिन्हें कुण्डलियों का मिलान न होने के कारण एक–दूसरे से अलग कर दिया जाता है, और उन बच्चों के रूप में जिन्हें ग्रहणों से डरना सिखाया जाता है।

विज्ञान का थियेटर यदि लोगों को अपने संसार के बारे में वैज्ञानिक और तार्किक ढंग से सोचने के लिए उकसा सकता है, तो वह अपनी भूमिका बखूबी निभा रहा होगा।

लेखक मूल्यवान सुझावों और अन्तर्दृष्टि के लिए 'सेण्टर फॉर फिल्म एण्ड ड्रामा' के प्रकाश बेलावाड़ी के आभारी हैं।

References :

Copenhagen, by Michael Frayn
Life of Galileo, by Bertolt Brecht
http://en.wikipedia.org/wiki/The_Two_Cultures
http://www.mid-day.com/news/2010/nov/101110-news-bangalore-b-s-yeddyurappa-disqualified-mla-donkey-black-magic.html

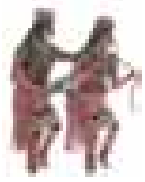

नीलांजन पी.चौधरी *इस लेख के लिखे जाने के समय अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन में कार्यरत थे। आजकल वे* SAP India, *बंगलौर में हैं। थियेटर, साहित्य तथा विज्ञान में उनकी गहरी रुचि है। उनसे* nilanjanpc@gmail.com *पर सम्पर्क किया जा सकता है।* ***अनुवादः*** *रमणीक मोहन*

मेरा मत...

मैं कभी आदर्श विद्यार्थी नहीं रही। एक बार तो 54 विद्यार्थियों की कक्षा में मेरा स्थान 32 वें के आसपास था। मैं स्कूल के बारहवें साल में सांस्कृतिक कप्तान बन पाई। जाहिर है कि मेरी अधिक रुचि संगीत और कलाओं में थी। एक महाविद्यालय की प्रवेश–परीक्षा में उत्तीर्ण हुई और ललित कलाओं की हवा का पहला झोंका महसूस किया, जिसने मेरे जीवन को हमेशा के लिए बदल दिया।

और इस तरह मैंने 5 अकादमिक साल कलाओं को समर्पित कर दिए, जिनमें से शुरुआती 3 साल सच में महत्त्वपूर्ण थे। मेरा दिमाग कई तरह की नई सूचनाओं की भरमार से घूम रहा था। मेरी रुचि इतिहास और संस्कृति में थी और अचानक..... सब समझ में आ रहा था। अध्ययन के इस क्षेत्र की प्रकृति इतनी बहुविषयक थी कि वह हर चीज के साथ जुड़ जाता था और उसे महत्त्वपूर्ण बना देता था। मैंने स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण की – गोल्ड मेडल और निपुणता के पुरस्कारों के साथ।

कम ही लोग होते हैं जिन्हें अपनी 'नौकरी' से प्रेम का सुख–साधन प्राप्त होता है, और मैं उन्हीं में से एक हूँ। मैं चाक्षुष कलाएँ (विजुअल आर्ट्स) सिखाती हूँ और स्कूल तथा कॉलेज, दोनों में व्याख्यान भी देती हूँ। मुझे विशेष तौर से अन्तर्राष्ट्रीय बकालौरिएत प्रोग्राम के तहत पढ़ाना पसन्द है क्योंकि उसकी पाठ्यचर्या में कला–शिक्षण के लिए अनुकूल लचीलापन है। मैं अपनी कक्षा की शुरुआत अपने विद्यार्थियों को समझने से करती हूँ और धीरे–धीरे कला के उन क्षेत्रों की ओर बढ़ती हूँ जिनमें उनकी रुचि दिखाई देती है। उन पेशों को ध्यान में रखते हुए जिनमें वे जाना चाहते हैं, या उनकी रुचि का ध्यान करते हुए मैं सम्भावित कार्यशालाओं और परियोजनाओं की योजना बनाती हूँ। कक्षा में बच्चों की सीमित संख्या के चलते प्रत्येक बच्चे पर ध्यान देते हुए शिक्षण सम्भव हो पाता है।

स्लाइड शो, वीडियो, फिल्मों और पुस्तकालयों के माध्यम से विद्यार्थियों का परिचय कला–सिद्धान्त और कला–इतिहास से करवाया जाता है। वे कला के तत्वों, मूल परिप्रेक्ष्य, डिजाइन के सिद्धान्तों के बारे में सीखते हैं; अपनी दक्षता में पैनापन लाने तथा मीडिया के प्रति संवेदनशीलता के लिए कई तरह के अभ्यासों पर कार्य करते हैं। वे भिन्न–भिन्न सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्यों में कला के इतिहास, कला के रूझानों और उसके विकास की पड़ताल करते हैं। उन्हें प्रोत्साहित किया जाता है कि वे उनके बीच सम्बन्ध स्थापित करें और उनमें समानान्तर रिश्ते को भी देख पाएँ। अन्तर्राष्ट्रीय बकालौरिएत में अनुसन्धान तथा विश्लेषण को विशेष महत्त्व दिया जाता है। विद्यार्थी को दो साल के अन्त पर अपने अवलोकनों, दस्तावेजीकरण की प्रक्रियाओं और नए विचारों की खोज–पड़ताल का सार प्रस्तुत करती हुई एक जाँच–पुस्तक तैयार करना होती है।

कक्षा में दिए गए प्रदर्शन से विद्यार्थियों को सामान्य मीडिया से अवगत करवाया जाता है। प्रयत्न और त्रुटि की प्रक्रिया से गुजरते हुए, करते–करते सीखने के माध्यम से तार, पैकिंग टेप, तथा ऐसे गैर–परम्परागत माध्यमों की पड़ताल की जाती है जिन्हें वर्गीकृत करना भी सम्भव नहीं है। विद्यार्थियों को वस्त्रों, कला–कृतियों के संस्थापन, घटनाओं और प्रदर्शन–कला के साथ प्रयोग करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। समाचार–पत्रों की कतरनों और दीर्घाओं की यात्रा से तथा चोलामण्डल कलाकार–ग्राम जैसे कलाकार–समुदायों के बीच जाने से विद्यार्थी के समकालीन ज्ञान को बढ़ाने तथा नए, उभरते मीडिया के बारे में उनके ज्ञान और जानकारी को बेहतर करने में मदद मिलती है। दो साल के अन्त पर वे अपने कला–कार्य तथा जाँच–पुस्तकों को बाह्य परीक्षक के सम्मुख व्यक्तिगत साक्षात्कार में प्रस्तुत करते हैं। शुरुआत के प्रयोगात्मक कदमों को ध्यान में रखें तो नतीजे बहुत हद तक उल्लेखनीय रहे हैं।

एकाध विद्यार्थी इस ख्याल के तहत इस कोर्स में शामिल होता रहा है कि कला तो 'आसान' होती है। वे धीमे–बोझिल कदमों से चलते रहते हैं और किसी तरह काम चलाते हैं। लेकिन जो इस सागर में गोता लगाने को तैयार होते हैं, उन्हें एक नई भाषा मिलती है – एक ताकतवर आवाज, अपनी राय को लोगों के बीच उठाने का और उनकी प्रतिक्रिया के लिए सतर्क रहने का साहस करती है।

मैं आतुर विद्यार्थियों की कक्षाओं में जाने के लिए उत्सुक रहती हूँ जहाँ मुझे उन्हें सिखाने के मुकाबले उनसे सीखने को अधिक मिलता है। जब वे कला के किसी सिद्धान्त या अवधारणा को जज्ब कर लेने के दिव्यदर्शन जैसे व्यक्तिगत अनुभव से चकराए हुए से घूम रहे होते हैं तो उनके दमकते–चमकते चेहरों को देखकर मुझे बहुत खुशी होती है। कुछ तो इतने उत्साहित, इतनी उमंग में होते हैं कि दिन हो या रात, किसी भी समय मुझे उनका फोन आ सकता है। टूटी हुई हड्डी के परिणामस्वरूप मिली एक्स–रे शीट्स लैम्प–शेड बन जाती हैं, बूढ़े चौकीदारों की साइकिलें कलाकृति संस्थापन का हिस्सा बन जाती हैं, बोतलों के फैंक दिए गए ढक्कन एक सशक्त सार्वजनिक सन्देश बन जाते हैं – कला एक कमाल की चीज है!

अनिशा वर्गीज

एम. कॉवेन्ट एम. इण्टरनैशनल स्कूल, चैन्नई में विजुअल आर्ट शिक्षिका तथा मिडास कॉलेज ऑफ आर्किटेक्चर, चैन्नई में लेक्चरर।

ई–मेलः verani@gmail.com / ***अनुवादः रमणीक मोहन***

14 शिक्षा में थियेटर

लक्ष्मी कृष्णमूर्ति

जिला मंगलौर में कुण्डपुरा के कन्सर्नड फॉर वर्किंग चिल्ड्रन (सी.डब्ल्यू.सी.) केन्द्र में 'जीवन–कौशल' कार्यशाला का एक दृश्य :

कार्यशाला में निकट के गाँवों से 10 से 15 साल आयु वर्ग के बच्चे हैं। वे सी.डब्ल्यू.सी. के होस्टल में रहने और विभिन्न सरकारी स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चे हैं। उन्हें पाँच–पाँच, छह–छह के समूहों में यह चर्चा करने को कहा गया है कि कक्षा में जाति–आधारित भेदभाव के उनके क्या अनुभव हैं। इसके बाद प्रत्येक समूह को अपने जीवन का ऐसा ही एक वास्तविक अनुभव सबके सामने अभिनीत करके दिखाना था। तत्पश्चात सभी बच्चों में चर्चा होती है।

यह देखकर हैरत होती है कि बच्चे भेदभाव के कितने रंग चित्रित करते हैं। शिक्षक और बच्चों के बीच तथा बच्चों के आपसी भेदभाव के अलावा उच्च तथा निम्न जातियों के माँ–बाप के प्रति शिक्षक के अलग–अलग बर्ताव को भी वे वर्णित करते हैं। यह आखिरी बात सबसे अधिक अप्रत्याशित है। इसके बाद एक अच्छी–खासी चर्चा होती है। बात कक्षा में भेदभाव से व्यापक समुदाय में भेदभाव के कई चेहरों की ओर बढ़ती है।

महत्त्वपूर्ण है कि चर्चा में भाग लेने वालों की वे भावनाएँ और नजरिए खुलकर सामने आते हैं जिन्हें आमतौर पर पहचान नहीं मिल पाती – यहाँ इनके बारे में बात होती है, विश्लेषण होता है। यह चर्चा उन्हें स्वयं को समझने में तो मदद करती ही है, उस व्यापक समुदाय के अन्य लोगों को भी समझने में सहायक होती है जिसमें अलग–अलग जाति तथा वर्ग की विभिन्न परतें शामिल हैं।

किसी स्थिति को अभिनीत किया जाता है तो वह हमारे अभी के वर्तमान में जीवन्त हो उठती है और 'अब' की तात्कालिकता में प्रतिक्रियाएँ और भावनाएँ सबके सामने होती हैं – वे उन्हें अनुभव कर सकते हैं।

बच्चे अपने सामाजिक परिवेश के बारे में और उसमें अपने विशेष स्थान के बारे में सीख रहे हैं – पाठ्यपुस्तकों और व्याख्यानों के माध्यम से नहीं बल्कि अपने अनुभवों को जीते हुए। और यही बात कार्यशाला में भाग ले रहे वयस्कों पर लागू होती है – शिक्षकों, माता–पिता, बच्चों की देखभाल करने वाले अभिभावकों पर।

वयस्क हैरत भरी प्रतिक्रिया देते हैं कि "हम तो जानते ही नहीं थे कि वे कितना कुछ समझते हैं!" कुछ सतर्कता के साथ ही सही, उनमें बच्चों के प्रति आदर भाव आने लगता है।

बच्चे कोई नाटक नहीं देख रहे; वे पाठ्यपुस्तक से किसी स्थिति को भी अभिनीत नहीं कर रहे – हालाँकि ये दोनों शिक्षा में थियेटर के ऐसे तरीके नहीं हैं जिन्हें प्रयोग में

न लाया जाता हो। 'मुद्दे' के अनुभव में से होकर गुजरते और उसके बारे में बात करते बच्चे दिमागी तौर पर तो विषय को समझते ही हैं, उसे अपनी भावनाओं, मूल्यों और पूर्वाग्रहों – 'महसूस' की गई बातों – के माध्यम से भी समझ रहे हैं। क्या इस बात की सम्भावना अधिक नहीं है कि इस सबको वे अधिक देर तक, अधिक गहरे तक याद रख पाएँगे, न कि ऐसे ही एक पाठ को? इस प्रक्रिया में बाहरी संसार का फलक उनके लिए अधिक व्यापक हो जाता है, उनके अपने भीतर की दुनिया में एक गहराई आ जाती है तथा यह सब एक सूचना–सम्पन्न और उदार विश्व–दृष्टि के बनने में भी योगदान देता है। ऐसा न होने की स्थिति में उनकी विश्व–दृष्टि उनके परिवारों के सदस्यों और बिलकुल निकट–समाज के मूल्यों तथा विचारों तक सीमित रह जाती।

इसी तरह के और भी बहुत मुद्दे हैं, जिनमें से कुछ को हम इस आलेख में आगे चल कर छुएँगे। लेकिन पहले हम 'थियेटर' के इस रूप को उसके बड़े परिप्रेक्ष्य में स्थित करते हैं।

थियेटर/ड्रामा लगभग तब से ही अस्तित्व में है जब से इन्सान। इस लम्बे समयकाल में थियेटर ने कई शक्लें बदली हैं। स्थितियाँ और उद्देश्य भिन्न–भिन्न रहे हैं:

- लगता है कि प्राचीन काल के लोग शिकार की घटना के चित्रण को कभी तो कामयाब शिकार की रिहर्सल– और कभी उसके उत्सव, उसका जश्न मनाने – के तौर पर प्रयोग में लाते थे। दोनों ही सन्दर्भों में अभिनेता होते हैं और दर्शकगण भी।
- धर्म के लोकप्रियकरण के लिए, उसे बढ़ावा देने के लिए, थियेटर के प्रयोग के दो प्रमुख उदाहरण पूरब में हिन्दुवाद और पश्चिम में ईसाइयत हैं। इस सन्दर्भ में ईसा मसीह के जीवन और बाइबिल से विभिन्न घटनाओं को चित्रित किया जाना, और इसी प्रकार महाभारत और रामायण से प्रसंगों को नाटकीयता से प्रस्तुत किया जाना शामिल रहा है। विशेष तौर से इन्सान के साक्षर होने से भी पहले के दौर में इन घटनाओं और प्रसंगों के चित्रण को नाट्य–प्रदर्शनों के माध्यम से जाना और पसन्द किया जाता था। बाद में टेलीविजन और सिनेमा के माध्यम से भी यह हुआ। इसमें भी अभिनेता और दर्शक दोनों शामिल रहते हैं।
- चर्च से राज्य और नागरिक समाज तक, धर्म से राजनीति तक, थियेटर प्रतिरोध के आन्दोलनों का शक्तिशाली राजनैतिक साधन और औजार बना; राजनीतिक थियेटर से लेकर आज के 'नुक्कड़ नाटक' तक। भारत में एक ओर तो यह 'इप्टा' के मंच प्रदर्शनों से लेकर सफ़दर हाशमी के सशक्त वक्तव्यों तक, और दूसरी ओर प्रायोजित समूहों के जागरूकता मात्र फैलाने के प्रदर्शनों में झलकता है। वे चाहे धार्मिक हों चाहे राजनीतिक या फिर जागरूकता पैदा करने की ओर

प्रवृत्त, इन सब प्रदर्शनों में अभिनेता और दर्शक शामिल रहते हैं।
- और इसके अलावा, बड़े पैमाने पर मनोरंजन के लिए थियेटर तो है ही – जो विचारोत्तेजक, हास्य पैदा करने वाला, नवाचारी, अतियथार्थवादी,.... कुछ भी हो सकता है – भास से लेकर शेक्सपियर तक का फैलाव है इसका। मनोरंजन करने वाले और मनोरंजित होने वाले; प्रदर्शनकर्ता और दर्शकगण दोनों ही हैं इसमें भी।

'दृश्य' और उसकी विस्तृत जानकारी, जिसका वर्णन हम पहले कर चुके हैं, "लोगों द्वारा, लोगों का, लोगों के लिए" की तरतीब में है, इस अर्थ में कि लेखक/नाटककार,

अभिनेता और दर्शकगण में कोई अन्तर नहीं है – सब एक हैं।

इस प्रकार का थियेटर वैयक्तिक विकास को बढ़ावा देने और 'जीवन कौशलों' को मन में बैठाने के मकसद से बना है – ताकि बच्चे अपने आसपास के कई परतों वाले संसार से आत्मविश्वास और आत्म–सम्मान के साथ आदान–प्रदान करना सीख पाएँ। अन्य प्रकार के सब (या अधिकतर) थियेटर में मूल उद्देश्य वैयक्तिक विकास का नहीं होता। यह बात और है कि विभिन्न 'पात्रों के चरित्र को अन्दर तक समझने' की प्रक्रिया में कई बार यह भी हो जाता है।

जैसा कि कहा जा चुका है, आजकल बहुत जगह कक्षाओं में थियेटर का प्रयोग पाठों को जीवन्त बनाने के लिए किया जाता है। यह याददाश्त को सुदृढ़ तथा एकीकृत करने का एक अच्छा तरीका है। लेकिन यहाँ आकर सीमा बंध जाती है – थियेटर का यह प्रयोग उससे आगे तक नहीं जाता।

इस आलेख की शुरुआत में जिस प्रकार के 'थियेटर' का जिक्र किया गया है, उस प्रकार की कार्यशाला के कई उदाहरण हैं (देखिए'सन्दर्भ')। यहाँ कुछ और उदाहरण दे रहे हैं जो देश के विभिन्न हिस्सों में लम्बे समयकाल के दौरान की गई कार्यशालाओं से हैं।

इनमें भी लगभग वही कुछ हुआ जिसके बारे में ऊपर बात की गई है – एक छोटे समूह में चर्चा, फिर अभिनय, जिसके बाद बड़े समूह में चर्चा होती है।

इन कार्यशालाओं में बच्चे आमतौर पर 10 से 15 साल के बीच के होते हैं। वे सरकारी स्कूलों से और आमतौर पर ग्रामीण इलाकों से होते हैं, हालाँकि कुछ शहरी इलाकों से भी होते हैं। बहुत बार शिक्षक और माता–पिता या बच्चों की देखभाल करने वाले भी मौजूद रहते हैं। इसी प्रकार की कार्यशालाएँ किशोरियों और वयस्क महिलाओं के साथ भी हुई हैं, जिनमें सम्बद्ध 'मुद्दों' पर प्रतिक्रियाएँ अलग–अलग अवश्य थीं।

मंचन की कुछ स्थितियाँ

चोरी करना

- विद्यार्थियों का मानना था कि चोरी करना अपने आप में बुरी बात है लेकिन स्थिति तब और भी खराब होती है जब अन्य लोगों, विशेषकर आपके साथ के लोगों को, इस बारे में पता चल जाता है। बच्चे यह सोचकर भी डरते हैं कि स्कूल में की गई चोरी के बारे में घर पर जानकारी हो जाएगी – होने वाली पिटाई का उन्हें इतना डर नहीं होता जितना कि परिवार की इज्जत–मर्यादा खोने की जिम्मेदारी उन पर आने का डर। चोरी घर पर की गई हो तो उसे कभी भी सार्वजनिक नहीं किया जाता – इसलिए कि परिवार का नाम और इज्जत बनाए रखना आवश्यक माना जाता है।

ईनाम मिलना

- ईनाम मिलने पर बच्चे को हमेशा खुशी होती है लेकिन माता–पिता अगर इस बात को कोई विशेष महत्त्व नहीं देते – जैसा कि अकसर होता है – तो यह खुशी मद्धम पड़ जाती है। आभार वक्तव्य में बच्चा हमेशा अपने शिक्षक और माता–पिता का जिक्र करता है, "जिनकी मदद और प्रोत्साहन के बिना मैं यह ईनाम कभी नहीं जीत पाता।" व्यक्तिगत सफलता पर कम ध्यान दिया जाता है – यह सोचकर कि बच्चे को बुरी 'नजर' से बचाना और उसमें अत्यधिक 'अहं' आने से रोकना है। लेकिन बच्चे प्रशंसा चाहते हैं, जो हमेशा की नहीं जाती – उनके लिए ईनाम से अधिक महत्त्व प्रशंसा का है।

विवाहित बेटी घर लौटती है

- इस अभिनय में पिता और भाइयों की भूमिका निभाने वाले बच्चे बहुत जोर–शोर से लड़की द्वारा अपने ससुराल लौट जाने के हक में बात करते हैं। बहनें और माताएँ तो सहानुभूति रखती हैं लेकिन वे भी इसी हक की हैं कि लड़की अपने ससुराल लौट जाए हालाँकि यह बात वे कुछ दबी सी आवाज में कहती हैं। स्वयं लड़की से यह नहीं पूछा जाता कि वह क्या चाहती है।

अभिनय–दर–अभिनय, हमारे पूछने पर कि वह क्या करना चाहेगी, लड़की हमेशा यही कहती है कि वह ससुराल लौट जाएगी–वह अपनी पहचान को अपने ससुराल के साथ बंधा हुआ ही देखती है –"अपनी माँ के यहाँ तो मैं कुछ भी नहीं हूँ।"

झगड़ते माता-पिता

- माता–पिता का झगड़ा बच्चों को बहुत अन्दर तक परेशान करता है–हालाँकि उन्हें (विशेष तौर से लड़कों को) झगड़े का अभिनय करने में बहुत मजा आता है। कुछ समूह सन्दर्भ को बदल देते हैं–वे माता–पिता के झगड़े को अभिनीत नहीं करते। क्या वे परिस्थिति से डरा हुआ महसूस करते हैं? परिवार के नाजुक मुद्दों को खुले में नहीं लाना चाहते? मालूम नहीं। हम इस विषय को आगे नहीं बढ़ाते। व्यावहारिक, गैर–जज्बाती अर्थों में बच्चे कहते हैं कि झगड़ों से उनकी पढ़ाई में व्यवधान पैदा होता है।

दो–एक कार्यशालाओं में अभिनय नहीं किए गए। वहाँ प्रतिभागियों से इस तरह की तथा अन्य ऐसी ही स्थितियों के बारे में पूछा गया तो एक–आयामी उत्तर मिले – वे अभिनय तथा तत्पश्चात चर्चा के बाद दिए गए उत्तरों की तरह गहराई लिए हुए, बहुमुखी और उत्साही नहीं थे।

बात चाहे स्कूल में सीखने–सिखाने के वातावरण की हो या व्यापक संसार में वयस्कों के साथ अन्त:क्रिया में आने की, इन अभिनय सत्रों और चर्चाओं का 'सत्त' बच्चों

के विकास और सशक्तीकरण के लिए कल्पित/विकसित रणनीतियों के लिए उपयुक्त और संगत है। बच्चा अपनी समझ के साथ कहाँ खड़ा है, हम इस बात को समझ पाएँ तो उसके साथ आदान–प्रदान तथा अन्त:क्रिया अधिक सार्थक होंगे:

- परिवार की **इज्जत/मर्यादा** का बनाए रखना न केवल बड़ों के लिए बल्कि बच्चों के लिए भी मूल महत्त्व की बात है। इसका एक उदाहरण यह सर्वसम्मत निर्णय है कि कुछ भी हो, शादीशुदा लड़की का स्थान तो उसकी ससुराल में ही है।
- इसी से यह बात निकलती है कि दृष्टिकोण और व्यवहार को ढालने में **'लोग क्या कहेंगे'** की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।
- **बाहरी दिखावा बनाए रखना है** –जैसे, बड़ों का आदर करना। हो सकता है कि कुछ बड़ों में 'अच्छे' गुण न हों, लेकिन आदर तो देना ही होगा – क्योंकि वह तो 'स्थान' या कहें कि रिश्ते या ओहदे के लिए है न कि 'व्यक्ति' के लिए।
- इसके बाद **समकक्षों में हमारी छवि** की बात आती है। यह सहन करना बहुत कठिन होता है कि आप डाँटे या पीटे जाने पर, विशेष तौर से छोटा दिखाए जाने पर, दोस्तों और सहपाठियों के हास्य का पात्र बनें। इस स्थिति से उबरने में बहुत वक्त लगता है। शिक्षक या माता–पिता द्वारा अकेले में डाँटे जाने का असर इतना बुरा नहीं होता। बच्चे के मन में यह बात तो आती है कि 'मुझे हमेशा अन्य लोगों के सामने छोटा क्यों दिखाया जाता है?' वयस्कों के लिए यह ध्यान देने की बात है।
- **'कर्तव्य',** न कि **'अधिकारों'** के प्रति रुझान। एक उदाहरण–परिचय सत्रों में सबसे कहा गया कि वे अपना एक ऐसा गुण बताएँ जो उन्हें पसन्द है। सबने जवाब दिया–दूसरों की मदद करना, समाज–सेवा का रुझान होना, एक–दूसरे के मुताबिक ढलने का माद्दा, आदि। इससे ही यह बात निकलती है कि किसी भी सफलता के लिए प्रशंसा दबी हुई ही हो, बच्चे को उसके कद

तक ही सीमित रखा जाए, ताकि उसमें अत्यधिक 'अहं' की भावना न आए।

- **वयस्क और बच्चे, दोनों ही स्वयं को परिवार, जाति, समुदाय के हिस्से के तौर पर देखते हैं न कि व्यक्ति के रूप में।** पहली वफादारी बड़े समूह के प्रति रहती है। खुद को बढ़ावा देने की बात को परिवार/बड़े समूह को बढ़ावा देने के मुकाबले कम महत्त्व दिया जाता है। वयस्क और बच्चे **'भूमिकाएँ'** हैं न कि **व्यक्ति।** इस बात की ओर ध्यान देना बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि व्यक्तिगत सफलता के इस प्रतिस्पर्धात्मक संसार में व्यक्तिगत विकास का पारिवारिक मूल्यों के साथ सन्तुलन बैठाना बहुत जरूरी हो जाता है—किसी विशेष मानसिक और भावनात्मक कष्ट के बिना यह कैसे किया जाए?

अन्त में, यह बात दोहराने लायक है कि वयस्क (शिक्षक, माताएँ तथा देखभाल करने वाले अन्य लोग) इन बच्चों के विश्लेषण की परिपक्वता और समझ की गहराई पर हैरान थे। तो बच्चे भी आखिर इन्सान हैं और चाहे झिझकते हुए ही, मगर कहना पड़ा कि वे हमारे **'आदर'** के हकदार हैं। आमतौर पर आदर कम उम्र वाले अधिक उम्र वालों का करते हैं, किसी बड़े के द्वारा बच्चे को आदर दिए जाने के बारे में सोचना भी एक क्रान्तिकारी बात लगती है।

और वास्तव में, क्या दो इन्सानों के बीच तसल्लीबख्श तथा इच्छापूरक अन्तःक्रिया हो पाए, इसके लिए 'आदर' का होना जरूरी नहीं है? क्या यह ऐसी अन्तःक्रिया का सार—तत्त्व नहीं है?

References:

*Workshops have been conducted for children (boys and girls), adolescent girls and women, at various forums organised by: Concerned for Working Children, Child Fund India (formerly CCF), Women's Development Programme, Mahila Samakhya, Education Resource Unit. etc.

'Lived Experience as Theatre' – Essay in 'Researching Families and Children'. ed. By S. Anandalakshmy, et al. Pub. By SAGE. 2008.

#'Listening to Children' by Lakshmi Krishnamurty and Vani Periodi – part of a larger study – 'Snakes and Ladders'. Study organised by Education Resource Unit. 2003.

#'A Child and Her World – The Real and the Possible'. Study organised by CCF (now Child Fund of India). 2004.

लक्ष्मी कृष्णमूर्ति *अनुभव और योग्यता से मानव–विज्ञानी हैं। वे थियेटर में दिलचस्पी भी रखती हैं और उसमें कार्य भी करती हैं। वे थियेटर और मानव विज्ञान, दोनों क्षेत्रों में अपनी रुचि को सामाजिक–आर्थिक तौर पर वंचित महिलाओं और बच्चों के समूहों के लिए अपने काम में स्थान देती हैं। उन्होंने अनुसन्धान का अपना काम 1960 में मद्रास विश्वविद्यालय से शुरू किया था। वे 1970 के दशक में दिल्ली आ गईं जहाँ उन्होंने अपनी मित्र त्रिपुरारी शर्मा के साथ मिलकर अलारिप्पु (यानी, खिलती कली) नामक गैर सरकारी संस्था की शुरुआत की। अलारिप्पु ने नुक्कड़ नाटक से अपना काम शुरू किया और बाद में थियेटर का प्रयोग 'गुणवत्तापूर्ण' शिक्षा और 'जीवन कौशलों' को बढ़ावा देने के लिए भी किया।*

इसके साथ ही उनकी निरन्तर रुचि और ध्यान इस बात पर रहा है कि थियेटर का प्रयोग अनुसन्धान की प्रक्रिया में शामिल लोगों के जीवन, अनुभूतियों और विश्व–दृष्टियों पर अनुसन्धान के लिए हो। उनका विशेष ध्यान उनकी 'आवाज' को सामने लाने पर रहा है जिन पर अनुसन्धान हो रहा है। उनसे lakshmi33@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है। ***अनुवादः*** *रमणीक मोहन*

15 अति सरलीकरण के दौर में एक काँपता स्वर

Ldyk e dyk f'k{kk d lUnHk e fQYe lekykpuk

वी. प्रसाद

कक्षा में क्लब की गतिविधियों एवं अधिगम के उपकरण के रूप में सिनेमा

"प्रयत्न करना कला है, ढूँढ़ निकालना सौन्दर्यानुभव है।"

प्रख्यात दार्शनिक जे. कृष्णमूर्ति का कहना है, "वस्तुओं को उनके सही स्थान पर रखना कला है।" न्यूनतम सिनेमा के स्वीडिश मास्टर इंगमर बर्गमैन से पूछा गया कि क्या उन्हें लगता है कि मनुष्य जाति के लिए कला उपयोगी है। उन्होंने दो टूक उत्तर दिया, "उसे उपयोगी होना ही चाहिए, होना ही चाहिए, वरना हम सब नरक में ही क्यों न चले जाएँ।"

अब वर्तमान में चलें।

एक शाम को आई.पी.एल. क्रिकेट की भारी शून्यता के बीच हर्ष भोगले ने टी.वी. पर स्पिन के जादूगर ई.ए.एस. प्रसन्ना से पूछा, कि अगर उन्हें आज आई.पी.एल. में गेंदबाजी करनी पड़े, जहाँ बेहद तेजी से गेंद फेंकनी पड़ती है, तो क्या वे आज भी बल्लेबाज के हिसाब से गेंद फेंकेंगे? प्रसन्ना ने कहा, "उन्हें इस बात से कभी कोई फर्क नहीं पड़ा कि वे किस बल्लेबाज को गेंद फेंक रहे हैं और न ही कभी उन्होंने बल्लेबाज के हिसाब से गेंद फेंकी। मेरे लिए तो यह बात मायने रखती थी कि क्या मैं अपनी गेंद की तेज उड़ान से बल्लेबाज को झाँसा दे पाऊँगा भले ही वह कोई भी हो। जब तक मैं ऐसा कर सकूँ, मैं अवश्य गेंद फेंकूँगा!"

उनके लिए स्पिन गेंदबाजी का मतलब सिर्फ गेंद फेंकना या उसे ऊपर उछालना नहीं था बल्कि यह तो बल्लेबाज को लगातार झाँसा देने का प्रयास था। प्रसन्ना के लिए स्पिन गेंदबाजी का मतलब झाँसा देना और गेंद की उड़ान थी। इस प्रकार उनकी गेंदबाजी का सौन्दर्यबोध था—गेंद की उड़ान एवं झाँसा !

हर्ष ने आगे पूछा कि वे आज देश के ऑफ स्पिनरों की स्थिति के बारे में क्या सोचते हैं? स्पिन गेंदबाजी के महारथी ने कहा, "स्पिन गेंदबाजी यानि अपने पर भरोसा एवं दृढ़ आत्मविश्वास रखना जिसके बिना कोई भी स्पिनर विकास नहीं कर सकता और अपनी कला में दक्ष नहीं हो सकता। आज के स्पिनरों में आत्मविश्वास का अभाव है और इसके बिना गेंदबाजी में झाँसा देना सम्भव नहीं।"

स्पिन गेंदबाजी का स्कूलों में कला सिखाने से क्या सम्बन्ध है?

मेरे विचार से स्कूली शिक्षा की आधारशिला यह है कि क्या वहाँ शिक्षा पूरी करने के बाद बच्चा जीवन का सामना करने के लिए आत्मविश्वास और सम्मान की भावना प्राप्त कर पाता है। कला से मुलाकात हो जाए तो इस दिशा में एक खिड़की खुल सकती है। और शायद कला में, खोज की प्रक्रिया के रूप में, बच्चों को रूप एवं विषय–सामग्री के सौन्दर्यानुभव के प्रति संवेदनशील बनाया जा सकता है।

हम आज जिस युग में रह रहे हैं, उसमें बच्चे सभी प्रकार

की अपरिमित एवं विविध जानकारियों को पाने में समर्थ हैं। इसमें से अधिकतर जानकारी का "सरलीकरण" कर दिया गया है ताकि उसे आसानी से आत्मसात किया जा सके और उस तक आसानी से पहुँचा जा सके। लेकिन इस प्रक्रिया में अकसर बच्चे की कल्पना करने और लिखित सामग्री के वास्तविक अर्थ को समझने की क्षमता को चुनौती देने वाली बात कहीं पीछे छूट जाती है। बच्चों को यह बात समझाने पर भी कोई ध्यान नहीं दिया जाता कि कहानियों, आख्यानों आदि का अन्त किसी स्पष्ट उपसंहार के साथ ही हो यह जरूरी नहीं है। आजकल जानकारियों के प्रवाह की मात्रा एवं गुणवत्ता ऐसी है कि बच्चे का मन जानकारी के चयन और ग्रहण में ही लगा रहता है। इस वजह से जानकारी की प्रकृति के गम्भीर रूप से परीक्षण एवं विचार–विमर्श या विश्लेषण करने की गुंजाइश ही नहीं रहती क्योंकि इसमें समय लगता है। आज के जमाने में समय का मिलना भी एक विलासिता है। हम जिस युग में रहते हैं वहाँ समय एक ऐसा कारक है जो हमें आजाद करने की बजाए बन्दी बनाकर नियन्त्रित करता है, इसलिए हमें जल्द से जल्द मुद्दे पर आना पड़ता है और अपनी बात स्पष्टता से कहनी पड़ती है।

तो, जानकारी के इस तेज एवं आसान रफ्तार विकास के युग में यह पूछना एकदम प्रासंगिक है कि स्कूल में बच्चों को कला एवं उसकी सराहना के लिए संवेदनशील बनाना महत्त्वपूर्ण क्यों है? कला के सम्पर्क में आने के लिए बच्चों को शिक्षित करना इस बात का अवसर देता है कि वे उसके गुणों को जान सकें जो इस प्रकार हैं–अवलोकन, गहन रूप से साझा करना, चिन्तन, शान्ति, मौन, किसी बात के लिए समय लेना आदि जो शायद सामान्य विषयों के एकदम विपरीत हैं।

इस सन्दर्भ में देखा जाए तो स्कूलों में फिल्म समालोचना प्रासंगिक एवं महत्त्वपूर्ण है। कला के सभी रूपों में सिनेमा की उम्र सबसे कम है और यह अपने से पहले आने वाले कला के सभी अन्य रूपों जैसे संगीत, नृत्य, पेंटिंग, नाटक आदि का समन्वय है। लेकिन दुर्भाग्य से इसे अपने कन्धों पर मनोरंजन करने का भार भी ढोना पड़ता है। फिल्मों को गतिशील एवं मनोरंजक होना चाहिए–उनसे कम से कम इतनी अपेक्षा तो की ही जाती है। सिनेमा की प्रकृति से इस प्रकार की व्यापक माँग पहले उल्लिखित "सरलीकरण" में महत्त्वपूर्ण योगदान देती है और शायद यही कारण है कि नवीन विचारों की बुवाई के लिए परिपक्व और खिलने के लिए तैयार युवा मन निर्जीव हो जाते हैं। चिन्तन करने एवं उपयुक्त बीजों को खोजकर युवा मन में बोने की सतत प्रक्रिया ही शिक्षा है। स्कूल में कला–शिक्षा शायद एक ऐसा ही प्रयास है और फिल्म समालोचना क्लब इस तरह की खोज का परिणाम है। यह "सरलीकरण" के उस रूप को चुनौती देने का अवसर प्रदान करता है जिसके द्वारा बच्चे विश्व सिनेमा को देखकर कला से रूबरू हो सकें और उसका स्वाद चख सकें। यह बच्चों के लिए उन कलाकारों का काम देखने का अवसर है जिन्होंने फिल्म के माध्यम का उपयोग एक अलग तरह से करने की हिम्मत की है। वे ऐसे कलाकारों के काम से परिचित होते हैं जो कल्पनापूर्ण कहानियाँ सुनाते हैं और जिन्होंने सिनेमा के माध्यम का उपयोग सिर्फ मनोरंजन या व्यवसाय के लिए न करके अन्य प्रयोजनों के लिए भी किया है; इन कलाकारों ने इस माध्यम की सीमाओं को आगे बढ़ाया है। तो फिर, विभिन्न संस्कृतियों की अलग–अलग शैलियों से परिचित होने की इस प्रक्रिया से बच्चों के मन पर क्या असर पड़ता है?

प्रसिद्ध भारतीय फिल्म निर्माता सत्यजित रे ने कहा है कि, "अगर फिल्म कला का रूप है तो सौन्दर्यानुभूति को इससे उभरकर निकलना ही चाहिए।" आजकल बच्चे लगातार जिस तरह की फिल्मों के सम्पर्क में आते हैं वे मुख्यधारा की मनोरंजन करने वाली फिल्में होती हैं। क्या यह सम्भव है कि उन्हें भिन्न प्रकार की फिल्मों के सम्पर्क में लाकर फिल्म समालोचना के माध्यम से कला की शिक्षा दी जाए ताकि उन्हें उस सौन्दर्यानुभूति के प्रति संवेदनशील बनाया जा सके जो फिल्म समालोचना क्लब में दिखाई जाने वाली फिल्मों में होती है; ऐसी फिल्में जो अन्यथा उन्हें देखने को मिलती ही नहीं–शायद? सौन्दर्यबोध यानि ऐसे सिद्धान्तों का समूह जो किसी चीज को सुन्दर बनाता है, जो आनन्द

को बढ़ाता है, वे बारीकियाँ जो किसी चीज को अनुपम बनाती हैं और इस प्रकार बच्चों को सीखने एवं सराहना करने का अवसर देती हैं। उदाहरण के लिए सत्यजित रे की 'अपराजितो' में बालक अपु के बचपन से युवा–वयस्क तक के विकास में इन बातों पर जोर दिया गया है–बनारस का चित्रण जो बालक के पूरे जीवन पर छाया हुआ है, उसका अपनी विधवा माँ से रिश्ता जो शुरू में तो अच्छा है पर बाद में उसमें इतनी दरारें पड़ जाती हैं कि अन्त में वे अलग हो जाते हैं, उसकी स्कूल जाने की इच्छा और बाद में गाँव छोड़ देना, प्रकाश–पर्व की ध्वनि एवं प्रचण्डता के मध्य अपने मरणासन्न पिता के साथ बिताए गए अन्तिम कुछ घण्टे, जिसमें देखभाल व स्नेह की भावना है और एक छोटे बालक के रूप में मौत के साथ उसकी मुठभेड़–ये सारे विषय यूँ तो सार्वभौमिक हैं, लेकिन रे ने इन्हें जिस तरह से दर्शाया है वह कलात्मक गुणवत्ता की विशिष्टता के रूप में अद्‌भुत हैं।

सत्यजित रे की फिल्म "अपराजितो" का एक दृश्य

इस प्रकार स्कूल में, कला शिक्षा के सन्दर्भ में, फिल्म समालोचना क्लब के होने से बच्चों को सौन्दर्य सम्बन्धी संवेदनशीलता को विकसित करने का मौका मिलता है, साथ ही मुख्यधारा की संस्कृति का विकल्प भी सामने आता है। कला का तात्पर्य है रूप और विषय–सामग्री, जहाँ 'रूप' का अर्थ है कि कलाकार (यहाँ फिल्म निर्देशक) उपलब्ध उपकरणों जैसे ध्वनि, संगीत, सम्पादन, छायांकन आदि का उपयोग सिनेमा में कहानी कहते समय कैसे करता है; और 'विषय–सामग्री' का अर्थ है कथा की खुद की गुणवत्ता–यानि जिस तरह से वह प्रकट एवं विकसित होती है, चरित्र–चित्रण जिसमें विषय–सामग्री का खुलासा, नाट्य रचना एवं भावनाओं की बारीकियाँ शामिल हैं। जिस प्रक्रिया द्वारा यह परिचय प्राप्त होता है वह है–फिल्म को देखने के बाद उसके रूप, विषय–सामग्री और शैली पर होने वाली चर्चा। इस तरह के परिचय के लिए कई विभिन्न फिल्में देखनी पड़ती हैं, तभी बच्चों के सामने इनका खुलासा होता है और धीरे–धीरे इसका विकास होता है। जैसे–जैसे बच्चे संसार भर की फिल्मों को देखते हैं और उनमें उनकी समझ विकसित होती जाती है, वैसे–वैसे उनके सौन्दर्यानुभव का क्षितिज विस्तृत होता जाता है। वे कला के जिस किसी रूप को भी देखते हैं, उसके सूक्ष्म पहलुओं का आनन्द लेने में सक्षम हो जाते हैं।

कक्षा में फिल्में या विशिष्ट दृश्यों/कथाक्रमों को देखने से बच्चों को विश्लेषण के आवश्यक कौशल आत्मसात करने में मदद मिलती है जिससे उनकी सिनेमा के सूक्ष्म पहलुओं को समझने की क्षमता बढ़ती है। यही नहीं इसके द्वारा वे इन बातों के बारे में भी जान लेते हैं जैसे–केन्द्रीय विचार या विषय–सामग्री को पहचानना व समझना, ध्वनि, संगीत, भाषा, पर्दे के ऊपर और उसके पीछे के उन प्रभावों को जान लेना जो विचारों को प्रकट करते हैं। कलाकारों द्वारा प्रयोग किए जाने वाले उन विशिष्ट तरीकों की समझ विकसित करना जो उनकी व्यक्तिगत शैली में योगदान देते हैं। विश्लेषणात्मक एवं समीक्षात्मक रूप से सोचने के ये कौशल कक्षा में बहुत काम आते हैं। ये पाठ्य–पुस्तकों को समझने एवं लेखन की गुणवत्ता के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। सौन्दर्य के गुणों के अवलोकन एवं उनकी पहचान के लिए जिस समीक्षात्मक सोच की जरूरत होती है उसे बढ़ाने में फिल्म के प्रदर्शन के बाद की चर्चाएँ बहुत उपयोगी होती हैं। उदाहरण के लिए विटोरियो डि सिका की फिल्म 'बाइसिकल थीफ' में हताशा व संघर्ष की थीम इटली में विश्वयुद्ध के बाद उत्पन्न निराशा में घटित होती है। अपनी साइकिल की खोज में पिता की निराशा बढ़ती जाती है।

उसे अपने काम के लिए उस साइकिल की बहुत ज्यादा जरूरत है। अन्त में, उसे ढूँढ़ने की प्रक्रिया में, पुत्र के सामने पिता की अवमानना प्रकट होती है। अपनी साइकिल को खोजने के लिए पिता के द्वारा अपनाए तरीकों पर पुत्र की अधीरता व क्रोध बढ़ता जाता है और इसके ठीक विपरीत, अपनी निराशाजनक स्थिति के चलते पिता को हताशापूर्ण तरीकों को अपनाना ही पड़ता है। फिल्म को देखने के बाद जो चर्चाएँ होती हैं, वे बच्चों को कलात्मक अभिव्यक्ति की बारीकियों एवं सूक्ष्मताओं के बारे में जानने में मदद देती हैं। इस प्रकार वे कला के क्षेत्र में अपनी संवेदना का विस्तार करने में सक्षम हो जाते हैं। फिल्म प्रदर्शन के बाद और चर्चा के दौरान जिन बातों को गहराई से साझा किया जाता है और अवलोकन किया जाता है, उनसे बच्चों में खुद पर यकीन करने की भावना आती है और आपसी साझेदारी के माध्यम से उनका आत्मविश्वास भी बढ़ता है। बच्चों में इस बात की जागरूकता आती है कि मतभेदों के बावजूद भी दुनिया की सभी संस्कृतियाँ सही हो सकती हैं। विश्व की फिल्मों को देखकर बच्चे उन मामलों को वर्गीकृत करने, निष्कर्ष निकालने और सोचने को प्रेरित होते हैं जो देशीय और वैश्विक रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। यह एक ऐसा अनुभव है जो कि अन्ततः उन्हें चिन्तनशील बनने में मदद देता है और शायद यही शिक्षा का एक स्वाभाविक परिणाम है।

प्रसाद *अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन की स्कूल कोर टीम के साथ कार्यरत हैं एवं उत्तरकाशी के मातली गाँव में अज़ीम प्रेमजी स्कूल के मेंटर हैं। वे भूतपूर्व पेशेवर राज्य क्रिकेटर और अब एक शिक्षक हैं। वे अपने को रसिक बताते हैं और सिनेमा में रुचि रखने के साथ–साथ भारतीय तथा पश्चिमी शास्त्रीय संगीत सुनना पसन्द करते हैं। एक शिक्षक एवं प्रशासक के रूप में वे द स्कूल–के.एफ.आई.,चैन्नई तथा ऋषि वैली, बंगलौर के साथ अत्यन्त निकट रूप से जुड़े रहे हैं। उन्होंने कई नामी स्कूलों में पढ़ाया जहाँ IGCSE/A स्तर तथा International Baccalaureate (IB) का पाठ्यक्रम लागू था। शिक्षण सहायक सामग्री के रूप में कक्षा में सिनेमा (प्रासंगिक फिल्म क्लिपिंग दिखाना) का प्रयोग करने के साथ–साथ उन्होंने अपने सभी स्कूलों में फिल्म समालोचना को क्लब की एक गतिविधि के रूप में शुरू किया। उनसे v.prasad@azimpremjifoundation.org पर सम्पर्क किया जा सकता है।* ***अनुवादः*** *नलिनी रावल*

16 शब्दों से परे

चाँदिनी हरलल्का

कला द्वारा बच्चे अपने मनोभावों को अच्छी तरह से व्यक्त कर सकते हैं क्योंकि कुदरती तौर पर ही वे अधिक कलात्मक तथा सृजनशील होते हैं।

रोहन (12 वर्ष) उस सुबह एक बार फिर से शुरू हो गया। बाहरी शोर (उत्तेजित करने वाला वातावरण) से उसे नफरत है। किसी बच्चे का रोना सुनकर वह फिर उन्हीं हरकतों पर उतर आया। अपना स्कूल का बस्ता फेंककर चिल्लाते हुए वह दूसरी चीजों को फेंकने के लिए ढूँढ़ रहा था। आँसू भरी आँखों से उसने मेरी ओर देखा....निराशा से। मैं उसे धीरे–धीरे कला केन्द्र की ओर ले गई। मैंने उसे कागज की एक बड़ी शीट तथा कुछ मोमकलर दिए। खाली कागज और रंगों का पूरा डिब्बा देखकर वह खुश हो गया। रोना बन्दकर, उसने एक मोमकलर लिया और रेखाएँ खींचने लगा।

वह एकाग्रचित, मुस्कुराते हुए अपनी कलाकृति बनाने में डूबा हुआ था। केवल पाँच मिनट में ही चित्र बनाकर, उसमें रंग भरकर उसे पूरा कर चुका था। चित्र में हवाईपट्टी पर एक हवाई जहाज था। पृष्ठभूमि में थाई एअरवेज, हवाई जहाज कॉकपिट तथा हवाईअड्डा। उसके कलात्मक हाथों ने एक सम्पूर्ण चित्र बना दिया था। उसने कहा कि उसे कॉकपिट में बैठना अच्छा लगता है। यह उसके चित्र से स्पष्ट पता लग रहा था।

चित्र बनाने की इस गतिविधि ने उसे उसकी कुण्ठा से मुक्त कर दिया था। बाहरी शोर के प्रति उसकी असहनशीलता उसके द्वारा बनाए कॉकपिट के जटिल चित्र से अभिव्यक्त हो रही थी। गर्व के साथ हमने उसकी कृति स्कूल के सूचनापट्ट पर लगा दी। उसका चेहरा खिल उठा। चेहरे पर मुस्कान लिए नाचते हुए कदमों से वह वहाँ से चला गया। इस तरह के बच्चों पर कला का असर ऐसा ही होता है।

रोहन, एक स्वलीन (ऑटिस्टिक) या अपने में ही लीन रहने वाला बच्चा है। रोहन जैसे स्वलीन बच्चों की बहुत सारी समस्याएँ हैं। वे रोज ही क्रोधित होते हैं। परन्तु कला उन्हें शान्त करती है, उनका मिजाज ठीक करती है तथा उन्हें उनकी दिनचर्चा बिताने में मदद करती है। कला केवल एक स्थिति से निपटने का माध्यम ही नहीं बल्कि इलाज का एक तरीका भी है। कला केवल उनका शौक ही नहीं बल्कि उनके विचारों का विस्तार है। कला द्वारा बच्चे अपने मनोभावों को अधिक अच्छी तरह से व्यक्त कर सकते हैं, क्योंकि कुदरती तौर पर ही वे अधिक कलात्मक तथा सृजनशील होते हैं। परन्तु हर बच्चा रोहन की तरह कलात्मक नहीं हो सकता, हर चित्र सर्वश्रेष्ठ नहीं हो सकता। पर कला का लक्ष्य इससे कहीं अलग है। यह लक्ष्य नतीजे से सम्बन्धित नहीं होना चाहिए। यहाँ केन्द्र–बिन्दु चित्र नहीं अपितु कला द्वारा बच्चे के ठीक होने की प्रक्रिया है।

यह हमें हमारे विद्यालयों में देखने को क्यों नहीं मिलता? इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि कला आमतौर पर विद्यालयों में सप्ताह में केवल एक दिन ही सिखाई जाती है। उस समय में भी बच्चों को सेब या नारियल के पेड़ों के साथ पृष्ठभूमि में पर्वतों के चित्र बनाने के लिए

कह दिया जाता है। ऐसी पूर्व निर्धारित कलाकृतियाँ तो किसी 'कलाअध्यापक' की कलात्मकता भी नहीं दर्शातीं! कला तो प्रतिदिन सीखने की प्रक्रिया का हिस्सा होना चाहिए। विशेष जरूरतों वाले बच्चे आम दिनचर्या में सफल हो सकते हैं, यदि उनके पाठ्यक्रम में कला को शामिल कर दिया जाए। इस तरह कला इन बच्चों के लिए बहुत मददगार साबित होगी।

आमतौर पर विशेष जरूरतों वाले बच्चों में स्वाभाविक रूप से कल्पनाशक्ति होती है। लेकिन प्रश्न–उत्तर का तरीका इन बच्चों के लिए, जिनकी शब्दावली सीमित है, निरूत्साहित तथा भयभीत करने वाला हो सकता है। इसलिए बच्चों से आम बातचीत के तरीकों की अपेक्षा कला द्वारा संवाद स्थापित करना एक बेहतर तरीका है।

हम इन विशेष जरूरतों वाले बच्चों के लिए कला पर आधारित सीखने का वातावरण कैसे पैदा कर सकते हैं? यहाँ छह आसान तरीके दिए गए हैं जिनसे कला इन 'विशेष जरूरतों' वाले बच्चों की जिन्दगी में सार्थक रूप ले सके। जब इन उपायों ने मेरी एक कला परामर्शदाता के रूप में इतनी मदद की है तो यह औरों के लिए भी कारगर साबित क्यों नहीं होंगे–चाहे वह एक कक्षा में पढ़ाने वाला अध्यापक हो या फिर किसी स्वलीन बच्चे के माता–पिता अथवा विशेष जरूरतों वाले स्कूल का स्वयंसेवक।

- **जानी पहचानी जगह:** बच्चे अकसर उन लोगों के साथ सहज महसूस करते हैं जिन्हें वह जानते हैं। जिन चेहरों को वे पहचानते हैं उनके साथ समय बिताते समय उन्हें यह विश्वास होता है कि वे उनके लिए कोई खतरा पैदा नहीं करेंगे। इसलिए जरूरी है कि आप उन बच्चों के आसपास रहें ताकि वे आपको देख और पहचान सकें। आप स्वयं उन बच्चों को चुपचाप गौर से देखते रहें। हर विशेष बच्चे की जरूरतें अलग–अलग होती हैं तथा उन्हें ध्यान से देखकर ही हम यह महसूस कर पाते हैं कि हर ऐसे बच्चे के लिए कला का अर्थ अलग है।
- **उपयुक्त सामग्री:** सामग्री का चुनाव करते हुए हमें बच्चे की विकास की अवस्था को ध्यान में रखना चाहिए। किसी बच्चे की शारीरिक सीमाएँ उसके विकास की अवस्था को नहीं दर्शातीं। उदाहरण के लिए, यदि एक स्कूल जाने लायक बच्चे को चीजें पकड़ने में मुश्किल होती है तो उसे वह चीजें दें जो आप छोटे बच्चे को देंगे। जैसे बड़े ऑयल पेस्टल, बड़े मोमकलर की तरह आसानी से पकड़े जा सकते हैं। उनसे किए काम को देखने पर उनमें परिपक्वता झलकती है।
- **वस्तुपरक रहें:** जब बच्चे अपनी कल्पना को हमसे साझा करते हैं, इसका अर्थ है कि वे हम पर पूर्ण विश्वास करते हैं और इसीलिए हमें अपनी दुनिया में सम्मिलित कर रहे हैं। हम उनके द्वारा चित्रित उनके मनोभावों को मौखिक भाषा देकर उनकी मदद कर सकते हैं। जैसे,'मैंने देखा कि तुमने हरा पेड़ बनाया है। मैं एक छोटी लड़की देख सकती हूँ जो कि उदास लग रही है।' वस्तुपरक रहकर हम बच्चों को सहज बना रहे हैं तथा उन्हें अपनी भावनाओं को साझा करने का मौका दे रहे हैं। स्वलीन बच्चों के साथ जब अध्यापक एक समय में एक बच्चे के साथ एक ही कार्य करते हैं तो बच्चों की कल्पना करने, प्रतिकात्मक रूप से व्यक्त करने, पहचानने तथा चेहरे के भावों को देखकर प्रतिक्रिया करने की सामर्थ्य बढ़ जाती है। किसी बनावट को पहचानने तथा शरीर के अलग–अलग अंगों के मिलकर काम करने की कुशलता भी बढ़ जाती है।
- **संवाद स्थापित करें:** बहुत अधिक प्रश्न पूछने वाला तरीका न अपनाएँ। उन्हें जवाब देने का समय देते हुए, उनके द्वारा कही गई छोटी–छोटी बातों को जोड़कर संवाद स्थापित करने का तरीका ही मेरे लिए कारगर साबित हुआ है। इस सारी प्रक्रिया में सहनशक्ति तथा प्रोत्साहित करना बहुत अधिक महत्त्व रखते हैं। हाँ, यह करने से अधिक कहना आसान है, परन्तु कला द्वारा सफल नतीजा प्राप्त करने के लिए समय और मेहनत दोनों ही लगाने पड़ेंगे।
- **खेल–खेल में:** कला द्वारा बच्चे के साथ बहुत प्रगाढ़ सम्बन्ध बनाए जा सकते हैं। बच्चे द्वारा बनाई

कृति कैसी है, इस पर अधिक जोर न दें बल्कि बच्चे को तनाव मुक्त तथा आनन्द की अनुभूति करवाना ही असली 'मंत्र' है। इस कला के सृजनात्मक कार्य से बच्चे में अपनी सीमाएँ पहचानने की क्षमता पैदा होती है तथा वे इसे पूरी तरह से प्रयोग कर सकते हैं। वे अपनी कृतियों तथा अपने आप पर गर्व महसूस करने लगते हैं।

इन सीमित क्षमताओं वाले बच्चों के लिए कला अपने मनोभावों को व्यक्त करने का एक बहुत ही शक्तिशाली परन्तु सुरक्षित माध्यम है। कई स्थितियों में कला चिकित्सा विशेषज्ञ की सहायता लेना आवश्यक है परन्तु फिर भी आम व्यक्ति भी इन बच्चों के साथ काम करते हुए ये नियम अपना सकता है। बच्चे अपनी कला में शायद सुरुचि अथवा सौन्दर्य कभी भी न ला पाएँ, परन्तु हमें उनकी अपने भावों को कला द्वारा ईमानदारी से व्यक्त करने की क्षमता पर ध्यान देना चाहिए। यह अपने आप में एक बहुत बड़ी बात है। खासतौर पर रोहन जैसे बच्चों के लिए जिनके लिए हम 'सामान्य' वातावरण नहीं बना पाए हैं। हमें कला को कलाकार या विशिष्ट वर्ग के शौक के रूप में नहीं देखना चाहिए। इन विशेष बच्चों के लिए कला संवाद की एक भाषा है, अपने भावों को व्यक्त करने का माध्यम। चलिए शब्दों से परे अधिक गहराई में चलते हैं जैसा कि अल्बर्ट हब्बार्ड ने कहा है, 'कला वस्तु नहीं, एक तरीका है।'

चाँदिनी हरलल्का *एक कला परामर्शदाता हैं। सामाजिक कला पर आधारित उनकी एक वैबसाईट है artflute.com। आर्टफ्ल्युट देश भर के कलाकारों द्वारा बनाई कलाकृतियों को दिखाने का एक मंच है। इन दिनों वे सृजनात्मक कला चिकित्सक का प्रशिक्षण ले रहीं हैं, ताकि औरतों तथा बच्चों के साथ विशेषज्ञ के तौर पर काम करने में सक्षम हो जाएँ। उनसे chandini.harlalka@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है।* ***अनुवादः*** *निरूपा भटनागर*

17 नाटक बहुत कुछ सिखाते हैं

lkefgd ifØ;kvk }kjk lV vkj Fkuh oky fMtkbuk dk fodkl ,o mi;kx

कल्पना बालाजी

कहा जाता है कि रंगमंच व अभिनय का कार्य करने तथा अपनी कहानी को दर्शकों तक एक दक्षता से पहुँचाने के लिए अपने अविश्वासों का पूरी इच्छाशक्ति के साथ त्याग सबसे पहली आवश्यकता है। सब जानते हैं कि यह कहानी वास्तविक नहीं है जिसका खुलासा सबकी आँखों के सामने हो रहा है तथा जिसे अब हरेक दर्शक देख रहा है। सभी दर्शक जानते हैं कि वे अब एक बड़े भवन में हैं जिसका मंच अभिनेताओं से भरा हुआ है, तब जैसे ही एक बार नाटक शुरू होता है सभी दर्शक भी अपने अविश्वासों को त्याग कर नाटक में तल्लीन हो जाते हैं। वे कहानी तथा उसकी परिस्थितियों के साथ धीरे–धीरे जुड़ने लगते हैं, यदि कहानी दक्षता के साथ विकसित की गई हो तो वे कहानी के साथ दूसरी दुनिया में पहुँच जाते हैं।

कहानी को प्रभावपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करने के लिए रंगमंच तथा नाटकों के निर्माण से सम्बन्धित सभी तत्वों जैसे कहानी की घटनाओं, अभिनय, रंगमंच का इस्तेमाल, सेटों, थूनियों, रोशनियों, परिधानों तथा संगीत आदि को समुचित ढंग से संयोजित किया जाना चाहिए। नाटक से जुड़े हरेक घटक या बिन्दु को सावधानी से सोचना तथा सुनियोजित करना चाहिए। पेशेवर नाटकों के निर्माण के समय आमतौर पर नाटकों के निर्देशक एक बड़े समूह या टीम के साथ नाटक के अभ्यास के प्रारम्भिक चरण से ही मिलकर काम करते हैं। ऐसे समूह में नाटक के प्रत्येक घटक के प्रभारी शामिल होते हैं। ऐसा इसलिए किया जाता है ताकि नाटक की शुरुआत से ही विभिन्न सृजनात्मक प्रयासों और विचारों को उचित समय व स्थान दिया जा सके।

मुझे पिछले छह वर्षों में कई पेशेवर नाटक समूहों के साथ बहुत ही नजदीक से कार्य करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। मैं कई ऐसे सफल निर्माणों का हिस्सा बन पाई हूँ जिनमें नाटकों की अन्तिम स्क्रिप्ट कई महिनों तक अनेक लोगों द्वारा की गई सामूहिक माथापच्ची का सफल परिणाम साबित हुई है तथा नाटकों की असली ताकत के रूप में उभरी। मैं जब भी महाविद्यालय तथा विद्यालय से जुड़ी अपनी रंगमंच सम्बन्धी यादों को पीछे मुड़कर देखती हूँ तो मुझे याद आता है कि कॉलेज में विचारों के आदान–प्रदान व सृजनात्मक प्रयासों से सामूहिक रूप से किसी नाट्य निर्माण के अवसर बहुत ही कम होते थे। विद्यालय में तो ऐसे अवसरों का पूरी तरह अभाव रहता था।

जब हम विद्यालय में बच्चों के रूप में नाटकों में भाग लेते थे तो हमें सिर्फ निर्देशित ही किया जाता था कि हमें क्या करना, क्या पहनना और क्या कहना है। हमारे विचारों या सोच को विद्यालय के उन नाटकों में कोई स्थान नहीं दिया जाता था। किसी विचार या भाव पर खोजबीन करने की कोई सम्भावना नहीं होती थी। नाटक के सेट या पात्रों के पहनावे के विषय में हम अपना मत व्यक्त नहीं कर सकते थे। यहाँ तक कि हमें यह पूछने की आजादी भी नहीं होती थी कि हम नाटक किस विषय पर कर रहे हैं। फिर भी यह स्थिति कुछ हद तक समझी भी जा सकती है। क्योंकि नाटक की प्रभारी दो अध्यापिकाएँ होती थीं जिन्हें अपने निर्देशन में तीस से चालीस बच्चों को बहुत ही कम समय में बहुत अधिक काम करवाना होता था। विद्यालय शिक्षा में यदि रंगमंच तथा कला से जुड़े कार्यों को नियमित रूप से पूरे वर्ष भर शामिल नहीं किया जाता तो यह स्थिति सुधर नहीं सकती, जो कि बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण है। रंगमंच एक विशेष कला है जो कि अभिनय कला के विभिन्न तत्वों पर आधारित है। जिनमें संगीत, नृत्य, अभिनय, शारीरिक भाव–भंगिमा तथा पृष्ठभूमि से जुड़े दृश्यों की अनेक गतिविधियाँ होती

हैं और इनको सृजनात्मक ढंग से किया जा सकता है। इस वजह से बच्चों के साथ सामूहिक रूप से कार्य करने की बहुत–सी सम्भावनाओं व अवसरों को तलाश किया जा सकता है।

मेरा यह मानना है कोई व्यक्ति जन्म से कलाकार या विद्वान नहीं होता। यह हमें अलग–अलग कार्यों को करने के लिए मिलने वाले अवसर ही हैं जो हमारे अन्दर निहित रुचियों और कलाओं को असली आकार देने में सहायता करते हैं। वयस्क लोगों की अपेक्षा छोटे बच्चों के लिए यह बहुत आसान होता है कि वे यथार्थ की दुनिया को छोड़कर काल्पनिक संसार में खो जाएँ। बच्चे विलक्षण परिस्थितियों की कल्पना लगातार काफी समय तक कर सकते हैं तथा वे बहुत समय तक अपने आप को ऐसी परिस्थितियों में अनुभव करते हैं। वे अभिनय, कहानी कहने तथा अपने अविश्वासों को पूरी शक्ति के साथ त्यागने के सभी कार्यों को एक साथ करते हैं। जैसे–जैसे हम बड़े होते हैं तथा माध्यमिक विद्यालय में जाते हैं हमारे ऊपर अकादमिक विषयों की पढ़ाई का दबाव बढ़ने लगता है। लेकिन इस अवस्था में भी बच्चों में कल्पना तथा अभिनय करने की क्षमताएँ हमेशा मौजूद रहती हैं। बच्चों में बचपन से निहित कल्पनाशीलता और सृजनात्मकता को सही ढंग से पेश किया जाए तो ये भी दूसरे मानसिक कौशलों की तरह स्थायी कौशलों के रूप में विकसित हो सकती हैं। ये बड़े होने पर हमारे पेशेवर जीवन में शक्तिशाली उपकरणों के रूप में हमेशा उपस्थित रह सकती हैं जो कि हमारे लिए बहुत लाभदायक सिद्ध हो सकती है।

मैं बच्चों के साथ काम करने की विशेषज्ञ नहीं हूँ। वास्तव में मेरी दक्षता डिजाईनिंग में है। लेकिन मैं यहाँ एक–दूसरे के सहयोग से सृजनात्मक कार्य करने की प्रक्रियाओं के विषय में अपने अनुभवों के आधार पर कुछ सुझाव पेश करूँगी। मेरे ये सुझाव विशेष रूप से सेट और थूनी (prop) वाले डिजाईन के क्षेत्र से सम्बन्धित हैं। इनका विद्यालयों में करवाए जाने वाले नाटकों में आसानी से इस्तेमाल किया जा सकता है।

आइए, इन्हें आधारभूत ढंग से शुरू करते हैं। दूसरे शब्दों में कहूँगी कि चलिए शून्य से शुरू करें। सबसे पहले आप अपने आपसे पूछें कि आपको जो अभिनय करना है उसके लिए औपचारिक रंगमंच बनाने की आवश्यकता होगी या यह अनौपचारिक वातावरण में खुले स्थानों पर भी आसानी से किया जा सकता है। अगला प्रश्न यह होगा कि क्या हमें रंगमंच को पूरी तरह भरने की आवश्यता होगी? इसका सबसे सामान्य हल यही ढूँढ़ा जाता है कि पृष्ठभूमि में एक लम्बा कैनवास लगाया जाए जिसे समुचित ढंग से रंगा गया हो। कैनवास ऐसा हो जिससे दृश्य की स्थिरता का बोध हो सके। ऐसा करने से विषय के सन्दर्भ का उचित बोध होता है तथा पृष्ठभूमि के दृश्य भी सही ढंग से समझ में आते हैं। इस विषय में हमारे शिक्षकों को सबसे पहले बच्चों को सिर्फ मनोरंजन के लिए चित्रकारी करवाकर सहायता करनी होगी। लेकिन ऐसी पृष्ठभूमि कभी दुरूस्त दिखाई नहीं देती। इसके निचले भाग में कुछ दूसरी चीजें लगाकर सामने से अच्छी तरह ढका जा सकता है। इसके लिए कुछ आधारभूत ढाँचों और स्त्रोतों की आवश्यकता होती है। प्रारम्भ में यह प्रश्न भी पूछना अच्छा होगा कि क्या हमें वास्तव में पृष्ठभूमि की आवश्यकता है भी? पृष्ठभूमि के द्वारा आखिर आप दर्शकों को क्या दिखाना चाहते हैं? क्या इसे अभिनय या कुछ सांकेतिक भंगिमाओं और गतिशील रंगमंचीय सामग्रियों के द्वारा नहीं दिखाया जा सकता?

अगर आपके पास संसाधन पर्याप्त हों तो सामान्य रूप से इस्तेमाल किए जाने वाला दूसरी तरह का सेट, 'बॉक्स सेट' होता है। 'बॉक्स सेट' में L या C आकार की पृष्ठभूमि होती है जिसमें आने–जाने के लिए विशेष प्रवेश और प्रस्थान द्वार होते हैं। अगर 'बॉक्स सेट' किसी इमारत में स्थित एक कमरे में हो तो उस स्थिति में आमतौर पर 'बॉक्स सेट' में एक दरवाजा और एक खिड़की होगी। सम्भवतया वहाँ कुछ तस्वीरें लटकाने वाले ढाँचे व इस तरह की अन्य चीजें भी होंगी। पृष्ठभूमि तथा बॉक्स सेट आमतौर पर वास्तविकता कि झलक दिखाने व "वास्तविकता" का दृश्य बोध करवाने की दृष्टि से इस्तेमाल किए जाते हैं। हालांकि

हम जानते हैं कि दर्शक आमतौर पर मानसिक रूप से अपनी अविश्वसनियता को छोड़ने की तैयारी से ही आते हैं। बॉक्स सेट आपके रंगमंच के काफी बड़े हिस्से और गहराई को काट देता है। जिससे आपके अभिनय का क्षेत्र भी कुछ हद तक सीमित होता है।

किसी भी नाटक का प्रारम्भिक अभ्यास या रिहर्सल शुरू करते समय हम अपने समूह में सभी अभिनय करने वालों के साथ एक कार्यशाला करते हैं जिसमें स्थिर (freeze frames) नामक गतिविधि को सबसे पहले करवाया जाता है। इस विधि से हमें यह समझने का मौका मिलता है कि हम बिना किसी सेट का इस्तेमाल किए सिर्फ अभिनय करने वालों व उनके शरीरों को आधार बनाकर रंगमंच पर किस हद तक विषय के सन्दर्भ को स्थापित कर सकते हैं। यह गतिविधि बच्चों के साथ भी बेहद आसानी से की जा सकती है तथा यह उपयोगी होती है।

आपकी शुरुआत आपके सन्दर्भ के साथ होती है। मान लीजिए कि आप रेलगाड़ी के स्टेशन का दृश्य दिखाना चाहते हैं। आप दस लोगों का समूह लें और स्थिर ढाँचों वाला दृश्य उभारने को कहें। इस गतिविधि के तहत प्रथम व्यक्ति अभिनय करते हुए निर्धारित स्थान पर पहुँचकर दृश्य को दिखाने के लिए एक निश्चित भंगिमा बनाएगा। रेलवे स्टेशन का दृश्य दिखाने के लिए दूसरा व्यक्ति किसी भारी चीज को उठाकर चलने का अभिनय कर सकता है या प्लेटफार्म पर सोने या गाड़ी के पीछे भागने का। इस अभ्यास की सबसे खूबसूरत बात यह है कि इसके तहत अन्तहीन गतिविधियाँ की जा सकती हैं। इसलिए सबसे अच्छा तरीका यही होता है कि आप व्यक्ति (इस केस में बच्चा) को निर्णय लेने दें कि वह क्या करना चाहता है। ऐसी स्थिति में बच्चे अपने भीतर के विचारों और भावों को खुद ही पहचानते और व्यक्त करते हैं। अलग–अलग गतिविधियाँ उनको अपनी भूमिका को पहचानने व उसके विषय में सोचने, अपने आपको स्वाभाविक, सृजनात्मक बनाने तथा परिस्थिति के अनुसार प्रतिक्रिया व्यक्त करने के लिए प्रशिक्षित करती हैं। मेरा मानना है कि यह सभी कौशल सिर्फ रंगमंचीय नहीं बल्कि जीवन उपयोगी कुशलताएँ हैं।

नाटक 'मिस मीना' के एक स्थिर दृश्य अभ्यास का फिल्म पोस्टर

एक बार पहले व्यक्ति ने अपनी निर्धारित भंगिमा बना ली है और वह वहाँ स्थिर हो गया तो दूसरा व्यक्ति चलता हुआ जाएगा और उसी दृश्य की दूसरी भंगिमा बनाएगा। यह स्थिति भी पहले व्यक्ति द्वारा लक्षित विषयवस्तु के समान ही होगी तथा उस स्थिति के सन्दर्भ से जुड़ी हुई होगी जो पहले व्यक्ति ने दर्शाई है। इस तरह आप आठ या दस लोगों के अभिनय से एक खास तरह के दृश्य की रचना करने में सफल हो सकते हैं। यदि आपके पास और व्यक्ति (या बच्चे) हैं, जो कि विद्यालय में अकसर होते हैं, तो इस बढ़ी हुई संख्या को अपने लाभ के लिए उपयोग कर सकते हैं। पहले दृश्य को स्थिर रहने दें। दूसरे समूह के लोगों को जो कि अब तक बाहर बैठे थे इस दृश्य की समालोचना करने को कहें। वे क्या देखते हैं? रेलगाड़ी कहाँ है, प्लेटफार्म कहाँ है, वहाँ क्या हो रहा है? क्या वह भीड़–भाड़ वाला दिखाई देता है, असंतुलित है, रोचक या उबाऊ है। इस अभ्यास या गतिविधि में समालोचनात्मक विश्लेषण एक महत्त्वपूर्ण औजार है।

हमारे बहुत सारे नाटक स्थिर ढाँचों की गतिविधियों में ही असफल होकर नाटकों की स्पर्धा से बाहर हो जाते हैं। इस अभ्यास को बार–बार करके आप अपने कलाकारों को यह अवसर देते हैं कि वे सीमित स्थान का उपयोग अधिक से अधिक किस तरह कर सकते हैं। किस तरह बिना जटिल सेटों की मदद के दृश्य परिवर्तित कर सकते हैं। लेकिन यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि केवल कलाकारों के शरीर के आधार पर हर तरह के दृश्य की रचना नहीं की जा सकती। कई बार सिर्फ एक थूनी ही दीर्घ अवधि के लिए उस तत्व को स्थापित करने में सहायक होती है जो आप कहना चाहते हैं। यदि हम स्थिर ढाँचों के अभ्यास को विस्तृत एवं बहुआयामी ढंग से इस्तेमाल करके देखते हैं तो हमारी अपेक्षाकृत बेहतर समझ बनती है कि हमें किस तरह की रंगमंचीय सामग्री की आवश्यकता है।

यह रंगमंचीय सामग्री असली वस्तुएँ भी हो सकती हैं। उदाहरण के लिए किसी नाटक में यदि आपको कुर्सी की आवश्यकता है तो आप वास्तविक कुर्सी का उपयोग कर सकते हैं, नहीं तो आप किसी घनाकार वस्तु का उपयोग

भी कर सकते हैं। अर्थात् आप वास्तविक कुर्सी के स्थान पर किसी भी ऐसी चीज का इस्तेमाल कर सकते हैं जो बैठने के काम आ सके। दूसरे स्थिर ढाँचे में आप किसी ऐसी चीज का इस्तेमाल कर सकते हैं जिसके ऊपर खड़ा हुआ जा सकता हो। बहुउद्देशीय थूनी अपेक्षाकृत अधिक उपयोगी होती हैं। उनका दक्षता से उपयोग करके दर्शकों को नाटकों में अधिक सम्मिलित किया जा सकता है तथा इनके उपयोग से नाटकों पर होने वाले खर्च को भी कम किया जा सकता है।

अपनी रंगमंचीय सामग्री का सबसे बेहतर उपयोग करने के लिए इन सामग्रियों का कार्यशाला में उपयोग करना जरूरी है अर्थात् रंगमंचीय सामग्रियों के साथ भी कार्यशाला की जानी चाहिए। हमें क्रियाओं या गतिविधियों की एक ऐसी शृंखला विकसित करनी चाहिए जिसमें सभी कलाकार एक–एक करके आएँ तथा थूनी का इस्तेमाल करते हुए परिस्थितियों की कल्पना करें। आप सिर्फ एक ही थूनी को कलाकारों द्वारा अलग–अलग ढंग से इस्तेमाल करने

के लिए कह सकते हैं। थूनी का अलग–अलग ढंग से उपयोग उसी तरह किया जा सकता है जैसे मैंने कुर्सी का उदाहरण दिया है। मेरा आशय पुन: यही है कि हरेक कलाकार को अपने विचार व्यक्त करने तथा अपने लिए खुद सोचने कि स्वाभाविक आदत डालना बहुत जरूरी है। इस तरह के अभ्यासों से इतने अद्‌भुत विचार आते हैं जो मुझे हैरान कर देते हैं। आमतौर हम सबसे पहले एक थूनी वाले अभ्यास से कार्य शुरू करते हैं तथा उसे धीरे–धीरे स्थिर ढाँचों वाले अभ्यासों तक ले जाते है जिसमें कई थूनियाँ संयुक्त रूप से इस्तेमाल की जाती हैं। इनमें से हम सबसे अच्छे विचारों और योजनाओं को छाँटने कि कोशिश करते हैं जिन्हें नाटकों के अन्तिम प्रारूप में शामिल किया जाता है।

सृजनात्मकता को बढ़ाने के लिए आसपास उपलब्ध वस्तुओं को थूनी के रूप में उपयोग करना एक बहुत ही आसान परन्तु उपयोगी अभ्यास है। दैनिक जीवन में इस्तेमाल होने वाली ऐसी चीजों को इकट्‌ठा करें जो दिलचस्प आकारों में बनी हों। हर एक कलाकार को इस तरह की कम से कम एक वस्तु लाने को कहना चाहिए तथा निर्देशक को आपात भण्डार के रूप में कुछ अधिक वस्तुओं को इकट्‌ठा करके रखना चाहिए। इस क्रिया से आपके पास थूनियों का जो संग्रह होगा उसमें आपको विभिन्न प्रकार के आकार, वजन तथा बनावट वाली चीजें काफी संख्या में मिल जाती हैं। यदि कोई भी वस्तु मिलती है तो हम आसानी से पहचान सकते हैं कि अमुक वस्तु का अपने नाटक में क्या इस्तेमाल हो सकता है। कार्यशाला मे ऐसी वस्तुओं को इकट्‌ठा करके उनसे कई तरह की सम्भावनाएँ खोज सकते हैं। बहुत पहले किए नाटक में ग्रामोफोन के लिए खाना बनाने वाले बड़े–बड़े बर्तनों का उपयोग किया गया था। एलपी रिकार्ड को दिखाने के लिए खाने की साधारण प्लेटों के ढेर का इस्तेमाल किया था। बगीचे में कुआँ दिखाने के लिए ट्रक के तीन पहियों को एक के ऊपर एक जमाया था। इसी तरह गणेश मन्दिर को दिखाने के लिए कलाकारों द्वारा चन्द क्षणों में जल्दी–जल्दी दृश्य परिवर्तन करते हुए झाड़ुओं, टोकरियों, कपड़ों को इकट्‌ठा करके गणेश मन्दिर बना दिया गया था।

मैं जिस बिन्दु की तरफ आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहती हूँ वह यह है कि जितने अधिक से अधिक लोग सामूहिक रूप से नए विचार व योजनाएँ सोचने की कोशिश करेंगे उतनी अधिक नई योजनाएँ सामने आएँगी तथा उतना ही अधिक मजा आएगा। ऐसा करने के लिए हमें कलाकारों तथा कार्यशाला आयोजित करने वाले स्रोत व्यक्तियों को समुचित समय देना होगा। समय का यह निवेश भविष्य में बहुत अधिक लाभांश प्रदान करेगा।

कल्पना बालाजी *एक वास्तुविद हैं। चैन्नई में रहती हैं और 'पर्च' नामक रंगमंच समूह से जुड़ी हुई हैं। 'पर्च' के गठन के समय से ही वे इसके नाटकों में डिजाइनिंग तथा विद्युत सजावट का कार्य कर रही हैं। पिछले कुछ वर्षों में 'पर्च' ने भारत के अधिकांश इलाकों में अपने नाटकों का सफल प्रस्तुतिकरण किया है। 'पर्च' की प्रमुख नाट्य रचनाओं में 'सांगथी अरिणहा हैव यू हर्ड', 'मून शाईन एन्ड स्काई टॉफी', तथा 'मिस मीना' शामिल हैं। उनसे kalpana@diagrammar.in पर सम्पर्क किया जा सकता है।* ***अनुवाद:*** *निरूपा भटनागर*

18 शिक्षा का एक रूप : फिल्म-निर्माणकला

çjd ,oa jpukRed dke dk rjhdk

अंकित पोगुला

स्कूल जाने वाले हर बच्चे की तरह मुझे भी लगता था कि हर पल मैं इतनी सारी जानकारियाँ आत्मसात कर रहा हूँ कि रटना एकदम जायज है ! परेशानी केवल इस बात को लेकर नहीं थी, इस बात की भी थी कि "मैं" जो कुछ भी सोच रहा था, महसूस कर रहा था या समझ रहा था, उसे अभिव्यक्त नहीं कर पा रहा था।

छुटपन में दुनिया को देखने का हमारा नजरिया क्या था, दुनिया हमें कैसी लगती थी – खुश, भ्रामक या फिर विरोधी? हम किस बात को महत्त्व देते थे; दूसरे क्या चाहते थे कि हम क्या पसन्द करें लेकिन उसकी तुलना में हमें क्या पसन्द/नापसन्द था? खुशी, परिवार, सफलता, स्कूल और दोस्तों के बारे में मैं क्या सोचता था? 12 साल तक कई परीक्षाएँ देने एवं ढेर सारी उत्तर–पुस्तिकाओं को भरने के बावजूद ये कुछ ऐसे सवाल थे जिनके बारे में हमने स्कूल छोड़ने के अनेक वर्षों बाद तक बात ही नहीं की थी। शायद इनमें से कुछ सवालों के जवाब मुक्त वातावरण में ही दिए जा सकते हैं, जहाँ हमें अपने आपसे जुड़ने का समय मिलता है और हम अभिव्यक्ति के लिए खुद को स्वतंत्र महसूस करते हैं।

हर बच्चे या व्यक्ति में अपने आपको व्यक्त करने की स्वाभाविक इच्छा होती है। शिक्षा की प्रक्रिया अभिव्यक्ति की इस सुविधा के बिना अधूरी लगती है। अभिव्यक्ति केवल पाठ्येतर गतिविधि नहीं है बल्कि वह तो पाठ्यक्रम की गतिविधि है, जिससे बच्चे की ग्रहणशीलता बढ़ सकती है। यहीं पर कला एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। व्यक्ति के भीतर जो कुछ चल रहा है उसे कला रचनात्मक रूप से प्रकट करती है। फिर चाहे वह चित्रकला हो, प्रदर्शन कला हो या फिल्म–निर्माण हो। कला वह झरोखा है जिसके माध्यम से बच्चा कल्पनाशीलता व रचनात्मकता से जुड़ता है और दुनिया के बारे में अपने नजरिए को प्रस्तुत करता है!

'शिक्षा में फिल्म' क्यों

मैं देश भर में, अलग–अलग पृष्ठभूमि वाले बच्चों, युवाओं एवं वयस्कों के लिए फिल्म–निर्माण की कार्यशालाएँ आयोजित करता रहता हूँ। हर कोई फिल्मों के इस आकर्षक माध्यम को लेकर जो प्रतिक्रिया दिखाता है, वह अनुभव बेहद असाधारण रहा है। लेकिन फिल्में क्यों? वे इतनी लुभावनी क्यों हैं? कैमरा वर्क तथा सम्पादन के कौशल के निर्माण के अलावा फिल्में विद्यार्थियों के लिए और कौन–सी भूमिका निभा सकती हैं?

हम मनुष्य बहुत चाक्षुष जीव हैं और अपने सम्प्रेषण में इन्द्रियों का प्रयोग करना पसन्द करते हैं। हम लगातार शब्दों, ध्वनियों एवं भावनाओं के लिए छवियाँ बनाते रहते हैं। उदाहरण के लिए जैसे ही हम ये शब्द पढ़ते हैं, "पीछे पर्वतमालाएँ, सामने हरे–भरे खेत और पास में बहती जल–धारा," वैसे ही हमारे मन में अनेक छवियाँ उभरने

लगती हैं। दुनिया के बारे में हमारी व्याख्या बहुत कुछ इसी रूप में होती है। सफलता, खुशी, मौज–मस्ती, कला इन सभी के साथ छवियाँ जुड़ी हैं। संगीत या ध्वनि से इन छवियों का परिष्कार होता है या उन्हें नए आयाम मिलते हैं। कुल मिलाकर फिल्में अधिकतम सम्प्रेषण व कल्पनाशील पुनर्रचना का सृजन करती हैं।

पिछले एक दशक में सूचनाओं और दृश्य चित्रों का आगमन तेजी से हुआ है और इस वजह से बच्चों के सामने अखबार, टेलीविजन, विज्ञापन और फिल्मों जैसी ढेर सारी दृश्य–श्रव्य सामग्री मौजूद है। आज उनका ज्ञान बढ़ गया है और वे दुनिया के बारे में बहुत सारी बातें जानते हैं, हालाँकि ये उनके स्कूल, घर और दोस्तों से सम्बन्धित रोजमर्रा की जिन्दगी के परे हैं। पहले की तुलना में आज के बच्चे बड़ी तेजी से एक बहु–आयामी और गैर–रेखीय तरीके से सोचने में सक्षम हैं। परिणाम स्वरूप आज हमारे सामने ऐसे बच्चे हैं जिनका दिमाग अधिक कल्पनाशील एवं चुनौतीपूर्ण है।

दृश्य माध्यम में एक बच्चे (या हर व्यक्ति) की कल्पनाशीलता को बाँधे रखने और पूर्ण रूप से संतुष्ट करने की क्षमता है। शिक्षक इस बात को लेकर संघर्ष करते नजर आते हैं कि बच्चे विभिन्न विषयों को मन लगाकर पढ़ें। लेकिन मैंने

देखा है कि छोटी फिल्मों व वृत्तचित्रों के माध्यम से दृश्य चित्रों का उपयोग करने से बच्चों की जिज्ञासा एकदम से बढ़ जाती है, भले ही वे शहरीकरण या जलवायु–परिवर्तन जैसे जटिल विषय ही क्यों न हों। अत: एक शिक्षक के रूप में हमारे लिए यह बात और भी जरूरी हो जाती है कि हम इन माध्यमों का उपयोग करें ताकि बच्चों के रचनात्मक दिमाग को काम में तल्लीन रखा जा सके।

बच्चे: एक प्रेक्षक एवं रचनात्मक कथाकार

फिल्म और वृत्तचित्रों के सम्पर्क में आने के शुरुआती सालों में मैंने बच्चों और युवाओं पर बनी कई ऐसी फिल्में देखीं जिन्हें वयस्क फिल्मकारों ने बनाया था। इनमें बच्चे कुतूहल का विषय थे, अवलोकन का विषय थे तथा भविष्य को समझने का विषय थे! मैं अकसर सोचा करता कि अगर विषय (यानि बच्चे) को पर्यवेक्षक बनाकर उसकी नजर से दुनिया का अवलोकन किया जाए तो कैसा रहे। इस प्रक्रिया में कैमरा एक शक्तिशाली उपकरण साबित हुआ। हाथ में कैमरा हो तो बातचीत के लिए शब्दों, वाक्यों एवं वाक्य संरचनाओं की इतनी जरूरत नहीं पड़ती। बच्चा जो कुछ दिखाना चाहता है, उसे चुन पाता है, उसे एक अलग या नया अर्थ दे पाता है तथा सम्भवत: और अधिक स्पष्ट रूप से अपनी बात कह पाता है।

शिक्षा के क्षेत्र में करीब एक दशक से काम करते हुए तथा एक वीडियो प्रशिक्षक के रूप में मुझे इस बात से बहुत हैरानी हुई है कि मैंने बच्चे की रचनात्मकता और दुनिया के बारे में उसकी समझ को लेकर कितनी सारी बातों की 'कल्पना' कर रखी थी। फिल्म–निर्माण कार्यशालाओं में पटकथा लेखन एवं विजुलाइजेशन के बारे में बताते समय मैं यह देखकर चौंक गया कि लोगों का दृष्टिकोण कितनी विविधता लिए हुए है और वे अपने आसपास की चीजों को कितने रचनात्मक तरीके से देख पाते थे। यह दृष्टिकोण उन व्यक्तियों का था जो शब्दों में अपनी बात उतनी स्पष्टता से व्यक्त नहीं कर पाते थे, लेकिन कैमरे और फिल्मों की सहायता से वे अपनी बात बड़ी सहजता से कह गए।

एक बार मैं दिल्ली की फिल्म कार्यशाला में छात्रों के समूह के साथ काम कर रहा था, जिसमें री–सायकिलिंग पर एक मिनट की फिल्म बनानी थी। इस बात पर काफी बहस हुई कि इसे कैसे दर्शाया जाए और आँकड़ों से भरपूर फिल्म बनाने से कैसे बचा जाए। तब एक नया सुझाव सामने आया कि कचरे के डिब्बे में पड़ी हुई एक पुरानी और एक अपेक्षाकृत नई कमीज के बीच बातचीत करवाई जाए कि कैसे री–सायकिलिंग नए कपड़े के लिए जीवन रक्षक है! यह एक बड़ी चुनौती थी कि इस पूरी

प्रक्रिया और बात करती हुई कमीजों को कैसे शूट किया जाए। विद्यार्थियों ने ही यह विचार दिया कि उनके द्वारा पहनी हुई कमीजों पर चेहरा चित्रित किया जाए, सीने वाले हिस्से पर चेहरा बनाया जाए और हाव–भाव के लिए हाथों का संचालन किया जाए। विद्यार्थियों ने पाँच दिनों के भीतर एक अभिनव पटकथा लिखी, शूटिंग की और सम्पादन किया। मैं बच्चों की रचनात्मकता, चातुर्य एवं उत्साह को देखकर चकित रह गया। 20 लोगों का वह शान्त समूह अब सार्थक रूप से काम में जुटा हुआ, रचनात्मक एवं उत्साह से लबालब भरा हुआ समूह बन गया था !

सौन्दर्य–बोध के पीछे का अर्थ

अभिव्यक्ति हर व्यक्ति के अस्तित्व का अनिवार्य हिस्सा है। इसके अनेक रूप हैं जैसे कि संगीत, कविता, लेखन, नृत्य, चित्रकला, फिल्म आदि। जितना हम किसी रूप की गहराई में जाते हैं, उतना ही हम उसमें अधिकाधिक उत्कृष्ट और रचनात्मक होते जाते हैं। रूप के साथ–साथ यह बात भी उतनी ही जरूरी है कि उस अभिव्यक्ति के पीछे सन्देश क्या है? हम इस माध्यम द्वारा "क्या" कहना चाहते हैं और क्यों?

मैं एक फिल्मकार एवं शिक्षक होने के नाते इस बात को अपनी जिम्मेदारी मानता हूँ कि बच्चे के साथ काम करते वक्त अर्थ एवं रूप–इन दोनों पहलुओं का ध्यान रखना चाहिए। वास्तव में, मेरे हिसाब से विद्यार्थियों को सामाजिक एवं पर्यावरणीय मुद्दों तथा आत्म–खोज से जोड़ने के लिए फिल्में एक बहुत अच्छा माध्यम हैं। दो साल पहले हैदराबाद और चण्डीगढ़ में मैंने विद्यार्थियों के लिए कार्यशाला की थीं। इनमें लघु वृत्तचित्रों एवं विचार–विमर्श के माध्यम से मैंने अपना ध्यान इस बात पर केन्द्रित किया कि विद्यार्थी अपने शहरों के साथ अपने सम्बन्ध के बारे में कैसा महसूस करते हैं और क्या वह सम्बन्ध उनके घर और स्कूल से परे भी किसी बात को आवश्यक बनाता है? हमने शहरी जीवन के बारे में और अधिक जानकारी पाने के लिए शहरीकरण तथा पर्यावरण पर कुछ फिल्में देखीं। फिल्मों ने वह कर दिखाया जो सालों का शहर–प्रवास नहीं कर पाया! वे शहरी जीवन–शैली के साथ प्रदूषण और

कचरे के कई और अन्त: सम्बन्ध देख पाए।

एक बार इस सम्बन्ध को महसूस करने के बाद, वे सहज ही इस बात के लिए प्रेरित हुए कि उस शहर को ऐतिहासिक दृष्टि से जानें और उसे दृश्य रूप में दर्ज करें। फिर जो कायापलट हुई, वह अद्‌भुत थी–फिल्म के लिए विद्यार्थियों ने शहर की पर्यावरणीय स्थिति पर शोध करना शुरू कर दिया! अगले कुछ दिनों में हमने नालियों, गन्दी नहरों, गन्दे पिछवाड़ों, मॉल और मल्टीप्लेक्सों के पीछे छिपे शहर के खाली स्थानों आदि का दौरा किया। यह बहुत रोमांचक अनुभव था और दिलचस्प बात यह थी कि बच्चे कैसे उसी शहर को अपने कैमरे में कैद कर रहे थे–शहर वही था, दृश्य वही थे लेकिन नजरिया बिलकुल अलग!

मुझे लगता है कि जो कुछ हम सम्प्रेषित करना चाहते हैं, उसे लेकर अगर हमारे मन में स्पष्टता हो तो हमारी रचनात्मकता और कलात्मक क्षमता बहुत बढ़ जाती है। मेरे हिसाब से जिस अर्थ को हम सम्प्रेषित करना चाहते हैं, वह स्पष्ट हो तो हम उसे रचनात्मक रूप से अभिव्यक्त करने के लिए प्रेरित होते हैं। जितने अधिक रचनात्मक हम होते हैं, उतने ही अधिक लोगों को सन्तुष्ट करने में हम सफल होते हैं। इस प्रकार, अर्थ या मुख्य सामग्री और रचनात्मक अभिव्यक्ति साथ–साथ चलते हैं।

मूल सौन्दर्यबोध बनाम उधार का सौन्दर्यबोध –एक चुनौती

जब मैं स्कूल में पढ़ा करता था, तब स्कूल की वाद–विवाद और नाटक टीम का सदस्य था। पर मुझे अक्सर लगता

था कि जो कुछ भी मैं कहता या करता था उसे दरअसल मैं कहना या करना नहीं चाहता था। ये तो ऐसे भाषण या नाटक थे जो प्रचलन में थे या फिर दर्शकों को अपील करने वाले थे और शिक्षकों या सदन के कप्तानों को लगता था कि उनसे हमें पुरस्कार मिल सकता है। इनमें इस बात की अधिकता थी कि क्या अच्छा 'सुनाई' या 'दिखाई' देता है न कि ये कि मुझे कैसा लगता है। दूसरे शब्दों में मुझे लगता था कि मैं सौन्दर्यबोध को उधार में ले रहा हूँ क्योंकि मैं दूसरों के शब्दों को उनके बताए अनुसार बोल रहा था।

इसने मेरी रचनात्मकता को प्रभावित भी किया और सीमित भी। मुझे कल्पना एवं सौन्दर्यबोध की अपनी भावना के साथ खुद का आधार तैयार करने में थोड़ा वक्त लगा। मैंने उस तरह से प्रदर्शन क्यों नहीं किया जिसमें मैं सहज महसूस करता था? क्या शिक्षकों को मेरे सौन्दर्यबोध पर काम करके उसे विकसित करना चाहिए था या मुझसे अपने खुद के सौन्दर्यबोध की एक नई समझ बनाने को कहना चाहिए था?

एक शिक्षक तथा वीडियो प्रशिक्षक के रूप में मुझे लगता है कि हम अवचेतन रूप से, युवाओं और बच्चों को किसी सन्देश विशेष या 'अपने' सौन्दर्यबोध की ओर, कितनी कुशलता से चालित कर देते हैं। इससे बच्चे को लगता है कि सौन्दर्यबोध की उसकी सहज भावना उतनी अच्छी नहीं है ! मुझे लगता है कि हम शिक्षकों के लिए इस मुद्दे पर काम करना एक बड़ी चुनौती है और अगर इसका समाधान न ढूँढ़ा जाए तो बच्चे की अभिव्यक्ति और उसके कलात्मक होने की क्षमता को बड़ी हानि पहुँच सकती है।

हमें पहले तो बच्चे को इस बात की अनुमति देनी चाहिए कि वह स्वतंत्रता से खुद को अभिव्यक्त करे और उसके बाद एक फिल्म, कहानी या किसी अन्य कला के रूप में उस अभिव्यक्ति को परिवर्तित करने की दिशा में इस प्रक्रिया को आसान बनाने में मदद करनी चाहिए। साथ ही, विद्यार्थी जितने लम्बे समय के लिए लगातार किसी माध्यम के सम्पर्क में रहेंगे, उतना ही अधिक वे उसकी सूक्ष्म बारीकियों को समझेंगे तथा और अधिक रचनात्मक बनेंगे ।

डिजिटल मीडिया के आने के कारण आज छोटे–छोटे बच्चे भी कम्प्यूटर और कैमरा आदि का प्रयोग करने लगे हैं और आज हमारे घरों में एक ऐसी पीढ़ी है जो तकनीक से अच्छी तरह परिचित है। अत: यह जरूरी है उन्हें तकनीक के साथ प्रेरक व रचनात्मक रूप से काम करने के अवसर दिए जाएँ। शिक्षा के एक अंग के रूप में फिल्म–निर्माण उन्हें यह अवसर प्रदान करता है। फिल्मों के माध्यम से रचनात्मक व कलात्मक रूप से अपने आपको अभिव्यक्त करने के साथ–साथ इस माध्यम में इस बात की भी जबरदस्त गुंजाइश है कि हम अपने आन्तरिक स्व तक पहुँच सकें।

अंकित पोगुला *एक स्वतंत्र फिल्म निर्माता हैं। वे नई दिल्ली में ट्यूनिंग फोर्क फिल्म्स नामक एक प्रोडक्शन कम्पनी चलाते हैं जो वृत्तचित्रों का निर्माण करती है और फिल्म–निर्माण की कार्यशालाएँ आयोजित करती है। जामिया मिलिया इस्लामिया, दिल्ली से जनसंचार में स्नातकोत्तर की पढ़ाई करने के बाद अंकित भारत भर में शहरी और ग्रामीण युवाओं के साथ विकास, मीडिया व पहचान के मुद्दों का पता लगाने के लिए एक माध्यम के रूप में फिल्म का उपयोग कर रहे हैं। उनसे ankitpogula@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है।* ***अनुवाद:*** *नलिनी रावल*

मुझे उठने दो, मुझे जागने दो

मुझे उठने दो
खुरदरे पत्थर, कठोर चट्टान से
मुझे खुद को उठाने दो
झुके हुए कंधे, आगे को झुके हुए
मुझे तनकर खड़ा होने दो।

मुझे कविता बयां करने दो
अनबोले शब्दों, मूक शान्ति से
कविता को उभरने दो
मोतियों से सजे शब्द, एक-दूसरे से गुँथे हुए
मेरी प्रेरणा को मुक्त कर दो।

मुझे गाने दो
अनगाए स्वरों, अनसुनी धुनों से
मुझे मधुर संगीत चुनने दो
गुँथी हुई ध्वनियाँ, एक साथ संरेखित
प्रवाह को एक ताल एक लय में मुक्त कर दो।

मुझे रंग भरने दो
रंगों के इन्द्रधनुष में, रंग भरे बादल में
मुझे अपनी व्यग्र तूलिका को डुबोने दो
रजाईनुमा रंग-पट्टिका से ललक भरे कैनवस तक
मुझे अपने ही परिदृश्य में ऊँची उड़ान भरने दो।

मुझे नृत्य करने दो
अनुभूत लय पर, सूक्ष्म ताल पर
मेरी गति को तरंगित होने दो
रेशमी कदमों के तालमेल के साथ
मुझे सब बन्धनों से मुक्त हो उछलने दो।

मुझे उठने दो
अपने भीतर के प्रकाश से, अन्धकार को दूर करके
मुझे जगमगाने दो
अज्ञानता को नष्ट करके, अपने स्व को जानकर
मुझे जागने दो।

नीरजा राघवन, अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय
अनुवाद : नलिनी रावल
चित्र साभार - वैली स्कूल (के.एफ.आई.), बंगलौर

Picture Courtesy: Valley School (KFI), Bangalore

खण्ड स

जो अनुभव किया

19 और फिर हमने नृत्य किया...

चित्रा चन्द्रशेखर दासरथी

"गलती करना बुरा नहीं है", उस आठ साल की बच्ची ने कहा। मैंने मन में सोचा—वह ठीक कह रही है। मुझे ऐसे तरीके की तलाश करनी है जिससे वह गलती न करे !

फिर हमने उन कारणों का पता लगाया जिनकी वजह से उस विशेष अडवु को नृत्य रूप में प्रस्तुत करने में बार—बार समस्या खड़ी हो रही थी। "क्या तुम इसे समझ नहीं पा रही हो या फिर तुमने इसे करने की पर्याप्त कोशिश नहीं की है?" मैंने पूछा। नृत्य की हर गति की माँग के अनुसार शरीर को उसके अनुकूल बनना सीखना पड़ता है। बाद में बातचीत के दौरान मैं और वह बालिका इस बात पर सहमत हुए कि इसमें दोनों ही बातें थोड़ी—थोड़ी आ जाती हैं। नृत्य की कक्षा में शिक्षक और विद्यार्थी दोनों के सामने यह बात एकदम से जाहिर हो जाती है कि कोई बात समझ में आई या नहीं।

मैं भरतनाट्यम शैली में नृत्य करती हूँ और उसे सिखाती भी हूँ। नृत्य में गतियों या हरकतों की भली—भाँति परिभाषित शब्दावली होती है। नृत्य की बुनियादी संरचनाओं को इस तरह से सीखना चाहिए कि आगे चलकर हम अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण के लिए नृत्य की तकनीक के भीतर ही स्वतंत्र रूप से विचरण कर सकें। नृत्य मेरे लिए एक यात्रा है—बोले गए शब्दों से परे एक दुनिया बनाने की, जीवन के उन पहलुओं को समझने की जो अधिकतर मनोहर होते हैं, जो कभी—कभी पीड़ादायी होते हुए भी सदैव रोचक और रोमांचक होते हैं। मेरे पास ऐसी कहानियाँ हैं जिन्हें मैं सुनाना चाहती हूँ, ऐसी भावनाएँ हैं जिन्हें बतलाना चाहती हूँ और ऐसे अनुभव हैं जिन्हें मैं साझा करना चाहती हूँ।

नृत्य के शिक्षण में ऐसे कौशल का विकास करना जरूरी होता है जो लगातार विकासशील रहे। नृत्य हम शिक्षकों के लिए नई चुनौतियाँ प्रस्तुत करता है क्योंकि एक ही गति हर नर्तक/नर्तकी में अलग ढंग से प्रकट होती है। शास्त्रीय नृत्य के शिक्षक और विद्यार्थी के लिए प्रारम्भिक चुनौती यह है कि कुछ निर्धारित तरीकों से काम करने के लिए शरीर को अनुशासित किया जाए। कई अन्य कक्षाओं की तरह ही शुरू में नृत्य सीखना भी अनुकरण के द्वारा होता है। बच्चा शिक्षक की गतियों का अनुकरण करता है और कुछ समय बाद लगने लगता है कि नृत्य की गतियाँ उसकी अपनी हो जाती हैं। यह ऐसा ही है जैसे किसी विशेष भाषा में बात करना सीखना। धीरे—धीरे इन गतियों के साथ परिचय एवं सहज भाव बढ़ जाता है और भावाभिव्यक्ति अधिक सम्प्रेषणीय हो जाती है। अब विद्यार्थी गति, नृत्य के स्थान और नृत्य में निहित विषयवस्तु से और अधिक सार्थक रूप से जुड़ने लगता है।

मेरे हिसाब से बच्चे भरतनाट्यम की गतियों के पैटर्न्स के भीतर अमूर्त के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हैं। वे विशिष्ट अर्थ या कहानियों में गए बगैर आराम से इन पैटर्न्स के साथ खेलते हैं। यहाँ तक कि पुनरावृत्ति, जो उबाऊ होती है, को भी एक रोमांचक अनुभव में परिवर्तित किया जा सकता है अगर लय में थोड़ा—सा बदलाव लाया जाए या फिर बच्चे के खड़े होने की जगह बदल दी जाए। एक और तरीका जो मुझे बहुत उपयोगी लगता है वह है, एक समूह में बच्चों के मध्य नृत्य की गतियों को छोटी—छोटी इकाइयों में तोड़ना। भरतनाट्यम के पारम्परिक शिक्षण में भी बुनियादी गतियाँ विभिन्न चरणों में ही सिखाई जाती हैं। पहले पदन्यास या पैरों का संचालन, फिर शारीरिक गतियाँ और अन्त में हस्त—मुद्राएँ गतियों को पूरा करती हैं।

मुझे लगता है कि किसी गति के शारीरिक अभ्यास के साथ 'अडवु' या भरतनाट्यम गति के बुनियादी अनुक्रम के बारे

में अधिकांश बच्चों की धारणा तब बेहतर हो जाती है जब वे उसकी कल्पना करने में सक्षम हों। हम इस अभ्यास को 'अपने मन में करो' कहते हैं। किसी गति को करने की कोशिश के बाद बच्चे से कहा जाता है कि वह अपनी आँख बन्द करके उस विशिष्ट अनुक्रम में होते हुए नृत्य को अपने मन की आँखों से देखे। बाद में, आँखें खोलकर जब वे पुन: कोशिश करते हैं, तो मैं दंग रह जाती हूँ—शुरू में नृत्य उन गलतियों से मुक्त होता है जो स्पष्ट रूप से नजर आती हैं और बाद में, उसमें वह परिपूर्णता दिखने लगती है जिसे बच्चे ने अपने मन की आँखों से देखा था। दृश्य—स्मृति अभ्यास की पूरक होती है।

शरीर के साथ बात करने की अपनी क्षमता के भीतर की खोज एक रोमांचक और समृद्ध अनुभव हो सकता है। नृत्य स्टूडियो ऐसा स्थान है जहाँ सीखने की प्रक्रिया में तात्कालिकता है और जो शिक्षक एवं विद्यार्थी दोनों के लिए प्रतिफल देने वाला हो सकता है। नृत्य और सभी प्रदर्शन कलाओं की प्रकृति ही ऐसी है वे उस क्षण में मौजूद रहते हैं जिस क्षण उनका अभ्यास किया जा रहा होता है। इसलिए उत्कृष्टता प्राप्त करना एक निरन्तर एवं अन्तहीन प्रक्रिया है। बच्चा यह सीख लेता है कि उत्कृष्टता का पल मिल गया—और यह तकरीबन उसी समय खो भी सकता है!

हमारे आसपास की दुनिया लगातार गति और स्थिरता के क्षणों के बीच दोलन कर रही है। अधिकांश बच्चे स्वाभाविक रूप से लोगों और दुनिया भर की गति के सम्पूर्ण विस्तार में रुचि रखते हैं। कक्षा में, बच्चे को नृत्य के माध्यम से गतियों के इन पैटर्न्स को आत्मसात करना सिखाया जा सकता है। इसे काम में लाने के कौशल को अवलोकन, अनुकरण, पुनरावर्तन और सूक्ष्म अभ्यास के द्वारा पैना किया जा सकता है, एक कलात्मक अभिव्यक्ति में बदला जा सकता है। नृत्य की गतियों (जो कि भारतीय नृत्य शैलियों के बुनियादी प्रशिक्षण में अत्यधिक विधिबद्ध और मानकीकृत हैं) को वास्तविक रूप से सीखने के अलावा, मैं बच्चे को इस बात के लिए भी प्रोत्साहित करना चाहती हूँ कि वह शिक्षक के नृत्य की गतियों का अनुकरण करने के साथ—साथ गतिमान चीजों की बारीकियों का अवलोकन भी करे। उदाहरण के लिए हम बच्चे से कह सकते हैं कि वह ध्यानपूर्वक यह देखे कि विभिन्न आकृति और आकार के पत्ते हवा में कैसे लहराते हैं।

अगर एक विद्यार्थी किसी विशेष अडवु के अन्तर्गत स्वाभाविक तर्क (या उसके अभाव) का विश्लेषण करना सीख ले तो यह बात बेहद रोमांचक और बाद में उपयोगी हो सकती है। इस प्रक्रिया में अनुकरण पहला चरण है, इसके बाद सहज विश्लेषण आता है और शीघ्र ही इस युवा नर्तक/नर्तकी के लिए गति स्वाभाविक हो जाती है। नृत्य की कक्षा में मन और शरीर, दोनों स्तरों पर प्रशिक्षण दिया जाता है क्योंकि दोनों की अपनी 'बुद्धिमत्ता' है और दोनों को सामंजस्यपूर्ण ढंग से प्रशिक्षित करने की आवश्यकता है। यह प्रक्रिया सीखने की अन्तर्निहित पद्धति को समझने के लिए बुनियादी स्तर पर मदद करती है। इसे मैं 'शरीर की बुद्धिमत्ता' के नाम से बुलाना पसन्द करती हूँ। कई बार हम पाते हैं कि भले ही हमें किसी चीज की पूरी मानसिक समझ हो, फिर भी उसे वास्तव में क्रियान्वित करना बहुत मुश्किल होता है। हो सकता है कि शरीर किसी गति का विरोध करे या मन हस्तक्षेप करे! अर्थ पर आधारित नृत्य (सामान्य रूप से इसे अभिव्यंजक नृत्य या 'अभिनय' कहा जाता है) को सीखते/सिखाते समय भी ऐसी ही स्थिति पैदा हो सकती है। यहाँ विद्यार्थियों को किरदार और उनकी भावनाओं की रचना चेहरे के उपयुक्त हाव—भाव और हस्त मुद्राओं की मदद से करनी पड़ती है। वैसे तो अधिकांश लोग भावनाओं को चेहरे के हाव—भाव के माध्यम से ही व्यक्त करते हैं, फिर भी जब उनसे किसी भाव का 'अभिनय' करने को कहा जाता है तब यही बात बड़ी कठिन लगने लगती है क्योंकि भावनाओं को पैदा करने के लिए उद्दीपन नहीं होते। अवलोकन करने वाले बच्चे की इस बात में मदद की जा सकती है कि वह एक ऐसे काल्पनिक स्थान या व्यक्ति या संवाद की रचना करे, जिसके साथ वह जुड़ सके; ताकि वह नृत्य के उस टुकड़े में कुछ व्यक्तिगत गुण ला सके।

पहले जिस तात्कालिकता का उल्लेख किया गया है, उससे नृत्य सीखने वाले अधिकांश बच्चों में ध्यान केन्द्रित

करने तथा दत्तचित्त होने का स्तर बढ़ता है—और पुनरावृत्ति एक यांत्रिक प्रक्रिया न रहकर हमें उस ओर ले जाने वाली प्रक्रिया बन जाती है जिसे मेरे एक विद्यार्थी ने बड़ी गम्भीरता से 'अच्छा नृत्य' कहा था। भारतीय कला—रूपों के पारम्परिक शिक्षण का मार्गदर्शक सिद्धान्त यह है कि उत्कृष्टता को पाने के लिए बार—बार अभ्यास या रियाज करना एक आदर्श मार्ग है। अगर पुनरावर्तन और अभ्यास के साथ हास्य और नृत्यांगन के बाहर की बच्चों की दुनिया से समानताओं को निरन्तर मिश्रित किया जाए तो बच्चे ऐसे पुनरावर्तन और अभ्यास का आनन्द उठाते हैं। बाद में (आश्चर्यजनक रूप से जल्द ही) अधिकतर बच्चे सीखने की इस पद्धति के भीतर की मौलिक अवधारणा को सीखने के अन्य क्षेत्रों में स्थानान्तरित करने में सक्षम होते हैं।

नृत्य से जागरूकता और संवेदनशीलता के एक स्तर का निर्माण करने में सहायता मिलती है। यह हैरानी की बात है कि बच्चे जागरूकता के सूक्ष्म स्तर के उत्तर में कितनी आसानी से अनुक्रिया दिखाते हैं, चाहे वह शारीरिक हो या भावनात्मक। बच्चों को नृत्य सिखाना उतना ही स्फूर्तिदायक है जितना कि स्वयं नृत्य करना।

विशेष जरूरत वाले बच्चों के साथ काम करते समय मैंने कई महीनों तक सरल गतियों के साथ एक नर्सरी कविता गाई। एक छोटी सी स्वलीन (ऑटिस्टिक) बच्ची ने महीनों मुझ पर ध्यान नहीं दिया। मैं समूह के दूसरे बच्चों के साथ नाचती—गाती रही। एक दिन जब मैं सामान्य रूप से अपनी कक्षा के लिए कमरे में गई तो यह बच्ची बिना कुछ बोले मेरे पास आई, उसने मुझसे नजरें नहीं मिलाईं, मेरे हाथ उठाए और उन्हें मेरी कमर पर रखा—जैसा कि मैं पिछले कुछ महीनों से करती आ रही थी और फिर, उसने अपना सिर झुकाया और इधर—उधर डोलने—लहराने लगी। मैं बस इतना कर पाई कि उसके साथ ही नाचने—गाने लगी। तमिल भाषा का यह गीत इस प्रकार था,—आडु पापा आडु, अजगु पापा आडु—नाचो, सुन्दर बच्ची, नाचो!"

और फिर हमने नृत्य किया।

चित्रा *को उनके माता—पिता, प्रो. सी. वी. चन्द्रशेखर एवं श्रीमती जया चन्द्रशेखर ने बहुत कम उम्र में ही भरतनाट्यम में प्रशिक्षित किया। चित्रा ने अभिव्यक्ति और उत्कृष्टता की खोज में लम्बी यात्रा तय की है। नृत्य के साथ उनकी पूरी तादात्म्यता और हमारे समय की कलाकार के रूप में उनका नृत्य उनकी सौन्दर्यात्मक संवेदनशीलता को अभिव्यक्ति देता है। चित्रा ने नृत्य और संस्कृत में स्नातकोत्तर डिग्री प्राप्त की है। संगीत और साहित्य की तरह अभिव्यक्ति के अन्य रचनात्मक प्रकारों के साथ उनकी सम्बद्धता उनके नृत्य और नृत्य निर्देशन को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य देती है। तकनीक और प्रस्तुति में परिशुद्धता चित्रा की विशेषता है और दर्शकों द्वारा बहुत सराही भी गई है। उनके नृत्य निर्देशन में पारम्परिक भरतनाट्यम तो है ही, साथ ही गीतगोविन्द, संवाद—हैथर और मैं, उत्सव, विस्मय कुंचा, वागर्थ, रतिरंग और कुन्ती भी शामिल हैं। चित्रा बंगलौर में रहती हैं और नृत्य—प्रदर्शन, शिक्षण और नृत्य निर्देशन में व्यस्त रहती हैं। उनसे chitracdasarathy@yahoo.com पर सम्पर्क किया जा सकता है।* ***अनुवादः*** *नलिनी रावल*

20 संगीत : एक आजीविका के रूप में

शारिक हसन

हमें अपनी प्राकृतिक इच्छाओं और प्रतिभाओं के बारे में जागरूक होना चाहिए और एक बार उन्हें जानने के बाद उनका पोषण करना चाहिए।

मैंने संगीत को नहीं, संगीत ने मुझे चुना।

यह बात बड़ी पुरानी लग सकती है, लेकिन मैंने एक पूर्णकालिक संगीतकार बनने के बारे में न तो सोचा था और न ही कल्पना की थी। लेकिन एक बार इसमें डूबा तो इसी ने मुझे सच्चा आनन्द और तृप्ति दी। यह बात मेरे कॉलेज के अन्तिम वर्ष के दौरान और भी स्पष्ट हुई, जब मैं यू.एस. के ऑबर्लिन कॉलेज में अंग्रेजी साहित्य और गणित में स्नातक की पढ़ाई कर रहा था।

संगीत के प्रति यह प्रेम अचानक उत्पन्न नहीं हुआ था, जहाँ तक मुझे अपने बचपन की याद है, संगीत तभी से मेरे जीवन में है। मुझे याद है कि बचपन में मेरे माता–पिता घर या कार में अपने पसन्दीदा एलबम और रेडियो स्टेशन लगाते थे। इसके अलावा वे मुझे पाश्चात्य और भारतीय शास्त्रीय संगीत के कार्यक्रमों मे ले जाते थे। मेरी माँ चित्रकार थीं और बहुत अच्छी पियानो वादक भी। वे विरासत में मिले पियानो पर मोजार्ट, बिथोवन, चॉपिन और डेबुसी की संगीत कृतियों को बजातीं और पूरे घर को मधुर स्वर लहरियों से भर देती थीं। घर में पियानो का

होना एक महत्त्वपूर्ण बात थी क्योंकि इसके कारण पाँच वर्ष का मैं आश्चर्य और उत्साह से भर जाता और सहज रूप से उसकी ओर आकर्षित होता। पियानो के प्रति मेरा सहज आकर्षण देखकर मेरे माता–पिता ने मुझे पियानो सिखाने के लिए एक शिक्षक को नियुक्त किया और मेरी औपचारिक शिक्षा शुरू हुई।

इन वर्षों में भारत और विदेश में मुझे कई शिक्षकों ने संगीत सिखाया जिसमें बंगलौर स्कूल ऑफ म्यूजिक और लौंजी (Longy) स्कूल ऑफ म्यूजिक, बॉस्टन भी शामिल हैं। यह सब मैं अपनी नियमित पढ़ाई, स्कूल के काम और खेलकूद के साथ–साथ कर रहा था। यह मेरे लिए पाठ्येतर गतिविधि थी और मैं सप्ताह के अन्त मैं इसमें भाग लेता था। वैसे तो मैं सितार बजाना भी सीखने लगा पर दोनों वाद्य यन्त्रों के साथ न्याय करने के लिए मुझे समय नहीं मिलता था या शायद अनुशासन की कमी थी, अत: मैंने केवल पियानो सीखना जारी रखा। जब मैं हाईस्कूल में पहुँचा तब पियानो का अभ्यास भी मुश्किल से ही कर पा रहा था। क्योंकि तब तक यह भ्रान्ति दूर हो चुकी थी कि सिर्फ रॉयल स्कूल ऑफ म्यूजिक और ट्रिनिटी कॉलेज के अगले दौर की परीक्षाओं की तैयारी के लिए प्रतिदिन बजाने का अनवरत अभ्यास करना चाहिए। मानो यह जल्द से जल्द आठवें ग्रेड में पहुँचने के लिए किसी किस्म की चूहा दौड़ हो। बारहवीं कक्षा के आसपास करीब एक साल के लिए मैंने संगीत पूरी तरह से छोड़ दिया, न तो सीखने जाता और न ही बजाता।

इस दौरान मैं खुद को उन सभी नकारात्मक तत्वों से दूर कर पाया जो न जाने कैसे मेरे और संगीत के रिश्ते के बीच

आ गए थे। सहपाठियों से बेहतर प्रदर्शन करके विशिष्टता के साथ परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने का दबाव, साथ में मूडी और बेसब्र शिक्षक—इन सबके कारण पियानो पर रियाज के लिए बैठना एक बन्धन और अप्रिय काम बनकर रह गया था। मैंने अपने आपको स्कूली जीवन के अन्य पहलुओं में डुबो दिया जैसे लोगों से मिलना—जुलना, कक्षाएँ, खेलकूद, अन्तरविद्यालयीन टूर्नामेण्ट, बोर्ड की परीक्षाएँ और कॉलेजों में आवेदन करना।

एक दिन मैंने देखा कि मेरे कुछ दोस्त संगीत कक्ष में एक लोकप्रिय गीत गा रहे थे। वे गिटार पर उसे बजाने के लिए स्वरों को खोज रहे थे। मैं पियानो के सामने जा बैठा और उनके साथ—साथ गीत बजाने लगा और उन्हें सही स्वर सुझाने लगा। सभी लोग अत्यन्त आश्चर्यचकित और खुश हो गए। उस अनौपचारिक स्थिति में संगीत वादन ने मानो मुझे सोते से जगाया और कुछ भूली हुई किन्तु परिचित और बेफिक्र आनन्द की भावनाएँ जाग उठीं। बचपन में, पहली बार, यूँ ही वाद्य पर उँगलियाँ फिराने से जो खुशी हासिल हुई थी, वैसी ही भावना दुबारा उस दिन मन में जगी। मुझे लगा कि जो कुछ मैं कर रहा था उसके साथ मैं रचनात्मक रूप से जुड़ पा रहा हूँ। साथ ही अन्य लोगों के साथ यह कर पाने के कारण प्रासंगिकता का एहसास भी हुआ। इस तरह बहुमूल्य योगदान दे पाने में सक्षम होने पर मैंने मुक्ति की रोमांचकारी भावना को भी महसूस किया। लगा कि अध्ययन के उन वर्षों के दौरान प्राप्त किए हुए कुछ कौशल अब एक उपयोगी प्रयोजन सिद्ध कर रहे थे।

जब कॉलेज चुनने का समय आया, तब मैंने सोचा कि कॉलेज ऐसा होना चाहिए जिसमें संगीत का वातावरण और उससे सम्बन्धित अच्छी सुविधाएँ हों। वहाँ पियानो बजाने की सुविधा भी हो, यद्यपि मेरा ध्यान कला और विज्ञान विषयक कोर्स पर केन्द्रित था। इस हिसाब से ऑबर्लिन कॉलेज बिलकुल ठीक बैठता था। क्योंकि एक तो यह कला का सर्वोच्च महाविद्यालय था और दूसरे इसके परिसर में देश की सबसे अच्छी संगीत कंजरवेटरी (ललित कला के लिए विशेष सुविधाओं वाली जगह) भी थी। वहाँ पहुँचकर जब मैंने देखा कि मेरे नए सहपाठियों और छात्रावास के साथियों में से कुछ तो केवल संगीत का अध्ययन करने ही वहाँ आए थे तो मैं चौंक उठा क्योंकि यह मेरे लिए बिलकुल नई बात थी। मुझे कभी यह बात सूझी ही नहीं थी कोई व्यक्ति शास्त्रीय वायलिन या जैज़ पियानो का मुख्य विषय के रूप में अध्ययन कर सकता है, उसे ही अपनी आजीविका का साधन भी बना सकता है। क्योंकि उस समय तक, भारत में कई अन्य विद्यार्थियों की भाँति, मेरे लिए संगीत एक सम्मानजनक शौक था—उससे ज्यादा और कुछ नहीं।

लेकिन मेरे माता—पिता मेरे करियर को लेकर बेहद खुले और लचीले विचारों वाले थे और उन्होंने मुझे अपनी रुचि के अनुसार करियर चुनने की स्वतंत्रता दी। फिर भी मुझे कई विषय आकर्षक लगते थे। एक तरफ तो अपने खगोलशास्त्री पिता की तरह मुझमें विज्ञान को लेकर बहुत उत्सुकता थी और दूसरी ओर कला (जो मेरी माँ की विशेषता थी) में भी मेरी स्वाभाविक रुचि थी। लेकिन मैं साहित्य एवं लेखन की ओर प्रवृत्त था। अन्ततः मैंने अपनी स्नातक कक्षाओं में गणित व भौतिक शास्त्र के साथ अँग्रेजी साहित्य और रचनात्मक लेखन जैसे विषय लिए।

ऑबर्लिन में मैंने एक महत्त्वपूर्ण खोज की जो आगे चलकर मेरे जीवन की दिशा को बदल देने वाली थी और जिसके बारे में मैं उस समय अनजान था। यह था जैज़ संगीत जो कला का एक रूप था। इसने मेरे सामने लय, निखार, रचनात्मकता और सहजता की नई दुनिया का मार्ग उजागर कर दिया। इसकी सर्वोत्कृष्ट बात थी संगीतकारों के बीच एक अत्यन्त ऊर्जावान और सक्रिय अन्तः क्रिया जिसमें दर्शक भी शामिल होते थे। इसे वास्तव में परत—दर—परत खुलते हुए देखना बहुत सम्मोहक होता है। मेरे साथ भी यही हुआ जब मैं पहले दिन कॉलेज के छात्रावास में गया। मैं पियानो की गूँजती हुई उस ध्वनि के वशीभूत हो गया जो नीचे के हॉल से आ रही थी, ऐसा संगीत मैंने पहले नहीं सुना था। कहने की आवश्यकता नहीं कि मैं उस असाधारण किन्तु नवीन मधुर संगीत के पीछे—पीछे चलता हुआ उसके स्रोत तक जा पहुँचा। वहाँ देखा कि मेरा एक नया साथी, शायद मेरी ही तरह सत्रह वर्ष का दुबला—पतला, दिखने

में एकदम विनम्र, लाल घुँघराले बाल, बड़ी कोमलता से कीबोर्ड पर झुका हुआ, आँखें बन्द और चेहरे पर तड़प से पड़े हुए बल, पियानो बजाते–बजाते साथ में गुनगुना भी रहा था। लेकिन यह पियानो वादन सामान्य नहीं था, वह अपने आसपास से बिलकुल बेखबर अपनी धुन में डूबा हुआ था। मैंने बाद में उससे पूछा कि वह क्या बजा रहा था, तो उसने कहा कि वह तो बस बजाते–बजाते धुन की रचना करते हुए आगे बढ़ा जा रहा था। मैं स्तब्ध रह गया !

हम दोस्त बन गए और वह बहुत कम फीस में मुझे सिखाने को राजी हो गया। हमारे सबक साप्ताहिक जैम सैशन्स में बदल जाते, जिनके माध्यम से उसने मुझे ब्लूज़ और जैज़ की प्रारम्भिक दुनिया से परिचित करवाया। सप्ताह में एक बार उस पल में होने का रोमांचकारी अनुभव इस बात के लिए काफी था कि उसे पाने की कोशिश बार–बार की जाए। ऑबर्लिन में वातावरण कुछ ऐसा था कि मुझे ऐसे अनेक अवसर मिले जिसमें अतिथि शिक्षकों और विद्यार्थियों दोनों ही से उनके द्वारा गाया–बजाया जाने वाला असाधारण संगीत सुनने को मिलता था। इन अनुभवों से मुझे प्रेरणा मिलती थी कि मैं एक नए जुनून और उत्साह के साथ पियानो बजाऊँ और मेरे भीतर संगीतात्मक नवचेतना जन्म लेती।

कॉलेज के तीसरे वर्ष के बाद मैं एक सेमेस्टर की छुट्टी लेकर भारत लौटा। मैंने बंगलौर के एक लोकप्रिय क्लब में एक संगीत कार्यक्रम के अन्त में अपना कार्यक्रम पेश किया। क्लब के मालिक ने उसी क्षण अगले सप्ताह के लिए मेरा कार्यक्रम पक्का कर दिया। यह मेरा पहला कार्यक्रम था। इसके बाद कई और कार्यक्रम हुए और शीघ्र ही मैं अपने खुद के बैण्ड के साथ पूरे भारत में कार्यक्रम करने लगा। इतना ही नहीं, इस क्षेत्र में प्रसिद्ध कई लोगों के साथ संगत भी करने लगा। इससे मेरा आत्मविश्वास बढ़ा और मेरे सामने यह सच्चाई भी आई कि मैं वह काम कर सकता था जिससे मुझे बेहद प्यार है, जिसके लिए मुझे सम्मान और सराहना मिले और जिससे पैसा भी कमाया जा सके! लगा कि वाकई इसे आजीविका बनाया जा सकता है। इस समय मेरे लिए इन बातों का कोई मतलब नहीं था कि मैं और क्या–क्या अच्छी तरह से कर सकता हूँ या मुझमें और कौन–सी क्षमताएँ हैं, क्योंकि अब मैं अपने आप को संगीत के अतिरिक्त कुछ और करते हुए देख ही नहीं सकता था।

इससे पहले कि मैं किसी बात को ज्यादा रूमानी रंग दूँ, यह कहना उचित होगा कि अगर हम यह सोचते हैं कि कला को आजीविका बनाने से एक स्थिर आमदनी निश्चित हो जाएगी तो इसमें थोड़ा सन्देह तो है। कला की शिक्षा सस्ती नहीं है और सालों के कठोर प्रशिक्षण के बाद आपको पता चलता है कि इसमें आर्थिक लाभ निश्चित नहीं है या आपके कौशल और व्यावसायिक सफलता में भी कोई सम्बन्ध नहीं है। वैसे यह जरूरी नहीं कि भूख से मरने वाले कलाकारों वाला जो जुमला प्रचलित है (मैं इसके अनेक अपवादों को जानता हूँ), उसके अनुसार किसी का भाग्य बर्बाद हो ही जाए, सच तो यह है कि सम्भावित कठिनाइयों के बावजूद आपमें इसे करने का जुनून होना चाहिए।

जब मैं देखता हूँ कि ढेर सारे लोग एक समूह में एकत्र होकर उस पल को साझा कर रहे हैं जिसमें हमारी आत्मा का उन्नयन और उसे प्रेरित करने की क्षमता है, तो मुझे अपने मौजूदा काम को जारी रखने की प्रेरणा मिलती है। आप एक प्रकार से ऐसे सांस्कृतिक राजदूत की भूमिका अपना लेते हैं जो अपने आसपास के लोगों को प्रभावित कर सकता है, विभिन्न समुदायों के बीच आदान–प्रदान का हिस्सा बन सकता है। इस प्रकार आप समाज की आवाज बन जाते हैं। एक तरह से सकारात्मक बदलाव को प्रभावित करने की जिम्मेदारी भी आप पर आ जाती है। जब मैं महान संगीतकारों को दुनिया भर में बड़े पैमाने पर ऐसा करते हुए देखता हूँ तो मुझे प्रेरणा मिलती है और विनम्रता बढ़ती है। इस वजह से मुझमें प्रयत्न करते रहने का जज्बा बना रहता है। मुझे यह बात भी सदा याद रहती है कि सीखने का कोई अन्त नहीं।

आजीविका के लिए इस तरह के विकल्प तलाशने के लिए और अधिक विद्यार्थियों को कैसे समर्थ किया जा

सकता है? सबसे पहले हमें अपनी प्राकृतिक इच्छाओं और प्रतिभाओं के बारे में जागरूक होना चाहिए और उन्हें जानने के बाद उनका पोषण करना चाहिए। आत्म–बोध की इस प्रक्रिया को जबरन लादना नहीं चाहिए, बल्कि इसे अपने आप होने देने के लिए पर्याप्त समय देना चाहिए, जिससे यह विभिन्न व्यक्तियों में विभिन्न कोटियों और आयु में प्रकट हो सके।

समर्थ होने के लिए आपको बहुत आत्म–प्रेरित होना चाहिए। आपको यह पता होना चाहिए कि अगर आप तहे–दिल से किसी काम को करने के लिए प्रतिबद्ध हैं तो आप उसमें अवश्य सफल होंगे। यह मुहावरा सच है कि, "सफलता तभी मिलती है जब तैयारी और अवसर का मिलन होता है"। जब कोई अवसर आपके सामने आए तो उसके लिए जो तैयारी करनी हो, उसे कीजिए, लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि आपको और अवसरों की तलाश नहीं करनी चाहिए या खुद के लिए अवसरों का सृजन नहीं करना चाहिए। उस क्षेत्र के विशेषज्ञों से मिलिए, उनकी सलाह लीजिए और सम्भावनाओं व उसके लिए उठाए जाने वाले कदमों के बारे में जितना सम्भव हो उतना पता लगाइए। हो सकता है कि अच्छे शिक्षक या कला के मुख्य केन्द्र की खोज में आपको दूसरे शहरों में जाना पड़े।

जहाँ तक मेरा सवाल है, यह मेरा सौभाग्य था कि मुझे ऐसे माता–पिता मिले जिन्होंने ऑबर्लिन, बिल ईवान्स पियानो एकेडमी (पेरिस), बर्कली कॉलेज ऑफ म्यूजिक (बॉस्टन) में पढ़ाई करते समय मुझे अपना पूरा समर्थन दिया। वे वर्तमान में भी मेरा साथ दे रहे हैं, जब मैं मैनहट्टन स्कूल ऑफ म्यूजिक (न्यूयॉर्क सिटी) मैं जैज़ पियानो और रचना में स्नातकोत्तर की पढ़ाई कर रहा हूँ। मुझे पता था कि अपने काम को अगले स्तर तक ले जाने के लिए मुझे संगीत के केन्द्र में और संगीतकारों के विविध समुदाय के साथ रहना होगा जो संगीत की उपलब्धि या सीखने के स्तर को बहुत ऊँचा रखते हैं। इन संस्थानों में से अधिकांश में मुझे छात्रवृत्ति मिल गई, जिसके बिना इस प्रकार की शिक्षा पाना मेरे लिए असम्भव था। शैक्षिक संस्थानों में अकसर छात्रवृत्ति के अवसर होते हैं पर सरकारी और निजी संस्थान भी कुछ क्षेत्रों में अनुदान देते हैं, आप उन पर भी नजर रखें। इन सबके लिए पहल, अनुसन्धान, समय एवं दृढ़ता की जरूरत होती है। करीब–करीब सभी लक्ष्यों को पाया जा सकता है–बस उसके लिए आप जितनी तैयारी कर सकते हों, कीजिए और धीरे–धीरे उसके करीब जाने के लिए कदम बढ़ाइए, भले ही इसमें समय लगे।

मुझे बहुत खुशी है कि मैं अपने आप को किसी न किसी रूप में सिद्ध कर पाया। मैं यह देखकर बहुत प्रोत्साहित होता हूँ कि मैंने काफी कुछ हासिल किया है जबकि शुरू–शुरू में अवसरों की कमी थी। मैं भारत में बड़ा हुआ था और मैंने अपेक्षाकृत देर से शुरुआत की थी (जो यह बताता है कि कुछ भी समयातीत नहीं है), तो भी मैं अपनी उन्नति और विकास से सन्तुष्ट हूँ। बेशक, मुझे लगता है कि काश! मैं जो कुछ करना चाहता था उसका एहसास मुझे पहले ही हो जाता और दूसरे युवा लोगों को भी यह मौका मिलता। मैं आशा करता हूँ कि स्कूल स्तर पर कला और संगीत की नींव मजबूत होने से विद्यार्थी अपने सामने फैली हुई विशाल सम्भावनाओं को देख पाएँगे।

शारिक हसन *भारत में युवा पीढ़ी के अग्रणी पियानोवादक और संगीतकारों में से एक हैं। भारतीय शास्त्रीय संगीत परम्परा में काम करने के साथ–साथ उन्होंने फ्रांस और यू.एस.ए. में जैज़ और शास्त्रीय संगीत के अध्ययन में कई साल बिताए। बर्कली कॉलेज ऑफ म्यूजिक में उन्हें छात्रवृत्ति दी गई और उन्हें डेनिलो पेरेज के संरक्षण में बर्कली ग्लोबल जैज़ इन्स्टिट्यूट के विशिष्ट प्रतिष्ठा कार्यक्रम के लिए चुना गया। उन्होंने दुनिया भर में प्रदर्शन किया है जिनमें ब्लू नोट (न्यूयॉर्क), पनामा जैज़ फेस्टिवल और नैन्सी जैज़ फेस्टिवल (फ्रांस) शामिल हैं। उनसे sharik.hasan@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है।* ***अनुवादः*** *नलिनी रावल*

स्वतंत्र लक्ष्यहीन चित्रकारी से पूर्ण कला की ओर

–पायल हीरानन्दानी

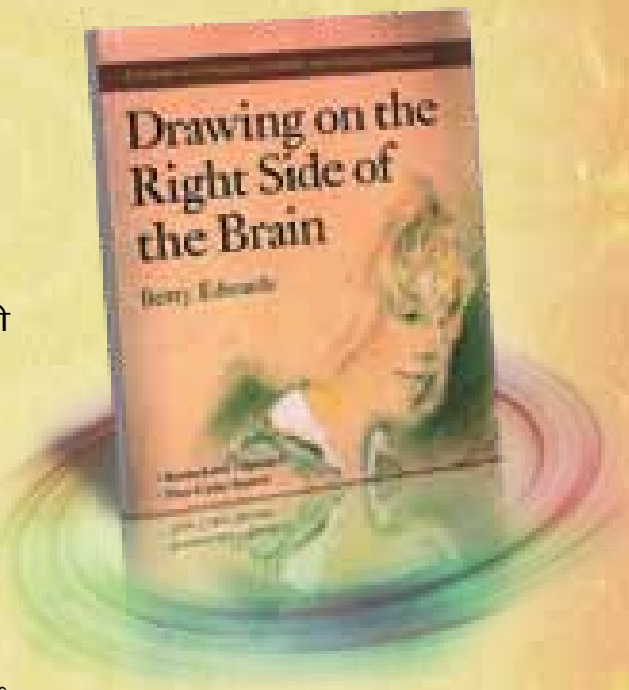

आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि हम सभी में चित्र बनाने की क्षमता है जो छुपी हुई है। बेट्टी एडवर्ड्स हमें इस बात की अन्तर्दृष्टि देती हैं कि एक कलाकार की नजर कैसे पाई जाए और थोड़े से समय में इस स्तर तक कैसे पहुँचें कि जब हम अपनी कला को लैमिनेट करवा सकें।

इस पुस्तक को खासतौर पर उन लोगों के लिए नहीं लिखा गया है जो कलाकार बनना चाहते हैं या जिनमें चित्रकारी की प्रतिभा है। यह तो ऐसे किसी भी व्यक्ति के लिए है जिसने छोटी उम्र के बाद चित्र बनाने की कोशिश तो नहीं की पर मन में यह इच्छा जरूर थी कि चित्रकला सीखनी चाहिए। यह न केवल आपको बल्कि महान कलाकारों को भी बोधात्मक कौशल प्राप्त करने के पहले और बाद में व्यावहारिक रूप से तुलना करने के लिए आधार प्रदान करती है।

वास्तव में यह आपकी रचनात्मकता को प्रकट करती है ताकि आप अवलोकन की उन तकनीकों की गहराइयों में जा सकें जिन्हें कला के नाम पर शोध करने के बाद बरसों से प्रयोग में लाया जाता रहा है।

हममें में से कई ऐसे हैं जो शुरू में आकार या आकृति बनाने में दिलचस्पी लेते थे पर नौ या दस बरस के होते ही यह रुचि खत्म हो गई और हमने इस क्षेत्र में या तो अभ्यास किया ही नहीं या फिर बहुत कम किया। इसलिए वयस्कता तक पहुँचने पर हम खुद से यह उम्मीद करने लगे कि हम वयस्कों की तरह से चित्र बनाएँ और जब ऐसा नहीं हुआ तो हम पूरी तरह से निराश हो गए क्योंकि नौ या दस बरस की उम्र में हममें जितना कौशल था, अब भी वह उतना ही था। तो हमें यह गुत्थी सुलझानी ही होगी–क्या चित्र बनाना गाड़ी चलाने (ड्राइविंग) और पढ़ने के कौशलों से भिन्न है? एक कलाकार रेखा से शुरू करके पहले गुण फिर रंग और अन्त में पेन्टिग तक का तार्किक अनुक्रम सीखता है। उसमें स्पष्ट रूप से देखने और चित्र बनाने की क्षमता होनी चाहिए। इस महत्त्वपूर्ण पहलू की यहाँ चर्चा की गई है। जब आप अनुभवी कलाकारों की तरह से चीजों को खास तरीके से देखते लगते हैं तब आप चित्र बना पाते हैं।

एक रचनात्मक व्यक्ति वह होता है जो किसी दुनियावी साधारण डेटा को एक नई रचना में बदल दे। इसके लिए सूचना प्रक्रमण के दो तरीकों को समझने की आवश्यकता है–अक्सर मस्तिष्क का प्रबल बायाँ हिस्सा निरन्तर दाएँ हिस्से पर हावी होने का प्रयास करता है और व्यक्ति को अपने मन की आँखों में मौजूद चीजों को देखने से रोकता है। यहाँ यह कहा गया है कि दाएँ हिस्से का इस तरह से प्रयोग करना चाहिए ताकि तार्किक, विश्लेषणात्मक और समय के प्रति सजग बाएँ हिस्से को बन्द करके या पीछे छोड़कर दाएँ मस्तिष्क को अपनी कल्पना का चित्र बनाने के लिए विकसित किया जा सके।

अकसर हमें यह नहीं पता होता कि हमारे मस्तिष्क में क्या चलता रहता है इसलिए लेखिका इस बात पर जोर देती हैं कि हमें बाएँ से दाएँ की ओर के बदलाव को पहचानना चाहिए। एडवर्ड्स की धारणा है कि तार्किक बायाँ मस्तिष्क, जो प्रबल होता है, प्रतीकों में महसूस करता है और दृश्यमान दुनिया में वस्तुओं को उन प्रतीकों के वर्ग का मानकर "पहचानता" है; इसलिए यह दाएँ मस्तिष्क की उस क्षमता में दखल देता है जिसके तहत हम चीजों को चित्रित करते समय उन्हें वैसे ही देखते हैं जैसी वे वास्तव में दिखती हैं। आपका बायाँ मस्तिष्क कहता है, "चाँद सिर्फ एक गोलाकार वस्तु है", और आपके दाएँ मस्तिष्क को यह देखने से रोकता है कि चाँद के अन्दर एक बहुत जटिल एवं विषम आकार है।

लेकिन हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि सभी ड्रॉइंग एक सी ही हैं–कोई एक ड्रॉइंग किसी अन्य ड्रॉइंग की तुलना में अधिक कठिन नहीं है। एक बार जब आँख यथार्थवाद के माध्यम से देखना सीख लेती है तो वह जो कुछ भी देखती है उसे कमोबेश ड्रॉइंग में प्रस्तुत कर सकती है।

कला की अनेक पुस्तकें "विचारों या कल्पना" की बात तो करती हैं लेकिन यह नहीं बतातीं कि इन्हें प्राप्त कैसे किया जाए। इस पुस्तक में कला पर कई शिक्षण अभ्यास दिए गए

हैं—ऐसे मानसिक अभ्यास जो दाएँ मस्तिष्क को मजबूत करें एवं बाएँ मस्तिष्क को पृष्ठभूमि में जाने पर मजबूर करें।

जॉन मीरो की "पर्सनेज विद स्टार" (1933)—रचना का उदाहरण

इसमें ऐसे अभ्यास भी हैं ही जिन्हें लेखिका ने स्वयं विकसित किया है साथ ही ड्रॉइंग के वे परम्परागत तरीके भी हैं जिनका उन्होंने इस्तेमाल किया है। ये सभी आपकी रचनात्मकता को प्रवाह देने पर आधारित हैं। ये हमें ढेर सारी रणनीतियों के बारे में बताते है और यह खुलासा भी करते हैं कि जैसे बच्चे का चलना सीखना एक स्वचालित प्रक्रिया है वैसे ही ड्रॉइंग भी अत्यन्त सहज गतिविधि हो सकती है।

उन्होंने जिन विषयों की चर्चा की है वे इस प्रकार हैं—रचना (जिस तरह से एक ड्रॉइंग के घटकों की व्यवस्था की जाती है), नेगटिव स्पेस ड्रॉइंग जो रचना की रुचि एवं सन्तुलन में योगदान देती है, हैण्डी व्यू फाइण्डर का प्रयोग जो ड्रॉइंग को समझने में सहायता देता है। उन्होंने परिप्रेक्ष्य को सिखाने के लिए शिक्षण के सामान्य तरीकों का प्रयोग नहीं किया है जैसे कि पॉइंट विधि, लेकिन ध्यान से देखने पर बल दिया है (कोणों का अवलोकन और लम्बाई व चौड़ाई की तुलना करना)। उल्टी ड्रॉइंग, दर्पण प्रतिबिम्ब, परिरेखा ड्रॉइंग (आप जो ड्रॉइंग कर रहे हैं, उसे न देख पाना) जैसे कि हाथ की परिरेखा ड्रॉइंग प्रतीक प्रणाली को नजरअन्दाज करके आपको इस बात की अनुमति देती है कि आप किनारों को ठीक वैसे ही बनाएँ जैसे वे हैं। अगर आपको जिगसॉ पजल पसन्द है तो हर टुकड़े के बारे में यह सोचने की कोशिश कीजिए कि वह अलग है और बाद में उन सबको जोड़कर एक छवि या वस्तु बनाइए। तो देखा आपने, ड्रॉइंग कितनी दिलचस्प हो सकती है !

इसके अलावा उन्होंने शेडिंग और रंग सम्बन्धी पहलुओं को भी छुआ है। यह एक ऐसा

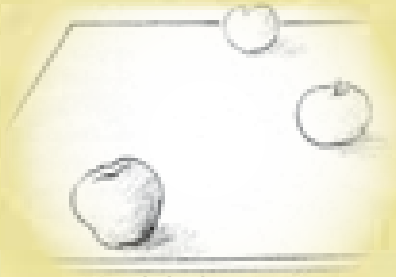

ध्यान से देखने का उदाहरण

कौशल है जिसे पाने की इच्छा हर विद्यार्थी में होती है। ये अभ्यास इस बात को समझने में हमारी मदद करते हैं कि हम चित्र क्यों नहीं बना पाते और फिर उन कारणों को विस्तारपूर्वक समझाते हैं ताकि हम किसी खास कमी से उबरने की प्रक्रिया को समझ पाएँ।

जो भी ड्रॉइंग सीख रहा है उसे इस बात में सक्षम होना चाहिए कि वह अपनी कला में अपनी आत्मा की अनुभूति दर्शकों को करा पाए। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि प्रकटन और व्यक्तित्व उतने ही अभिव्यक्त हो पाए हैं जितना कि दर्शक उसमें बताई गई भावना को महसूस करता है। विरोधाभासी रूप से यह कहा जाता है कि कलाकार जितना अधिक

पोर्टेट ड्रॉइंग का उदाहरण

अपने आसपास की चीजों को देखता है उतने ही अधिक स्पष्ट रूप से हम कलाकार के नजरिए से देखते हैं। इस प्रकार हम जान पाते हैं कि ड्रॉइंग आपके एक पक्ष के सुन्दर और आनन्दमय रूप का प्रतिबिम्ब है और जिसमें ऐसी ऊर्जा है जो आपके काम में उत्पन्न होती है।

यह पुस्तक निश्चित रूप से एक नौसिखिए को यह बताती है कि वह दुनिया के सामने एक अद्वितीय अभिव्यक्ति करने के लिए अपनी खुद की ड्रॉइंग शैली कैसे प्राप्त करे। आप जो देखते हैं उसमें विश्वास करना जरूरी है। यदि कोई वाकई चित्रकारी सीखना चाहता है तो इस पुस्तक का प्रयोग स्व—अध्ययन पाठ्यक्रम के रूप में किया जा सकता है। मेरा मानना है कि किसी को भी देखना सिखाया जा सकता है और इस दृष्टि से ड्रॉइंग को स्वाभाविक रूप से दिमाग में आना चाहिए।

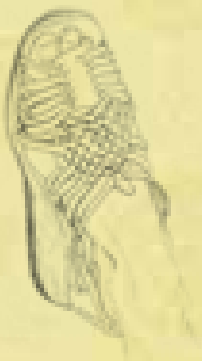

पायल हीरानन्दानी पुणे *विश्वविद्यालय से वाणिज्य में स्नातक हैं। वैसे तो कला में उनके पास कोई औपचारिक डिग्री नहीं है, लेकिन वे नियमित रूप से कला के कोर्सों में भाग लेती रही हैं। उन्हें यह देखकर बहुत कुतूहल और विस्मय होता है कि रोजमर्रा की जिन्दगी की अलग—अलग तरह की बातों को ड्रॉइंग और पेन्टिंग में इतने विभिन्न तरीकों से कैसे व्याख्यायित किया जा सकता है। वे लेखन, पठन, एनिमेशन, कविता और संगीत में भी रुचि रखती हैं। उन्होंने पहले बी.पी.ओ. एवं एनिमेशन इण्डस्ट्री में काम किया है। उनसे payal.hiranandani@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है।* ***अनुवादः*** *नलिनी रावल*

21 कला शिक्षा, कला शिक्षक एवं कारीगर

o'yh Ld'y ¼d-,Q-vkb-½] cxykj dk Hkke.k

नीरजा राघवन

बंगलौर के वैली स्कूल (कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन इण्डिया) में कारीगरों को आमंत्रित कर उनसे बच्चों को प्रशिक्षित करवाया जाता है जबकि अधिकांश स्कूलों में ऐसा नहीं होता है। इस स्कूल में ऐसा इसलिए किया जाता है ताकि कला शिक्षकों के साथ–साथ देश के विभिन्न भागों में कार्यरत कारीगरों और दस्तकारों द्वारा बच्चों को (यहाँ तक कि बच्चों के माता–पिता या जिस किसी को भी इसमें रुचि हो उन्हें भी) पारम्परिक कला की शिक्षा दी जा सके। कई कारीगरों को प्रशिक्षक के रूप में काम पर रखा गया है। वे स्कूल में संकाय के सदस्य के रूप में काम कर रहे हैं। कुछ अन्य कारीगरों को दो महीने में एक बार उनके ग्रामीण इलाकों से आमंत्रित किया जाता है और यह व्यवस्था वर्तमान में चल रहे आउटरीच कार्यक्रम के तहत की गई है। इसके पीछे इरादा यह है विद्यार्थी उन्हें काम करते हुए देखकर सीख सकें और उनके साथ काम कर सकें। भले ही उनकी भाषा और संस्कृति में अन्तर है, तो भी इस स्कूल ने यह बात जान ली है कि कारीगरों के हाथ जो विशुद्ध चित्रमय भाषा बोलते हैं वह शिक्षार्थियों के बीच बातचीत को सम्भव बना देती है। लर्निंग कर्व ने इस अनूठी कार्यप्रणाली को समझने के लिए संकाय के कुछ सदस्यों से बातचीत की।

वैली स्कूल किस प्रकार के कला शिक्षा कार्यक्रम की पेशकश करता है?

वैली स्कूल के निदेशक *डॉ. सतीश इनामदार* कहते हैं–"हमारे स्कूल में पाँच से चौदह साल के बच्चों के लिए सब कुछ अनिवार्य है। बालक को नृत्य सीखना पड़ता है तो बालिका को नाटक....सबको सब कुछ करना पड़ता है, क्योंकि बाद में भले ही बालक या बालिका कुछ भी करें, पर मेरे हिसाब से, स्कूल एक ऐसा स्थान है जहाँ हम उन्हें हर सम्भव जानकारी दे सकते हैं। इसके अलावा हम और तो कुछ नहीं कर सकते। अन्ततः यह बात तो बच्चे पर है कि वह प्रकृति के साथ सम्बन्ध विकसित करे और तभी कला की सारी उत्कृष्टता उभरेगी। जूनियर स्कूल से मिडिल स्कूल (कक्षा I से VIII) तक के बच्चे अपने कुल समय का पाँचवाँ भाग कला ग्राम में बिताते हैं। सीनियर बच्चे परीक्षा के लिए भी कला का अध्ययन करते हैं। कई बच्चे पेन्टिंग और संगीत आदि में भी भाग लेते हैं। उन्हें आधे दिन का समय मिलता है। इसे हम 'सहभागितापूर्ण कला' और 'परीक्षा कला' कहते हैं। सीनियर बच्चों को दोनों का मौका मिलता है। कृष्णमूर्ति ने सहभागितापूर्ण चेतना के बारे में बात की है। हम इस तरह की कला में अधिक रुचि लेते हैं, चाहे वह लोक गायन हो या साथ–साथ नृत्य करना हो। मेरा अनुभव तो यह है कि संवाद करने के लिए बौद्धिक रूप से लोगों को साथ लाना बहुत मुश्किल है, लेकिन नृत्य या गायन आदि में लोग साथ आ जाते हैं। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए हम कला ग्राम को समृद्ध करते रहे हैं। इस तरह से जो संस्था बनी है, वह बहुत दुर्लभ प्रकार की है। यहाँ पन्द्रह लोग काम कर रहे हैं और हमने रंगगृह और खुली जगह बनाई है। यहाँ एक रंगभूमि भी है।"

शिक्षा के उद्देश्य में यह सब कहाँ तक उपयुक्त बैठता है?

"मेरे अनुसार संवेदनशीलता के लिए नींव तैयार करना हर स्कूल का मूल उद्देश्य है। इसके लिए हम सभी प्रयास कर रहे हैं। हम बाहर से कारीगरों को बुलाते हैं। उनकी कला अत्यन्त विविध है। सौभाग्य की बात है कि भारत में इतनी विविधताएँ हैं कि जो संसार में और कहीं नहीं हैं। लोग कम से कम चीजों के साथ काम करते हैं। अतः सीखने के लिए बच्चों को एक समग्र दृष्टिकोण मिलता है।"

क्या कलाकारों और कारीगरों को इस प्रकार से काम पर रखना स्कूल को महँगा पड़ता है?

"स्कूल के लिए यह काफी बड़ी व्यवस्था है। हम भाग्यशाली हैं कि कई लोगों ने इसमें रुचि दिखाई है। किसी भी चीज को एक संस्कृति बनने में वक्त तो लगता है। पर यह उतना महँगा भी नहीं है जितना कि लोग सोचते हैं—पर हमारी प्राथमिकताएँ बेहद सख्त हैं और वे गणित, कम्प्यूटर, विज्ञान आदि से जुड़ी हुई हैं। हम उतना ही समय कला और प्रकृति और खेलकूद को क्यों नहीं दे सकते जितना इन विषयों को देते हैं? क्योंकि तभी तो बच्चे अच्छी तरह से सीख पाएँगे। अगर हम उन्हें चारदीवारी में बन्द करके रख देंगे तो स्कूल बाड़े में बन्द पशुशाला बनकर रह जाएँगे। आज दुनिया में इतनी अराजकता इसीलिए है क्योंकि शिक्षा ने गलत दिशा ले ली है। हम चाहें तो उसे सही दिशा दे सकते हैं लेकिन हमारी प्राथमिकताएँ गलत हैं क्योंकि वे पोषण के लिए नहीं बल्कि परमाणु हथियारों के लिए हैं। ऐसा नहीं है कि दुनिया में संसाधन नहीं हैं, लेकिन हम उन्हें गलत तरीके से खर्च करते हैं।"

कला ग्राम की शिक्षिका एवं कई आउटरीच कार्यक्रमों की समन्वयक *नलिनी जयराम* कहती हैं कि उनके कला—कार्यक्रम शहरी और ग्रामीण अन्तर को पाटने का एक तरीका भी हैं। वे कहती हैं कि कला सांस्कृतिक अवरोधों के परे पुल बनाती है और हम एक—दूसरे को देखकर व अपने आप चीजों को खोजकर नई बातें सीख लेते हैं। एक रचनात्मक दिमाग हमेशा खुला रहता है। "आपको बड़ी—बड़ी मूलभूत सुविधाओं की जरूरत नहीं है, जरूरत है तो एक सही दृष्टिकोण, परिप्रेक्ष्य और चीजों को गहराई से देखने की। बंगलौर की प्रक्रिया नामक संस्था ने भी बुनकरों के साथ यह काम शुरू किया है। 80 बच्चे रोज बुनाई का काम करते हैं। उन्होंने एक स्थानीय कुम्हार को काम पर रखा है; उनके शिक्षकों ने आकर बुनियादी बढ़ईगीरी सीखी, अब उन्होंने एक बढ़ई को भी काम पर रखा है....इस प्रकार वहाँ यह प्रक्रिया चल रही है।"

"अगर प्री स्कूल से ही अधिगम के अन्य रूपों जैसे पढ़ना, लिखना और गणित की संक्रियाओं पर बहुत ज्यादा ध्यान देने की बजाए, बच्चों को धरती, प्रकृति और कारीगरों के साथ रखा जाए तो इस प्रकार का अधिगम सहज अधिगम का पोषण करने में दूरगामी परिणाम देगा।"

"आजकल हम बच्चों की आवश्यकता से अधिक मदद करते हैं, उनकी पूरी शिक्षा शिक्षक—केन्द्रित है; इस वजह से सीखने, खोजने और अपने हाथों से चीजें बनाने की उत्कण्ठा लुप्त हो चुकी है। आज हम उत्पादों से संचालित हैं, हम मॉल में जाकर चीजों की प्रशंसा करते हैं, उन्हें खरीदते हैं, पर हम यह नहीं जानते कि ये चीजें कहाँ से आती हैं, इनमें कौन—कौन सी सामग्री लगती है। मुझे लगता है कि नए स्कूलों को इन बातों पर ध्यान देना चाहिए।"

"संगीत, नृत्य, कला, थियेटर —ये सभी एक ही क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। ये हमारे स्कूल के मजबूत अंग बन गए हैं। लोग कला ग्राम को हमारे स्कूल की पहचान मानते हैं। कला ग्राम के हमारे आउटरीच कार्यक्रम दुनिया में कहीं भी किसी भी व्यक्ति के लिए खुले हैं; हम सामग्री के लिए मामूली सा शुल्क लेते हैं ताकि जिनके पास ये सुविधाएँ या संरचनाएँ नहीं हैं वे इन कार्यक्रमों में भाग ले सकें।"

नलिनी आगे बताती हैं कि, "विशेष योग्यता वाले बच्चों के लिए कला की शिक्षा किस प्रकार से लाभकारी हो सकती है, हमारे कला कार्यक्रम में डिस्लेक्सिया और श्रवण दुर्बलता से ग्रस्त कुछ बच्चे थे और आज उनमें से प्रत्येक को

नौकरी मिल गई है। एक छात्र को फाइन आर्ट्स कॉलेज में दाखिला मिल गया है। एक और छात्रा जो डिस्लेक्सिक थी, वह विशेष स्कूल में शिक्षिका बन गई है और वह वहाँ कला और क्राफ्ट सिखाती है तथा साथ ही डाउन सिंड्रोम से पीड़ित दो बच्चों का ध्यान भी रख रही है।

एक छात्रा श्रवण दुर्बलता से ग्रस्त थी, वह कला और क्राफ्ट में बेहद रुचि रखती थी। उसके अपने दृढ़ निश्चय एवं समझ ने आज उसे कला के एक कॉलेज में जगह दिला दी है। जब असम का एक बुनकर करघे पर पैटर्न बनाना सिखा रहा होता था तब वह बड़े ध्यान से उसे देख रही होती थी। चाहे कोई 'सामान्य' हो या उसमें 'सीखने की कठिनाइयाँ' हों, लेकिन अगर उसमें रचना करने और सीखने की लगन हो तो वह अत्यन्त क्षमतावान बन सकता है। यहाँ तक कि जो बुनकर यहाँ थी वह भी उसी बालिका को ढूँढ़ती थी और पूछती थी—वह बच्ची आज कहाँ है?

वह बहुत अच्छी तरह से सीखती है !

एक और बालक था जिसने आठ सालों में 10 स्कूल बदले थे और उस पर "अति डिस्लेक्सिक—यह तो तीन—चार अक्षरों से ज्यादा नहीं पढ़ सकता" का ठप्पा लग चुका था—वह बालक यहाँ तीन सालों तक रहा और अब उसने मैसूर कला कॉलेज में प्रवेश लिया है। इन बच्चों के माता—पिता/समाज ने इन्हें 'नालायक' कहा किन्तु यहाँ इन बच्चों ने आत्म—सम्मान पाया, इन्हें एक ऐसी जगह मिली जहाँ उनमें यह एहसास जागा कि वे भी अनूठे थे और कुछ कर सकते थे। जरा से प्रशिक्षण से उनका बहुत विकास हुआ।"

क्या यहाँ कारीगर भी एक—दूसरे से सीखते हैं?

"एक बुनकर यहाँ आई थी जो ब्रह्मपुत्र के एक द्वीप पर रहती है—माझुली द्वीप—जो एक धरोहर स्थल है। वह एक उस्ताद और राष्ट्रीय सम्मान विजेता है। वह हमारे यहाँ के करूर (तमिलनाडु) वासी बुनकर से मिली। इसके पीछे विचार यह था कि मौजूदा बुनकर विभाग को समृद्ध किया जाए। उन्होंने एक—दूसरे से बहुत कुछ सीखा....उन्होंने दोनों प्रकार की बुनाई की परम्परा के बीच की सामान्य बातों का पता लगाया।"

देश के विभिन्न भागों के कारीगर एक—दूसरे से कैसे बातचीत करते हैं?

"हाथों की भाषा बातचीत की दूसरी भाषा है। एक बुनकर की भाषा तमिल थी तो दूसरे की हिन्दी/असमिया! पर दोनों एक—दूसरे को अच्छी तरह समझ पा रहे थे। जैसे ही उसने कहा—इसे ऐसे खींचना है, तो वह एकदम से समझ गया। कोई कठिनाई नहीं हुई। उसने जवाब दिया कि मैं ऐसे करता हूँ, हम यहाँ ऐसे करते हैं।"

क्या कभी ऐसा हुआ है कि जो कारीगर यहाँ आते हैं वे अपनी पुरानी जीवन—शैली की कमी महसूस करते हों? जब वे यहाँ संकाय के सदस्य के रूप में काम करने लगते हैं तो क्या वे कभी वापस अपनी पुरानी दुनिया में लौटने की बात करते हैं?

"जो कारीगर यहाँ आते हैं वे आधे शहरी बन चुके होते हैं, हमारे स्कूल में आने के पहले ही वे अपना गाँव छोड़ चुके होते हैं। जैसे कि हमारा बढ़ई पहले तमिलनाडु के एक गाँव में काम करता था और बाद में फर्नीचर बनाने के लिए कर्नाटक में आ गया। हमें उसके बारे में पता लगा तो हमने सोचा कि वह काष्ठ–कला के कारीगर के रूप में हमारे साथ काम कर सकता है और हम उससे केवल फर्नीचर बनाने को नहीं वरन अभिव्यक्ति के लिए एक माध्यम के रूप में लकड़ी पर काम करने के लिए कहेंगे। अब वह धीरे–धीरे लकड़ी के आकार, संरचना और कार्यात्मक टुकड़े बनाने के स्थान पर लकड़ी के विभिन्न माध्यमों के साथ काम करता है। अब उसका पूरा दृष्टिकोण बदल गया है। इस प्रकार जब वे उपयोगितावादी दृष्टि से दूर हट जाते हैं और तब कला और शिल्प का मिलन होता है। अब तो अगर उससे किसी रखरखाव या मरम्मत का काम करने को कहा जाए तो उसे शिकायत होती है, केवल उपयोगितावादी प्रयोजनों के लिए काम करना उसे नहीं सुहाता! वह कहता है, मुझे लकड़ी का कुन्दा दो, क्या मैं इस पर नक्काशी कर सकता हूँ? जैसे ही आप उससे कहें कि चलो, हम लकड़ी के कुन्दे पर काम करें, तो वह झट से उसके लिए समय निकाल लेगा। उस माध्यम के साथ अब उसकी निजी बातचीत होती है, उसके लिए लकड़ी जीवन्त हो जाती है, उसे कोई खरीदेगा या नहीं यह बात अब कोई मायने नहीं रखती। उस चीज को बनाना है–यह बात मुख्य हो जाती है।

'यह विकास की यात्रा है; मैं अनजानी दिशा में आगे बढ़ रहा हूँ.....यह मुझे कहाँ ले जाएगी, पता नहीं। सच्ची रचनात्मकता अपरिचित क्षेत्रों में ही होती है।'

इस क्षेत्र ने कारीगरों को इस यात्रा में साथ–साथ चलने दिया है। हमारी कोशिश भी यही है। हमारा उद्देश्य कारीगरों को मात्र प्रशिक्षक की तरह रखना नहीं, बल्कि यह देखना है कि क्या सभी का विकास हो सकता है? इस क्षेत्र में आने वाले सभी लोगों का विकास....सिर्फ विद्यार्थियों का नहीं। जो लोग भी इस क्षेत्र में प्रवेश करते हैं क्या उन्हें महसूस होना चाहिए कि कुछ बनाना है और क्या वे अपनी स्वतंत्र

सोच और प्रयोगात्मक होने के साथ–साथ चुपचाप अपनी खोज में लगे रह सकते हैं।

बच्चे चीजों को छूकर यह समझने लगते हैं कि वे 'जानते हैं', 'ओह, मैं जानता हूँ, मैं इसे बना सकता हूँ।' लेकिन जब वे उसे बनाने की कोशिश करते हैं तब उन्हें पता चलता है कि यह काम कठिन है और इससे उनमें विनम्रता आती है। पर यह कहना एक आदत बन गई है कि 'मैं जानता हूँ' भले ही आप सिर्फ एक या दो चीजें ही जानते हों। शहरी समुदायों में आज यह एक बीमारी बन चुकी है, सिर्फ इसलिए क्योंकि आप गूगल खोज करके जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। लेकिन आप गूगल खोज करके कला नहीं रच सकते। भीतर से अभिव्यक्ति के वास्तविक अनुभव और अन्दरूनी गहरी खामोशी के बिना कला की रचना नहीं हो सकती।"

कला ग्राम में बुनाई और करघे के पीछे की कहानी के बारे में नलिनी कहती हैं, "हम एक साधारण करघा बना सकते हैं, देखिए, यह जो यहाँ रखा है–इसे शान्तिनिकेतन से लाया गया है। करघा बनाना स्वयं में एक कला है। इस पर काम करने के लिए सटीकता चाहिए। असम से जो बुनकर आई थी उसने बाँस से बना एक स्वदेशी करघा लगाया। यह परोक्ष रूप से पारम्परिक ज्ञान के संरक्षण का एक तरीका था। प्राचीन ज्ञान को कैसे संरक्षित करना है,

धातु की ढलाई–डोगरा

यह हमारे सरोकारों में से एक है। इसलिए हमने असम के बुनकर को बुलवाया। हम इस तरह का एक करघा चाहते थे, अत: भारी खर्चे के बावजूद हमने उसे आमंत्रित किया। ”

“ऐसे लोगों की उपस्थिति मात्र से बच्चों को मानो कुछ हो जाता है....कोई किताब नहीं, कुछ नहीं, बस आप देखते हैं कि यहाँ कुछ हो रहा है तो वहाँ कुछ हो रहा है....। कुछ दिन पहले बच्चों ने आठ से दस घण्टे तक बुनाई का काम किया और एक बार भी यह नहीं कहा कि वे ऊब रहे हैं। तो जो दिमाग किताबों से इतना बेचैन हो उठता है, जिसकी ध्यान केन्द्रित करने की अवधि इतनी कम है–उसे कला के इस रूप से अनुशासित किया जा सकता है। यहाँ सब कुछ मनोरंजक नहीं है, प्रोत्साहक नहीं है...जब तक वह 100 मीटर सूत बना नहीं लेता, पूरी प्रक्रिया शुरू नहीं हो सकती। इसलिए यह तत्काल सन्तुष्ट होने के वर्तमान परिदृश्य से बहुत अलग है कि ,'मैं बहुत ऊब रहा हूँ, अब मैं और क्या करूँ?”

जब आप कारीगरों से बातचीत करते हैं तब क्या भाषा की समस्या सामने नहीं आती?

कुम्हारी के शिक्षक *चन्दन* इसके जवाब में कहते हैं, “नहीं, जब हाथ और दिमाग काम कर रहे हों तो भाषा की जरूरत ही नहीं पड़ती। ओड़िशा के कारीगर हिन्दी जानते हैं। हमारे बच्चों को उनके साथ काम करने में बड़ा आनन्द आता है –बोलने की जरूरत ही नहीं पड़ती। काम करते वक्त डोगरा कारीगर गाते हैं। एक तरफ आग जल रही होती है, दूसरी तरफ वे मोम पिघला रहे होते हैं और काम चलता रहता है, बच्चे आनन्द लेते हैं.....कारीगर समझाते रहते हैं...।”

मुख्यधारा के स्कूलों में कला की शिक्षा तो दी जाती है लेकिन कारीगरों के साथ कोई सम्पर्क नहीं होता–इस बारे में आपका क्या विचार है?

कला शिक्षिका *श्वेतल* का कहना है, “मुझे लगता है कि यह एक बहुत बड़ी कमी है। कला को कला विशेषज्ञों द्वारा नहीं सिखाया जा सकता क्योंकि इसका अनुभव करना आवश्यक है। यह मेरा विश्वास है। मैं इसे सत्यापित नहीं कर सकती और जो कला भीतर से उत्पन्न होती है उससे वे किसी चीज का उत्पादन नहीं करते। यह तो घर में सीखी हुई कला है जिसका उपयोग वे अपने कपड़ों की

राजस्थान के फड़ चित्रकार

पट चित्रकार

सजावट के लिए करते थे ताकि अपने काम को पेश करने के तरीके में कोई दिखावा न हो। इसके लिए वे अपनी क्षमता का पूरा–पूरा उपयोग करते हैं और यह बात सिखाई नहीं जा सकती। इसे बस महसूस किया जाना चाहिए। जब ये लोग आकर काम करते हैं और बातचीत करते हैं तो जो कुछ ये सिखाते हैं वह मैं (जिसने किताबों से सीखा है) नहीं सिखा सकती। एक पेशेवर के रूप में, अब कई वर्षों के बाद, मुझे महसूस होता है कि जब मैं किसी विशेषज्ञ दस्तकार से कोई काम सीखती हूँ, तब कहीं जाकर मैं उस बारे में थोड़ा बहुत समझना शुरू करने लगती हूँ।"

पत्थर में एक कहानी

स्कूल के क्षेत्रीय चित्रकार शिविर के दौरान, किसी कला कॉलेज का एक विद्यार्थी आया और उसने कुछ करने की इच्छा जाहिर की। उसने यहाँ–वहाँ कुछ पत्थर पड़े देखे और उन पर काम करके यह बनाया। "एक कलाकार का मस्तिष्क समझ सकता है, मन में विचार बैठा सकता है और आसपास पड़ी हुई चीजों से नई चीजें बना सकता है। वह इन पचड़ों में नहीं पड़ता कि मुझे यह चाहिए और वह चाहिए। तो ऐसा ही एक उदाहरण यह है। वह यूँ ही आसपास चल रहा था, और तो और, वह तो शिविर का प्रतिभागी भी नहीं था, बस उसने निर्माण कार्य के लिए रखे हुए इन पत्थरों को यहाँ देखा....उसने इन पत्थरों पर एक्रिलिक रंगों का इस्तेमाल किया है। यह लम्बे समय तक नहीं टिकेगा, पर उससे क्या फर्क पड़ता है?" नलिनी पूछती हैं। "उसने चीजों के साथ यह कहानी बनाई। अब देखिए न, गाँव के लोग शहरों का निर्माण करने जा रहे हैं, नौकरी की तलाश में कंक्रीट के जंगलों की ओर जा रहे हैं, और शहर के लोग प्रकृति की ओर जा रहे हैं। देखिए? ग्रामीण लोग रोजगार की तलाश में भीड़ में, बोरियों पर बैठकर, भवन निर्माण करने चले जा रहे हैं।"

मैं यह सोचते हुए लौटी कि शहरवासियों के गाँव में और गाँव वालों के शहर में आने (जैसा कि पत्थर की पेन्टिंग में दिखाया गया है) को इस तरह की पहल से बदला जा सकता है, जिसमें शहरी कलाकार और ग्रामीण कारीगर मिलकर काम करते हैं।

नीरजा राघवन *अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय के विश्वविद्यालय संसाधन केन्द्र में प्रोफेसर हैं। वे अकादमिक और शिक्षाशास्त्र (एकेडेमिक्स एण्ड पेडॉगॉजी) अनुभाग में कार्यरत हैं। इसके अलावा वे विज्ञान शिक्षक शिक्षा, पाठ्यक्रम विकास तथा शोध से जुड़ी हुई हैं। उनसे neeraja@azimpremjifoundation.org पर सम्पर्क किया जा सकता है।*
अनुवादः *नलिनी रावल*

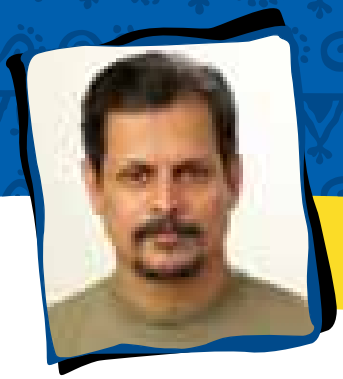

22 एक यात्रा का सुगमीकरण

नटेश उल्लाल

सारा अधिगम अनुभव और चिन्तन के माध्यम से हो रहा था। बच्चे अवलोकन कर रहे थे, सोच रहे थे, खोज कर रहे थे और अपनी समझ के अनुसार काम कर रहे थे।

मैं उसे देख रहा था। वह बड़े आत्मविश्वास के साथ खड़ी थी, उसने कैमरे को प्रोजेक्टर से जोड़ा और 'प्ले' का बटन दबाया। बाजरे का दलिया बनाती हुई पुट्टम्मा नजर आई। आकर्षक कोणों से लिए गए अच्छे शॉट्स थे और कैमरा बिलकुल हिल नहीं रहा था, लगता था कि ये शॉट्स किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा लिए गए हैं जो वीडियो कैमरे का प्रयोग लम्बे समय से कर रहा है। "इस वीडियो को किस टीम ने शूट किया है?" मैंने बड़े उत्साह से पूछा। रश्मि ने गर्व से कहा, "हमें अपनी फिल्म के लिए यह शॉट चाहिए था और चूँकि मेरी टीम के बाकी लोग आज सुबह व्यस्त थे; इसलिए मैं सुबह साढ़े छह बजे अकेले इसे शूट करने गई।" मैंने उसकी टीम के अन्य बच्चों की ओर देखा तो उन्होंने हामी में सिर हिलाया। पर मेरे लिए इस घटना को समझना अभी भी मुश्किल था।

सिर्फ दो हफ्ते पहले की बात है। मैं बच्चों के हाथों में बारी–बारी से वीडियो कैमरा दे रहा था। उनसे कह रहा था कि वे उसे पकड़ें, उसका अनुभव करें और जानकारी प्राप्त करें। साथ ही मैं कैमरे के हिस्सों और कामों के बारे में बताता जा रहा था। उन सारे बच्चों में रश्मि काफी घबराई हुई–सी थी और कैमरा छूने में भी डर रही थी। जब उसके साथियों ने कैमरे को पकड़ने–देखने पर जोर डाला तो उसने उसे बिना देखे अगले बच्चे को दे दिया। मैंने बच्चों की कक्षा के अनुसार चार समूह बनाए। हर समूह को एक वीडियो कैमरा दिया। उनसे कहा गया कि उन्हें जो कुछ भी अच्छा लगे वे उसे शूट कर सकते हैं, केवल इस बात का ध्यान रखें कि टीम के हर सदस्य को मौका मिलना चाहिए। यह सभी के लिए एक मजेदार सत्र था। बच्चे कैमरा हाथ में लेकर इसका आनन्द उठाने के लिए चल दिए। इसके बाद एक स्क्रीनिंग और फीडबैक सत्र हुआ जिसमें सबने अपने–अपने शॉट्स दिखाए और दूसरों ने उन पर अपने विचार प्रस्तुत किए। जब रश्मि की बारी आई तो उसके पास दिखाने को कुछ नहीं था। मैंने सोचा कि वह काम न करने के लिए कोई बहाना बनाएगी, लेकिन वह बस जमीन की ओर देखती रही। अगले दिन भी यही हुआ। मुझे लगा कि चूँकि रश्मि बहुत घबराती है इसलिए उसकी टीम के अन्य लोग उसे कैमरा चलाने ही नहीं देते होंगे। तीसरे दिन मैंने टीम से कहा कि वे इस बात को सुनिश्चित करें कि रश्मि भी कैमरे को संचालित करे। उन्हें यह चेतावनी भी दी गई कि अगर रश्मि ने किसी फुटेज की शूटिंग नहीं की तो उन्हें भी भविष्य में कैमरा चलाने नहीं दिया जाएगा। अब तो सातवीं कक्षा के इन बच्चों के लिए यह बात अपने आपको सिद्ध करने का मुद्दा बन गई! वे इस विषय पर अपने समूह में बड़ी गम्भीरता से चर्चा करने लगे। कुछ देर बाद वे कैमरे के साथ बाहर चले गए। उनके चेहरे को देखकर लग रहा था मानो उन्होंने इस संकट से निपटने के लिए रणनीति बना ली है। मैं यह जानने को उत्सुक था कि वे इस मुद्दे को कैसे सुलझाएँगे और जो कुछ मैंने देखा वह अत्यन्त आश्चर्यजनक था। रश्मि के समूह के सारे सदस्य उसके सलाहकार बन गए थे! वे उसे प्रोत्साहित कर रहे थे, मार्गदर्शन दे रहे थे, कैमरे को समझने में उसकी मदद कर रहे थे! आखिरकार रश्मि कैमरे का संचालन करने लगी।

सारी टीमें वापस आईं और अपने–अपने वीडियो दिखाने लगीं। अब रश्मि की बारी आई। पहले शॉट को देखते ही सब हँसने लगे। शॉट्स बेहद अस्थिर थे और कुछ दृश्य तो उलटे थे। मैंने पर्दे से नजरें हटाकर रश्मि की ओर देखा, लेकिन वह वहाँ नहीं थी! जब सबने हँसना शुरू किया था, तभी वह गायब हो गई थी। मैंने अपनी सहयोगी इनी से रश्मि को ढूँढ़ने के लिए कहा। कुछ मिनटों बाद रश्मि इनी का सहारा लिए झिझकते हुए अन्दर आई। उसकी आँखों में आँसू भरे थे और उनमें बेचैनी और तनाव के भाव भी थे। वह चुपचाप जमीन की ओर ताक रही थी।

और आज यह मानना मुश्किल था कि यह वही रश्मि है जो इस समय विश्वास से भरी हुई है। वह भी सिर्फ दो हफ्तों में! उसने पूरा शूट अकेले किया था, सारे शॉट्स स्थिर हाथों से लिए थे, और अब बड़े गर्व से सबको वीडियो दिखा रही थी! मेरे लिए यह क्षण रहस्योद्घाटन का क्षण था। मेरे सामने परिवर्तन, रूपान्तरण और विकास की अपार सम्भावनाएँ खुली पड़ी थीं। मुझे लगा कि हालाँकि इसमें सन्देह नहीं कि दृश्य माध्यम (विजुअल मीडियम) सम्प्रेषण का एक शक्तिशाली उपकरण है, लेकिन दृश्य सम्प्रेषण की भाषा में महारत हासिल करने के लिए उपलब्ध कराया गया स्थान और कौशल इससे कहीं अधिक कारगर सिद्ध हो सकते हैं।

यह सब शुरू हुआ एक फोन कॉल से। वेल्स के वनपीपल प्रोडक्शन्स से सन्दीप दिनकर ने मुझे फोन किया और इस प्रोडक्शन्स के अन्तर्राष्ट्रीय स्कूल प्रोजेक्ट के बारे में अपने विचार बताए। बात दिलचस्प लगी। उन्होंने यह भी कहा कि वे भारत में एक साथी स्कूल की तलाश में हैं। मेरे दिमाग में जो स्कूल आया वह था चामराजनगर का दीनबन्धु चिल्ड्रन्स होम। दीनबन्धु ट्रस्ट के संस्थापक श्री जयदेव के साथ इस बारे में बात हुई। उन्होंने इस विचार का स्वागत करते हुए कहा कि, "यह बच्चों के ज्ञानवर्धन एवं उनके क्षितिज को व्यापक करने के लिए एक बढ़िया कार्यक्रम होगा।" उन्होंने तत्काल दीनबन्धु स्कूल के शिक्षकों और बच्चों के साथ एक मीटिंग आयोजित की। उन सबने भी इस प्रोजेक्ट का हिस्सा बनने में खुशी जाहिर की। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय स्कूल प्रोजेक्ट शुरू हुआ।

अन्तर्राष्ट्रीय स्कूल प्रोजेक्ट क्या है?

वनपीपल प्रोडक्शन्स वेल्स में स्थापित एक सामूहिक संस्था है जो विभिन्न मुद्दों पर लोगों को शिक्षित करने के लिए मीडिया का उपयोग करती है। यह संस्था इस विचारधारा में बहुत विश्वास करती है कि संस्कृति, भाषा, जाति और वर्ग में अन्तर होते हुए भी दुनिया भर के लोग मौलिक रूप से एक हैं। वनपीपल का मानना है कि इस समझ के विकास के लिए विभिन्न संस्कृतियों के लोगों का आपस में अन्त:क्रिया करना आवश्यक है। इस अन्त:क्रिया के लिए स्थान मुहैया कराने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्कूल प्रोजेक्ट (आई.एस.पी.) की शुरुआत हुई। आई.एस.पी. छात्रों को फिल्म एवं नवीन मीडिया के माध्यम से अन्त:क्रिया करने और सम्प्रेषण करने के लिए स्थान उपलब्ध कराता है। यह उन्हें लघु फिल्में बनाने के लिए आवश्यक उपकरण एवं कौशल प्रदान करता है। इस प्रोजेक्ट के उद्देश्य ये हैं–

- दुनिया के अलग–अलग विचारों और परिप्रेक्ष्यों को समझना
- दुनिया को देखने का नजरिया बदलना और विभिन्न देश के लोगों के बीच के सांस्कृतिक अन्तर को समझना
- अन्त:सम्बद्धता को समझना
- कार्य करने के लिए शक्ति प्रदान करना
- बेहतर भाषा कौशल/सम्प्रेषण कौशल का विकास करना
- टीम वर्क और सहयोग के महत्त्व को समझना
- प्रोजेक्ट की योजना बनाना सीखना
- अन्तरव्यैक्तिक कौशल/सम्बन्ध बनाने और नेटवर्किंग (स्थानीय और वैश्विक) का विकास करना
- विवेचनात्मक सोच–विचार और चिन्तन की शुरुआत करना
- तकनीकी कौशलों का विकास करना–फिल्म/सम्पादन/आई.टी.

वेल्स और स्वीडन में एक–एक और भारत में दो स्कूल इस प्रोजेक्ट में भाग लेने वाले थे। इन चार स्कूल के प्रतिभागियों को एक निर्धारित समयावधि में अपनी पसन्द के एक विषय पर वीडियो फिल्म बनानी थीं। इस प्रक्रिया में वे, एक टीम के रूप में, विषय का चयन करना, उस पर शोध करना, योजना बनाना, शूट करना और सम्पादन करना सीखने वाले थे। इस प्रोजेक्ट की एक और महत्त्वपूर्ण बात थी स्काइप और फेसबुक के माध्यम से इन चारों स्कूलों का पारस्परिक सम्प्रेषण/अन्त:क्रिया। इसमें वे अपने अन्य साथियों के साथ अपने विचारों व अनुभवों को साझा कर सकते थे, यहाँ तक कि अपने अपरिष्कृत फुटेज, साक्षात्कारों और अपलोड किए हुए ट्रेलरों पर फीडबैक भी दे सकते थे। प्रोजेक्ट के समापन पर हर स्कूल में एक फिल्म समारोह का आयोजन होना था। इसकी योजना और डिजाइन छात्रों को ही बनानी थी। इसमें अन्तर्राष्ट्रीय स्कूल प्रोजेक्ट में भाग लेने वाले चारों स्कूलों द्वारा निर्मित बारह फिल्में प्रदर्शित की जानी थीं।

मैंने स्वेच्छा से सुगमकर्ता बनना स्वीकार किया। यह मेरी जिम्मेदारी थी कि मैं एक ऐसे वातावरण का निर्माण करूँ जिसमें विद्यार्थी चर्चा और कार्यकलाप के माध्यम से प्रोजेक्ट के सभी पहलुओं में भाग ले सकें। यह एक सरल काम था–मुझे सातवीं से दसवीं कक्षा तक के बच्चों को कैमरे का प्रयोग करने, स्वतंत्र रूप से सोचने और फिल्मों पर चिन्तन करने, और दूरवर्ती दर्शकों के लिए फिल्म बनाने की प्रक्रिया और चर्चाओं में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित करना था।

हालाँकि स्वीडन और वेल्स में यह प्रोजेक्ट स्कूल की नियमित प्रक्रिया का हिस्सा बन गया था। वहाँ हफ्ते में कुछ घण्टे वीडियो प्रोजेक्ट के लिए नियत कर दिए गए थे। लेकिन हम चामराजनगर में ऐसा नहीं कर पाए, क्योंकि इस काम के लिए किसी पूर्णकालिक व्यक्ति को काम पर रखने के लिए संसाधनों की कमी थी। मैं अपने व्यावसायिक कारणों से इस प्रोजेक्ट को पूरा समय दे पाने में असमर्थ था। मुझे प्रोजेक्ट के स्थान पर मात्र पहुँचने के लिए ही पाँच घण्टे की यात्रा करनी पड़ती थी। इसलिए हमने गर्मियों की छुट्टियाँ चुनीं। ऐसे विषय चुने गए जिनसे दूरवर्ती दर्शकों को हमारी संस्कृति का पता लगे और वे उससे परिचित हों। दीनबन्धु स्कूल के बच्चों ने जो विषय चुने वे इस प्रकार थे–'हमारा लोकसाहित्य', 'हमारा भोजन', 'आय के सहायक स्रोत' और 'गुड़ बनाना'। शुरू के कुछ दिनों में फिल्म निर्माण की प्रक्रिया सिखाई गई। उसके बाद उन्हें अपने चुने हुए विषय पर पढ़कर, फील्ड में जाकर और लोगों/विषय के विशेषज्ञों से बातचीत करके जानकारी हासिल करनी थी। ये सारे काम उन्हें बिना बड़ों की मदद लिए खुद ही करने थे। अगर कभी कोई बड़ा उनके साथ जाता भी था तो उसका कारण सिर्फ सुरक्षा का ध्यान रखना था, क्योंकि कभी–कभी बच्चों को अपरिचित क्षेत्रों में भी जाना पड़ता था। जब उन्हें लगा कि उनके पास यथेष्ट जानकारी है तब उन्होंने अपने समूह में बैठकर पटकथा लिखी और प्रोडक्शन डिजाइन तैयार किया।

वैसे तो कैमरा संचालन और विषय–वस्तु की रचना के लिए सभी बच्चे समान रूप से जिम्मेदार थे। लेकिन काम की आसानी के लिए समूह के हर बच्चे को एक विशेष जिम्मेदारी सौंपी गई जैसे, टीम लीडर, प्रोडक्शन मैनेजर, उपकरण प्रभारी या इन–चार्ज और लेखाकार या एकाउंटेण्ट। प्रोडक्शन की प्रभावी योजना के लिए हर टीम के लिए 25000 रुपए की बजट सीमा तय की गई। यह काल्पनिक राशि कार्यकारी पूँजी के रूप में दी गई। उन्हें उपकरण के उपयोग या किसी और संसाधन के उपयोग के लिए व्यय तय करना था। लेखाकार का काम था खर्चों पर नजर रखना और अगर बजट सीमा से बाहर जाने लगे तो टीम को सावधान करना। उन्हें 'दी गई राशि' को ध्यान में रखते हुए प्रोडक्शन को डिजाइन करना था। पता नहीं कि खर्चों का हिसाब रखने के लिए 'पैसे' शब्द का प्रयोग करना सही था या नहीं, लेकिन इसने कुछ हद तक काम किया। मैं उन्हें प्रत्येक दिन के अन्त में हिसाब करते हुए और उसके अनुसार अपने प्रोडक्शन के डिजाइन की पुनर्रचना करते हुए देखता था। लेकिन बाद में दो टीमों ने इस नियम का पालन नहीं किया और उनका बजट सीमा से बाहर चला गया। जब उनसे इसका कारण पूछा गया तो बस वे मुस्कुरा

भर दिए। पर हर दिन वे अपनी शूट की हुई फुटेज देखते। उसकी कमियों पर और जो काम ठीक से नहीं हुआ उस पर लम्बी चर्चा करते और अगले दिन के प्रोडक्शन की योजना बनाते। जरूरत पड़ने पर शूट के लिए आवश्यक अपरिचित लोगों से भी सम्पर्क करते।

सम्पादन की प्रक्रिया के लिए स्कूल के कम्प्यूटरों का उपयोग किया गया। सम्पादन की बारीकियों को समझने के बाद उन्होंने अपनी पटकथा/शॉट्स अच्छी तरह से देखे और सम्पादन की योजना बनाई। कुछ दिनों बाद जब एक टीम विशेष 'गुड़ बनाने' वाली फिल्म पर काम कर रही थी तब सदस्यों को लगा कि उनके पास पर्याप्त शॉट्स नहीं हैं और उन्होंने मुझसे पूछा कि क्या वे एक दिन और शूट कर सकते हैं? वे यह बताना नहीं भूले कि वे अपने बजट की सीमा के भीतर ही हैं! "ठीक है, अगर दूसरी टीमें मान जाएँ और आपके पास अपने शॉट्स की सूची है तो आप एक दिन और शूट कर सकते हैं।" मैंने कहा। एक घण्टे के अन्दर शॉट्स की सूची और दूसरी टीमों की सहमति दोनों तैयार थीं!

दसवीं कक्षा की जो टीम 'आय के सहायक स्रोत' पर फिल्म बना रही थी, उसके सदस्यों को सम्पादन के दौरान पता चला कि उनके सारे शॉट्स वास्तव में लोगों की आय के मुख्य स्रोत पर थे। निराशा के एक दौर के बाद उन्होंने मुझसे पूछा कि क्या वे अपनी पटकथा को फिर से लिखकर एक भिन्न फिल्म बना सकते हैं। मैं मान गया। वे अगले दिन वापस आकर बोले कि उनकी समस्या सुलझ नहीं रही क्योंकि उन्हें अपनी कहानी के लिए सूत्र नहीं मिल रहा। मैंने उनसे कहा कि वे साथ बैठकर फुटेज की समीक्षा करें और उसमें मौजूद सामान्य तत्व का पता लगाएँ। जब वे लौटे तो उनकी आँखों में एक चमक थी, "हमने जिन–जिन गतिविधियों को शूट किया है वे प्रकृति स्नेही हैं। पर्यावरण को हानि नहीं पहुँचातीं हैं और कुछ गतिविधियाँ तो ऐसी हैं जिनमें कचरे से दैनिक उपयोग की वस्तुओं का निर्माण किया गया है।" तो अब 'आय के सहायक स्रोत' नामक फिल्म 'WorkingHands' बन गई जिसमें ऐसी स्थानीय पहलों के बारे में बताया गया था जो कचरे का री–सायकिलिंग करती थीं एवं अनेक लोगों को रोजगार मुहैया कराती थीं।

फिल्में पूरी हुईं और फिल्म समारोह के आयोजन का समय आ गया। कुछ लोगों ने स्वेच्छा से कार्यक्रम के प्रबन्धन काम सम्भाला, कुछ ने प्रचार का काम किया (निमंत्रण पत्र और पोस्टर को डिजाइन करना, प्रेस नोट लिखना, प्रेस के साथ बैठक आयोजित करना, प्रेस को सम्बोधित करना), अन्य लोगों ने स्वीडिश और वेल्श स्कूलों की फिल्मों को कन्नड़ में अनुवाद करने का बीड़ा उठाया। उन्होंने बड़े ध्यानपूर्वक पूरे कार्यक्रम की योजना बनाई। उसके हर भाग का अभ्यास किया। कार्यक्रम वाले दिन अपनी और डब की हुई फिल्मों को 300 महत्त्वपूर्ण लोगों के सामने प्रस्तुत किया,जिनमें बच्चे, उनके माता–पिता और आसपास के गाँव के लोग शामिल थे। लोकेश नामक किशोर ने इस कार्यक्रम को आयोजित करने की जिम्मेदारी उठाई थी। उसने किराए पर कुर्सियाँ और माइक/लाउडस्पीकर आदि की व्यवस्था करते समय किराए को लेकर बहुत मोल–भाव किया था, प्रेस की उपस्थिति सुनिश्चित की थी और भी कई चीजों का ध्यान रखा था। उसने बाद में कहा कि इस पूरे अनुभव ने उसे इतना आत्मविश्वासी बना दिया है कि अब वह किसी भी कार्यक्रम का आयोजन कर सकता है।

आई.एस.पी. के दूसरे वर्ष में दीनबन्धु स्कूल में चार टीमों ने (जिसमें सातवीं कक्षा का नया बैच भी शामिल था) चार फिल्में बनाईं। फिल्में वनपीपल द्वारा प्रदान किए गए व्यापक विषय–पर्यावरण की समस्याएँ, समानता और न्याय–के अनुरूप थीं। तीन दिनों की गहन चर्चा के बाद बच्चों ने इन विषयों पर फिल्म बनाने का निर्णय लिया–वायु प्रदूषण, जल प्रदूषण व बाल मजदूरी और चौथी टीम ने बचपन पर एक संगीत वीडियो बनाने का फैसला किया। उन्होंने विषय की अपनी समझ को स्थानीय वास्तविकता के साथ सन्दर्भीकृत करने की कोशिश की। उन्होंने सिर्फ लक्षणों पर ही नहीं वरन उनके अन्तर्निहित मुद्दों पर भी ध्यान दिया और समाधान की खोज भी की। खोज करने एवं विभिन्न लोगों, संस्थाओं और अनुभवों से प्राप्त जानकारी के माध्यम से उनका नजरिया व्यापक हुआ तथा उनकी अवधारणाएँ स्पष्ट हुईं। अपने चुने हुए विषय के बारे में जब भी उन्हें

कोई नया प्रासंगिक सुराग मिलता तो उसका पता लगाने और उसे जाँचने में वे जरा भी नहीं झिझकते थे।

इन सब बातों से जो खुलासा मेरे सामने हुआ वह निर्मित फिल्मों की तुलना में कहीं अधिक था। सारा अधिगम अनुभव और चिन्तन के माध्यम से हो रहा था। बच्चे अवलोकन कर रहे थे, सोच रहे थे, खोज कर रहे थे और अपनी समझ के अनुसार काम कर रहे थे। उन्होंने विचारों का आदान–प्रदान किया और चुनौतियों का आनन्द लिया। वे आत्मविश्वासी और आत्मनिर्भर बन गए थे। इस प्रक्रिया से मुझे एहसास हुआ कि इसमें मुख्य बात यह नहीं थी कि बच्चों के हाथों में कोई उपकरण या माध्यम सौंप दिया जाए, मुख्य बात यह थी कि सीखने के लिए उन्हें समुचित स्थान उपलब्ध कराया जाए और स्वतंत्रता सुनिश्चित की जाए। यह उनकी यात्रा थी। उनकी समझ को सन्दर्भीकृत करने की इस यात्रा में मैं तो बस उनका सहयात्री था, जो कभी–कभी एक अवलोकनकर्ता बन जाता था। जब जयदेव, इनी और मैं बच्चों को सोचने और अपने निष्कर्ष तक पहुँचने में उनकी सहायता करते थे तब हमें लगातार चुनौतियों का सामना करना पड़ता था। इसके लिए हम उन्हें ढेर सारी प्रेरणा देने के साथ–साथ जानकारी और चर्चाओं के लिए प्रचुर अवसर भी देते थे। पिछले दो वर्षों में, जैसे–जैसे दीनबन्धु स्कूल के बच्चों ने वीडियो कैमरा की सहायता से मुद्दों का पता लगाया और अपने अनुभवों पर चिन्तन किया, वैसे–वैसे मैंने बहुधा प्रयोग में लाए जाने वाले इन शब्दों का सही अर्थ समझना शुरू कर दिया है जो इस प्रकार हैं–"बच्चों के अधिगम का सुगमीकरण करना।"

नटेश *उल्लाल वृत्तचित्र निर्माता हैं और बंगलौर में रहते हैं। वेल्स के वनपीपल प्रोडक्शन्स नामक फिल्म निर्माता संगठन के सदस्य हैं। वे वीडियो प्रलेखन के क्षेत्र के विशेषज्ञ हैं और पिछले 23 सालों से फिल्में बना रहे हैं। वे सामाजिक विकास में लगे संगठनों के लिए पर्यावरण, बाल–अधिकार और प्राथमिक शिक्षा से सम्बन्धित फिल्में बनाते रहते हैं। उनसे nateshullal@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है।* ***अनुवादः*** *नलिनी रावल*

23 बच्चों का स्वयं का स्थान

jpukRedrk ,oa 0;fäxr le; & cPpksa dh dk;'kkyk l ukV l

उमाशंकर पेरिओडी

"हमें कोई सार्थक और स्थायी काम करना है"—हमारे समुदाय विकास के व्याख्याता की बात को दोहराते हुए मेरे मित्र ने घोषणा की। इसके परिणामस्वरूप हमने आस—पड़ोस के बच्चों के लिए एक रचनात्मक कार्यशाला आयोजित करने का निर्णय लिया। यह स्थान था अत्तावर जो मैंगलोर का अर्ध—झोपड़पट्टी वाला क्षेत्र है। हम छह लोग एम.एस.डब्ल्यू. कोर्स कर रहे थे और उसी इलाके में रहते थे। बच्चों की रुचि और अपनी सामर्थ्य व सीमाओं का ध्यान रखते हुए हमने दस दिवसीय कार्यशाला की योजना बनाई। इसमें हमने थियेटर, कला, चिकनी मिट्टी से चीजें बनाना, कठपुतली कला, गाना, कहानी सुनाना और बहुत सारे खेलों को शामिल किया। यह एक मजेदार कार्यशाला थी जिसमें बच्चों को बहुत आनन्द आया।

इस कार्यशाला में बच्चों ने एक एकांकी भी तैयार किया जिसका शीर्षक था—'कत्तले राज्या' (अन्धेरे का साम्राज्य)—और जिसे मैंगलोर के अधिकांश पार्कों में सामान्य लोगों (यानि ऐसे दर्शक जिन्हें कोई औपचारिक निमन्त्रण नहीं दिया गया था) के सामने प्रदर्शित किया गया। इसे व्यापक मीडिया कवरेज मिला और लोगों से बहुत प्रशंसा भी मिली।

जब पनम्बूर के ऑफिसर्स क्लब ने हमें अपने बन्दरगाह के अधिकारियों के बच्चों के लिए ऐसी ही कार्यशाला का आयोजन करने का आमंत्रण दिया तो हमारे आश्चर्य का ठिकाना न रहा। हम एकदम से तैयार हो गए। अपने अत्तावर के अनुभव के आधार पर हमने इस कार्यशाला का आयोजन बहुत उत्साहपूर्वक किया। पर शीघ्र ही हम जान गए कि पनम्बूर के बच्चे अत्तावर के बच्चों जैसे नहीं थे। पनम्बूर के बच्चों के साथ काम का कोई भी तरीका सफल नहीं हो पा रहा था। जब उनसे चित्र बनाने को कहा जाता तो वे कप और प्लेट, गुड़हल का फूल और भारत का झण्डा बना लाते जो उन्होंने अपने स्कूल की चित्रकला की कक्षा में सीखा था! अत्तावर के बच्चों ने विविध प्रकार के चित्र बनाकर हमें हैरान कर दिया था। वे रंगों के साथ खेलते थे और मेकअप के नाम पर अपने चेहरे पर रंग मलना उन्हें अच्छा लगता था। कभी—कभी तो वे इतने सारे रंग मिला देते थे कि वह काला रंग बन जाता।

यही नहीं उन्हें अपने चारों ओर जो कुछ भी नजर आता वे उसका चित्र बना देते। एक बालिका ने तो एक लम्बी रेखा और उसके पास एक छोटी सी बिन्दी बना दी थी। हमने समझने की कोशिश कि यह क्या चीज हो सकती है, बहुत प्रयत्न भी किया पर अन्त में हार मान ली। जब हमने उससे पूछा तो जवाब मिला कि लम्बी रेखा उसके पिता जी थे और वह छोटी सी बिन्दी 'मैं' थी! अब तक निरर्थक सा प्रतीत होने वाला चित्र अचानक ही कितना सार्थक बन गया था! हमने उस बच्ची के भीतर की भावनाओं की झलक पा ली थी।

एक बालक ने काले रंग से लीपा—पोती करके उसके ऊपर पीले रंग की रेखा खींच दी थी। हम एक बार फिर पशोपेश में पड़ गए। यह क्या हो सकता है? क्या कोई अमूर्त चीज है? हम तब तक अपना सिर खुजाते रहे जब तक उस बालक ने रहस्य को सुलझा नहीं दिया। "यह एक ऑटोरिक्शा है," उसने कहा और लो, अब हमें भी ऑटोरिक्शा नजर आने लगा! इतना ही नहीं, एक और कलात्मक पहेली हमारी प्रतीक्षा कर रही थी। एक बच्चे ने पूरे कागज पर रंगीन बिन्दु बना दिए थे और उसके अलावा वहाँ कुछ भी नहीं था। जब समझाने को कहा तो बच्चा बोला "यह भूत—आराधना है।" बच्चे ने दूर से इस त्यौहार की छोटी—छोटी बत्तियाँ मात्र देखी थीं और उसी को बड़ी सफलतापूर्वक दर्शाया था।

झोपड़–पट्टी के बच्चों के इस अनुभव की छाया में हमें लगा था कि अधिकारियों के बच्चे कुछ और दिलचस्प काम करेंगे। पर हमारी आशाओं पर पानी फिर गया। इस शहरी समूह से हमें कप–प्लेट, गुड़हल के फूलों और सममितीय डिजाइन ही मिल पाए।

नाटक की कार्यशाला भी बड़ी निराशाजनक रही। हमने उन्हें पड़ोसियों पर एक फिल्म दिखाई थी और आशा की थी कि उस पर बहस होगी। पर ऐसा कुछ नहीं हुआ और हमारा वह प्रयास भी विफल रहा। जब हमने उनसे अपनी अभिनय प्रतिभा प्रदर्शित करने के लिए कहा तो वे मंच पर आए और फिल्म शोले की पिटी–पिटाई लाइन–"कितनी गोलियाँ बाकी हैं रे साम्बा!" या किसी और फिल्म का कोई संवाद दोहराते। हम समझ नहीं पा रहे थे इस क्रियाकलाप को आगे कैसे ले जाएँ। अत्तावर के बच्चे अपने परिवेश में देखे हुए विविध दृश्यों को सामने लाते थे–दशहरे में होने वाला शेर का नृत्य, गर्मियों की भूत–आराधना, अन्तिम संस्कार (वे एक शमशान के पास रहते थे).....उनके पास विचारों की कमी नहीं थी और वे हमेशा कुछ मौलिक, कुछ नया लेकर तैयार रहते थे।

संक्षेप में कहें तो हम पनम्बूर में अपने सभी प्रयासों के बावजूद एक अच्छा नाटक प्रस्तुत नहीं कर पाए। जैसे–तैसे हमने कार्यशाला को समाप्त किया पर हम बहुत निराश थे। इस अनुभव ने हमें सोचने पर मजबूर किया। हमसे कहाँ चूक हुई थी? लेकिन घण्टों की बहस के बाद भी हमें कोई जवाब नहीं मिला। मैं इस असफलता को भूल नहीं पाया और इस बारे में मैंने विशेषज्ञों से बातचीत की। क्या इसका सम्बन्ध उनकी जीवन शैली से था? मैंने इन बच्चों के साथ बातचीत शुरू की और उनके दिन–प्रतिदिन के जीवन का ब्यौरा एकत्र किया। मैंने पाया कि अधिकारियों के बच्चों का जीवन बहुत अच्छी तरह से नियोजित था जिसमें उनके सर्वांगीण विकास के बहुत अवसर थे। लेकिन अत्तावर के बच्चों का जीवन अनियोजित था और उनके माता–पिता ने उनके विकास की कोई योजना नहीं बना रखी थी।

यहाँ दोनों समूहों के बच्चों की जीवन शैली का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है–

प्रातः काल–पनम्बूर: अधिकारियों के बच्चों को सुबह उठाया जाता है और नहाने–धोने के बाद वे अपना गृहकार्य और अध्ययन करते हैं जिसकी निगरानी माता या पिता में से कोई एक करता है। नाश्ता करने के बाद माता या पिता उन्हें कार या स्कूटर से ठीक घण्टी बजने के समय स्कूल में छोड़ते हैं।

अत्तावर: उठते ही ये बच्चे पास के बूथ से दूध लाने के लिए भागते हैं। वहाँ वे दूध लेने के लिए आए हुए अपने स्कूल/कक्षा के साथियों से मिलते हैं। वे बातें करने लगते हैं और देर से घर पहुँचने पर माता–पिता से डाँट खाते हैं। फिर वे कुछ खाकर स्कूल के लिए रवाना होते हैं। वे घर से जल्दी निकलते हैं और रास्ते में हर पल का आनन्द उठाते हुए आराम से स्कूल पहुँचते हैं। चलते–चलते वे खेलते हैं, दिलचस्प चीजें इकट्ठा करते हैं, पेड़ पर चढ़ते हैं। उन्हें पता है कि विभिन्न मौसमों और लोगों के अहातों में कौन–कौन से फल मिलते हैं! उनके लिए स्कूल तक की यह यात्रा बड़ी महत्त्वपूर्ण होती है और वे लगभग रोज ही देर से स्कूल पहुँचते हैं। बच्चे बताते हैं कि देर से आने पर उनकी खिंचाई तो होती है पर उन्हें इसकी आदत पड़ चुकी है।

मध्याह्न–पनम्बूर: अधिकारियों के बच्चों का खाना घर से आता है। नौकरानी या माँ खाना लाती हैं या पिता बच्चे को घर ले जाते हैं और खाने के बाद वापस स्कूल ले आते हैं।

अत्तावर: उनके लिए यह खेलने का समय है। बच्चों के लिए खाने का उतना महत्त्व नहीं है। जो कुछ वे खाने के लिए लाते हैं उसे जल्दी से गटककर खेलने के लिए भाग जाते हैं और जी भरकर खेलते हैं।

सायंकाल–पनम्बूर: बच्चों को घर ले जाने के लिए गाड़ियाँ तैयार रहती हैं। घर पर बच्चों से हाथ–मुँह धोकर पढ़ने के लिए कहा जाता है। कुछ नियमित रूप से गणित या विज्ञान की ट्यूशन क्लास में जाते हैं। घर लौटकर वे नहाते हैं और गृहकार्य करने लगते हैं।

अत्तावर: यह खेलने का समय है। माताएँ दुकान पर जाने, पानी, लकड़ी या मिट्टी का तेल लाने के लिए बच्चों की मदद लेती हैं। रात के खाने के पहले अधिकांश बच्चे पढ़ाई और अपना गृहकार्य पूरा करते हैं।

सप्ताह के अन्त में—पनम्बूर: अधिकारियों के अधिकांश बच्चे किसी न किसी पाठ्येतर गतिविधि में व्यस्त रहते हैं जैसे गाना या नृत्य। इन बच्चों को अपने माता–पिता का दोस्तों या रिश्तेदारों के घर जाना पसन्द नहीं है क्योंकि वहाँ उनके लिए कोई गतिविधि नहीं होती।

अत्तावर: कुछ अपवादों को छोड़कर इनका सप्ताहान्त पूरी तरह से स्वतंत्र होता है। अत्तावर वाले बच्चे जब अपने माता–पिता के साथ अपने रिश्तेदारों से मिलने जाते हैं तो बाहर जाकर खेलते हैं।

इन दोनों समूहों के बच्चों को बारीकी से देखने पर पता चलता है कि दोनों की जीवन शैली में बहुत अन्तर है। बच्चों के साथ हुई चर्चा से यह स्पष्ट हो गया कि अत्तावर वाले बच्चे कहीं ज्यादा खुश थे। अधिकारियों के बच्चों को लगता था कि उनके माता–पिता लगातार उनकी चौकसी करते रहते थे। मैंने इस तथ्य को समझने की कोशिश की। धीरे–धीरे मुझे उनकी स्वतंत्रता और नियंत्रण की धारणा समझ में आई। अधिकारियों के बच्चों को लगता था कि उनका पूरा जीवन उनके माता–पिता के द्वारा निर्मित और नियंत्रित किया जा रहा था। अत्तावर वाले बच्चों ने स्वतंत्रता का अनुभव किया था और उनके पास उनका अपना स्थान था।

'स्थान का न होना' या 'अपना स्वयं का स्थान'—क्या इसका बच्चे की रचनात्मकता से कुछ लेना देना है? ऐसा कैसे हो सकता है कि जो बच्चे अर्ध–झोपड़पट्टी वाले इलाके के थे और जिनकी अपनी अन्य सीमाएँ थीं; वे किसी भी स्थिति में इतनी सक्रियता से भाग लेते थे और बड़ी रचनात्मकता के साथ उनसे जुड़ जाते थे? क्या बच्चों को अपनी ही एक ऐसी दुनिया की आवश्यकता होती है जहाँ वे स्वतंत्र रूप से जो कुछ करना चाहते हैं उसे कर सकें? ऐसा क्यों है कि अधिकारियों ने अपने बच्चों को विकास करने के इतने सारे अवसर दिए लेकिन फिर भी वांछित परिणाम नहीं मिल रहे? इतने प्रेम और ध्यान से दिए गए अवसरों से बच्चे खीज क्यों उठते हैं? क्या 'माता–पिता द्वारा नियोजित' किए जाने के कारण ही बच्चों का इन अवसरों को देखने का दृष्टिकोण सीमित हो जाता है? क्या बच्चे की रचनात्मकता के लिए 'स्वयं का स्थान' इतना महत्त्वपूर्ण है?

मैंने लम्बे समय तक इन सवालों के बारे में सोचा है और इनसे मुझे बाल–केन्द्रित के मतलब को समझने की अन्तर्दृष्टि मिली है। बाल–स्नेही होना क्या होता है, इस बारे में भी दिशा निर्देश मिले हैं। अब इस बात के पर्याप्त सबूत हैं कि बच्चा तब सबसे अच्छी तरह सीखता है जब वह अपने आप सीखता है, खोज करता है, प्रयोग करता है व इन अनुभवों से अपने ज्ञान का निर्माण खुद करता है और फिर इन सबसे अधिगम होता है। लेकिन जो वयस्क बच्चे के साथ रहना चाहता है, उसके लिए यही सबसे कठिन काम है। आपको बच्चे के साथ इस प्रकार से रहना पड़ता है मानो आप वहाँ नहीं हैं। आपको बच्चे के अधिगम के लिए कुछ डिजाइन तो करना है पर बच्चे को यह नहीं लगना चाहिए कि वह 'आपका डिजाइन' है और इस मुद्दे की जड़ यह है कि आप बच्चे के साथ ढोंग नहीं कर सकते! यहाँ लाख रुपए का सवाल यह है कि क्या हम अपने बच्चों को उनका स्वयं का स्थान देना चाहते हैं? इस न्यूनतम आवश्यकता को उपलब्ध कराए बिना हम यह अपेक्षा भी कैसे कर सकते हैं कि वे रचनात्मक और मौलिक बन पाएँगे, अपने असली रूप में रह पाएँगे?

उमाशंकर *पेरिओडी पूर्वोत्तर कर्नाटक में अज़ीम प्रेमजी संस्थान का नेतृत्व कर रहे हैं। विकास के क्षेत्र में उन्हें पच्चीस साल का अनुभव है। उन्होंने फील्ड के कार्यकर्ताओं एवं प्राथमिक स्कूल के शिक्षकों को अनुसन्धान करने के लिए मूल स्तर पर प्रशिक्षण दिया है जिसे वे नंगे पाँव अनुसन्धान कहकर बुलाते हैं। वे कर्नाटक राज्य प्रशिक्षक संस्था के संस्थापक सदस्य भी हैं। उनसे periodi@azimpremjifoundation.org पर सम्पर्क किया जा सकता है।* ***अनुवादः*** *नलिनी रावल*

24 रचनात्मक कार्यशालाएँ

Ckky vudy LFkkuk dk fuek.k

रुद्रेश

यादगिर जिले के सुरपुर तालुक के तीर्थ नामक एक दूरदराज गाँव की प्राथमिक शाला के कक्षा चार और पाँच के छह बच्चे एक अस्थायी मंच पर उपस्थित थे। उनकी आयु 10 से 12 वर्ष के बीच थी। वे 'ग्राम पंचायत' पर पाँच मिनट का एक रोल–प्ले कर रहे थे। इस गम्भीर विषय को तैयार करने के लिए उन्हें केवल 15 मिनट का समय दिया गया था।

जब रोल–प्ले समाप्त हुआ तब वहाँ उपस्थित 40 महत्त्वपूर्ण दर्शकों ने बड़े जोरदार तरीके से उनकी प्रशंसा की। बालकों ने अपनी भूमिका अच्छी तरह से निभाई थी, हालाँकि यह विषय उनके लिए जरा गहन और गम्भीर था। विषय, स्वरूप और संवाद बहुत अच्छे थे। बच्चों ने पेयजल और बुनियादी स्वच्छता जैसे स्थानीय व ज्वलन्त मुद्दों पर जोर दिया था। इसे पूरी गम्भीरता के साथ प्रस्तुत किया गया था। बच्चों का अभिनय आत्मविश्वास से भरा हुआ था। केवल पाँच मिनट में उन्होंने यह बात एकदम स्पष्ट कर दी कि ग्राम पंचायत अपने कर्तव्यों को निभाने में विफल रही है। यह रोल–प्ले रचनात्मक कार्यशाला का एक हिस्सा था।

ऐसी ही एक रचनात्मक कार्यशाला तिम्मापुर गाँव में अनियमित रूप से स्कूल जाने वाले बच्चों के लिए चलाई जा रही थी। एक बच्चा इस कार्यशाला में नहीं आया था, लेकिन वह अकसर छुप–छुपकर अन्य बच्चों को चित्र बनाते, रंग भरते, गाते और नाचते देखा करता था। अगले दिन वह भीतर आया, इलियास नामक समन्वयक को अपना परिचय दिया और कार्यशाला में भाग लेने की इच्छा जताई। इस बच्चे का नाम दाऊद था और वह छठी कक्षा में पढ़ता था। उसे अन्दर बुला लिया गया और वह दो दिनों तक बड़ी सक्रियता से कार्यशाला में भाग लेता रहा। इस घटना से उसमें बदलाव आया और वह नियमित रूप से स्कूल आने लगा।

बाल अनुकूल स्कूल पहल (सी.एस.एफ.आई.)[1], सुरपुर द्वारा 2008 से आयोजित की जाने वाली इन रचनात्मक कार्यशालाओं से ऐसे ही कई सकारात्मक परिणाम सामने आए हैं। इन कार्यशालाओं को संचालित करने के पीछे यह विचार था कि सी.एस.एफ.आई. टीम को बच्चों के साथ सार्थक गतिविधि में संलग्न किया जाए ताकि वे यह समझ सकें कि बच्चे कैसे सीखते हैं, कैसे व्यवहार करते हैं आदि। पर इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि मार्गदर्शी (सी.एस.एफ.आई. टीम सदस्य) यह समझ सकें और सीख सकें कि उन्हें बच्चों के साथ कैसे व्यवहार करना चाहिए। एक उद्देश्य यह भी था कि स्कूल में सहज और निडर वातावरण बनाने का अनुभव प्राप्त किया जाए और बच्चों की रचनात्मकता और आत्म–अधिगम के लिए जगह बनाई जाए।

इन कार्यशालाओं ने हमें इस बात का विश्वास दिलाया कि हम बच्चों के मन में सजा का भय या आतंक पैदा किए बिना भी उनके साथ काम कर सकते हैं और इस प्रकार का वातावरण बहुत उत्पादक और सुखद होता है। इससे यह बात भी गलत साबित हुई कि बच्चों की पिटाई न करने से वे बिगड़ जाते हैं।

जैसा कि पहले बताया गया है हमारी कार्यशालाओं में इस बात पर जोर दिया जाता है कि बच्चों के लिए स्वतंत्रता का माहौल बनाया जाए और उनमें चीजों को बर्बाद न करने एवं दूसरों को चोट न पहुँचाने की जागरूकता पैदा की जाए। हमारी कार्यशाला पेन्टिंग से शुरू होती है। इसमें पहली बात है रंगों से खेलना। हम बच्चों से कहते हैं कि वे अकेले और समूह में रंगों के साथ खेलें। इस गतिविधि से वे कई चीजें सीखते हैं जैसे रंगों का मिश्रण करना, इस मिश्रण से कौन–से नए रंग बनते हैं, एक ही रंग से हल्के और गहरे रंग कैसे बनते हैं आदि। इस गतिविधि के अन्त

में वे शुभकामनाओं और बधाई के कार्ड बनाकर बड़े गर्व के साथ उन्हें घर ले जाते हैं। बच्चे अपने चेहरे पर मेकअप का आनन्द भी लेते हैं।

गायन सत्र में वे पहले अपनी पाठ्यपुस्तक के गीत गाते हैं और बाद में स्कूल के गाने। फिर वे उन गानों को गाते हैं जो उन्हें आते हैं। अन्त में वे स्वयं गीत रचकर गाते हैं। नृत्य के सत्र ऊर्जा से भरपूर होते हैं। पेन्टिंग, गायन और नृत्य के बाद कहानियों की बारी आती है। कहानी सुनाने और कहानी लिखने की गतिविधि उन्हें सोचना सिखाती है। इस बिन्दु पर आकर हम मुखौटे बनाना सिखाते हैं और तत्पश्चात नाटक की ओर बढ़ते हैं। हमारे पास किसी चरित्र को प्रस्तुत करने, उसे बनाने और उसकी स्थिति को बदलने के लिए विभिन्न थियेटर खेल हैं। इन खेलों को बच्चे बहुत पसन्द करते हैं। उन्हें तात्कालिक उपाय करना भी अच्छा लगता है। हम किसी अन्तिम उत्पाद की योजना नहीं बनाते। लेकिन कार्यशाला के अन्तिम दिन समापन सत्र के दौरान कार्यशाला में जो कुछ भी बनाया या सीखा है उसे प्रदर्शित करते हैं।

इन कार्यशालाओं से हमारा अनुभव समृद्ध हुआ। कला के प्रकारों ने हमें बच्चों को आनन्दपूर्वक काम में लगाए रखने में मदद दी। हमारे पास नौ से बारह वर्ष की आयु के छात्रों का असमान समूह था—कुछ बुद्धिमान थे, कुछ औसत थे और उन पर धीमी गति से सीखने वाले बच्चे का ठप्पा लगा हुआ था। कुछ अनियमित थे तो कुछ स्कूल छोड़कर जा चुके थे। शुरू में तो उन्हें कार्यशाला में लाने और गतिविधियों में शामिल करने में मुश्किल होती थी। लेकिन बाद में उनकी संख्या बढ़ जाती और तीसरे दिन तक हमारे पास 40 से अधिक बच्चे हो जाते।

एक कार्यशाला में, एक छात्र शेर का मुखौटा पहनकर चिल्ला रहा था, "मैं जंगल का राजा हूँ, सबको मेरी बात माननी होगी।" इस बालक की ओर इशारा करते हुए श्री तायप्पा नामक एक शिक्षक ने कहा,"जो विद्यार्थी कक्षा में एक शब्द भी नहीं बोलते थे, उन्होंने यहाँ बहुत आत्मविश्वास और गर्व के साथ प्रदर्शन किया है। तीसरे दिन के अन्त में वे पैने संवादों के साथ कठपुतलियों का संचालन बड़ी कुशलता से कर रहे हैं।" शर्मीले बच्चे या तो मुखौटे पहनकर नाच रहे थे और या कठपुतलियाँ नचा रहे थे ताकि उन्हें दर्शकों का सीधे—सीधे सामना न करना पड़े। इस शर्मीले समूह ने अपने संकोची आवरण से बाहर आकर उत्कृष्ट प्रदर्शन किया था। लेकिन कुछ कठपुतली प्रदर्शन के बाद पुन: अपने शर्मीलेपन में लौट गए।

हमने यह बात सुनिश्चित की कि सभी विद्यार्थी इसमें भाग लें और उनके लिए बहुत सारी सामग्री तैयार रखी ताकि वे उनका उपयोग बिना किसी रोक—टोक कर सकें। उनके साथ प्यार और स्नेहपूर्वक व्यवहार किया गया और उन्हें चोट पहुँचाना या डाँटना मना था। यह बात मार्गदर्शियों[2] और शिक्षकों दोनों पर लागू होती थी। हमने साथियों के साथ की जाने वाली समूह गतिविधियों और एक दूसरे की मदद करने की भावना को प्रोत्साहन दिया। बिना पूर्व तैयारी के स्थानीय विषयों पर रोल प्ले तैयार करके दर्शकों के सामने प्रस्तुत किए गए। इस प्रकिया के दौरान हमारे मार्गदर्शी विभिन्न रूपों में भाषा का उपयोग कर बच्चों के शब्द भण्डार को विकसित करते और उनमें समस्या को सुलझाने का कौशल विकसित करते। वे उनके शैक्षिक और सामाजिक कौशलों को मजबूत करते।

नाटक, रोल प्ले, कहानी निर्माण, कहानी सुनाना और कठपुतली कला जैसे कला रूपों से बच्चों में सोचने, निष्कर्ष निकालने, समझने, अभिव्यक्त करने, तार्किक निष्कर्ष निकालने तथा तत्काल अभिनय करने जैसे कौशलों का निर्माण करने में सहायता मिलती है। चित्रकला, कठपुतली कला, मुखौटा निर्माण, मिट्टी का काम आदि से कल्पना, सौन्दर्यबोध, संरचना, बुनावट और आकार व रंगों की तुलना की भावना का निर्माण होने के साथ—साथ मनो—संचालन (साइकोमोटर) कौशल भी विकसित होते हैं। समूह में काम करने के कारण बच्चों में मानवीय सम्बन्ध के निर्माण का कौशल निर्मित होता है क्योंकि वे समूह में एक दूसरे की शक्तियों और सीमाओं को समझकर मदद लेते हैं। इसके अलावा अपने साथियों से सीखना, समूह भावना, टीम में काम करना, सहयोग करना, दूसरों की भावनाओं को

समझना, संवेदनशील होना, संप्रेषणीयता आदि ऐसी चीजें हैं जो न केवल विद्यार्थियों के विद्यालयीन वर्षों में बल्कि पूरे जीवन में आवश्यक होती हैं। अन्ततः इससे भाषा का विकास करने, विचारों और कौशलों का पता लगाने तथा अपने और दूसरों को समझने में मदद मिलती है।

इन बाल अनुकूल कार्यशालाओं में बच्चों को असफल होने का भय बिलकुल नहीं होता। यह बात सीमाओं को तोड़ने में मदद करती है तथा जो कुछ वे चाहते हैं उसे करने की स्वतंत्रता उनकी रचनात्मकता और मौलिकता को बढ़ाने में सहायक होती है। मैं एक उदाहरण देना चाहूँगा। यालगी नामक गाँव की कार्यशाला में प्रतिभागियों के सामने कठपुतली को तैयार करने की विधि के प्रदर्शन के बाद उनसे व्यक्तिगत रूप से कठपुतली बनाने को कहा गया। कई बच्चों ने सफेद धागे या रद्दी कागज पर काला रंग लगाकर कठपुतली के बाल बनाए। पर कक्षा पाँच की छात्रा रेशमा ने अपने ही बाल काटकर कठपुतली के सिर पर चिपका दिए। उसका रूमाल स्कर्ट के रूप इस्तेमाल किया गया था! ऐसा न तो कहा गया था और न ही अपेक्षित था—यह उसके काम के साथ जुड़ने की हद थी। कई बच्चों ने कठपुतलियों के लिए दिलचस्प टोपियाँ और मुखौटे भी बनाए थे।

हमने सीखा है...

सुरपुर में तीन वर्षों से बच्चों के लिए रचनात्मक कार्यशालाओं का आयोजन करने के अनुभव से हमने यह सीखा है कि –

- बच्चों की सक्रिय भागीदारी सुनिश्चित करने के लिए गतिविधियों का डिजाइन बच्चों की रुचि और गति पर आधारित होना चाहिए।
- कला के विभिन्न रूप उन बच्चों को भी काम में लगाए रखने में सहायक होते हैं जो बच्चे पढ़ाई में रुचि नहीं लेते।
- बच्चों की रुचि की अवधि बहुत कम होती है, उनकी रुचियाँ विविध होती हैं, अतः गतिविधियों में विविधता होनी चहिए।
- स्वतंत्र वातावरण में रचनात्मकता प्रफुल्लित होती है।
- बच्चे जो पारम्परिक चीजें बनाते हैं, उन्हें कुछ अलग चीजें बनाने की प्रेरणा देने का कौशल सुगमकर्ताओं में होना चाहिए।
- शिक्षकों को इसमें शामिल करना जरूरी है क्योंकि वे ही इसे आगे ले जाएँगे।
- कला के विविध रूप बच्चों को अभिव्यक्ति, खोज और प्रयोग के पर्याप्त अवसर देते हैं।

स्कूलों में जो कार्यक्रम होते हैं, उनमें कला के इन रूपों को मनोरंजन का साधन माना जाता है। हमारा प्रयास है कि इन कार्यशालाओं में शिक्षकों को शामिल किया जाए और उन्हें इस बात के लिए प्रेरित किया जाए कि वे कला के इन रूपों का उपयोग रचनात्मक तरीके से अपनी कक्षा की प्रक्रियाओं में करें। वैसे हम यह जानते हैं कि ऐसा करना एक बहुत बड़ी चुनौती है।

इन रचनात्मक कार्यशालाओं ने बाल अनुकूल वातावरण का निर्माण करने में हमारा आत्मविश्वास बढ़ाया है और हम यह बात शिक्षकों तक पहुँचा पाए हैं। हमने पाया है कि जब शिक्षक कुछ देखते हैं और उसका अनुभव करते हैं तब वे उसमें विश्वास करते हैं!

कठोर प्रशिक्षण

बच्चे रचनात्मक कार्यशाला का आनन्द लेते हैं लेकिन उसका आयोजन हमारे लिए एक चुनौती भरा अनुभव था। पहले तो हमें कार्यशाला का संचालन करने के लिए अपनी क्षमता का निर्माण करना था और उसके बाद उसे बच्चों तक ले जाना था। हमें दोहरी भूमिका निभानी थी—एक तो सुगमकर्ता की और दूसरी एक शोधकर्ता की—क्योंकि हमें कार्यशाला का आयोजन करना था और साथ ही बच्चों के व्यवहार का अवलोकन करना था और समूह की भावना को भी समझना था।

हमने एक चरणबद्ध प्रशिक्षण मॉड्यूल की योजना बनाई जिसमें हमारे मार्गदर्शियों के लिए पर्याप्त सहायता का प्रावधान था। पहले इस विषय के एक विशेषज्ञ ने

मार्गदर्शियों के लिए एक रचनात्मक कार्यशाला संचालित की और इस कार्यशाला के आधार पर आठ मार्गदर्शियों के एक समूह ने बच्चों के लिए कार्यशाला संचालित की। इससे हमें प्रत्यक्ष ज्ञान मिला और बच्चों के साथ काम करने की समझ भी बनी। कुछ गतिविधियाँ सफल रहीं तो कुछ नहीं। हमने अपनी कार्यशाला की समीक्षा की एवं और अधिक जानकारी व अपने अनुभव के साथ एक बार फिर से योजना बनाई। इस चरण में मार्गदर्शियों के जोड़े बनाए गए और हर जोड़े ने बच्चों के लिए कार्यशाला संचालित की। फिर हर मार्गदर्शी ने एक कार्यशाला संचालित की। अब तक हमारे मार्गदर्शी कार्यशाला संचालित करने के लिए पर्याप्त आत्मविश्वास प्राप्त कर चुके थे। अब उन्होंने धीरे–धीरे शिक्षकों को इसमें शामिल करना शुरू किया, जिन्होंने अन्तिम चरण में कार्यशाला की समीक्षा करने में मदद की। अब तक सुरपुर तालुक के विभिन्न स्कूलों में 250 कार्यशालाएँ आयोजित की जा चुकी हैं। अब हमारी टीम बच्चों की आवश्यकताओं और स्थानीय सन्दर्भ के आधार पर कार्यशालाओं को डिजाइन करने में सक्षम है।

lUnHk %

1. बालमित्र स्कूल पहल: बाल अनुकूल स्कूल पहल अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन और कर्नाटक सरकार की संयुक्त पहल है। यह क्षमता और जवाबदेही के निर्माण से, सभी हितधारकों के साथ साझेदारी में, सभी बच्चों के लिए, बाल अनुकूल तरीके से, अनवरत रूप से, गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्रदान करने की प्रक्रिया को दर्शाने का एक प्रयोग है। इस पहल में उत्तर–पूर्व कर्नाटक के यादगिर जिले में सुरपुर विकासखण्ड के सभी सरकारी प्राथमिक विद्यालय शामिल किए गए हैं।
2. मार्गदर्शी : मार्गदर्शी अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन में कार्यरत हैं जो विद्यालयों के साथ मिलकर काम करते हैं और कक्षा की प्रक्रियाओं में शिक्षक की सहायता करते हैं। प्रत्येक मार्गदर्शी 12 विद्यालयों को सहयोग करता है।

रुद्रेश *सुरपुर, कर्नाटक में बाल अनुकूल स्कूल पहल (CFSI)का नेतृत्व करते हैं। उन्होंने गुलबर्गा विश्वविद्यालय से सामाजिक कार्य में स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त की है और पिछले नौ वर्षों से अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन में कार्यरत हैं। उन्होंने CFSI की गतिविधियों की अवधारणा के निर्माण और उन्हें लागू करने के साथ–साथ सरकार और समुदाय के सम्बन्धों का प्रबन्धन भी किया है। उनसे rudresh@azimpremjifoundation.org पर सम्पर्क किया जा सकता है।*
अनुवादः *नलिनी रावल*

मंच पर सीखना

cPpk d: fy, fFk;Vj dk;'kkyk

–अभिषेक गोस्वामी

थियेटर कार्यशाला बच्चों को एक ऐसा मंच प्रदान करती है जहाँ बच्चे अपने नियंत्रित शैक्षिक ढाँचे से बाहर आकर अपने समग्र विकास के लिए विभिन्न क्षमताओं की खोज करते हैं।

कई लोग मानते हैं कि बच्चों को मुक्त एवं स्वतं त्र विचारक के रूप में विकसित करने के लिए स्कूल सही माहौल मुहैया नहीं करा रहे हैं। इसके विपरीत वे प्रतिस्पर्धा तथा सामाजिक विभाजन को प्रोत्साहित करते हैं और बच्चों को इस बात का विश्वास दिलाते हैं कि किसी की सफलता का अर्थ है दूसरे की विफलता। इसके कारण बच्चों में मौजूद स्वाभाविकता और सहजता मर जाती है और एक नियंत्रित सा दिमाग विकसित होने लगता है।

इस नियंत्रित प्रणाली से दूर हटने के लिए कई लोगों ने स्कूली शिक्षा में ऐसे अभिनव तरीकों का उपयोग करने की कोशिश की है जो बच्चों में सामाजिक एकीकरण लाने में योगदान दे सकें जो उनके स्वाभाविक विकास के लिए जरूरी है।

स्वयं की खोज के लिए थियेटर कार्यशाला एक ऐसा ही अभिनव तरीका है जो बच्चों को एक ऐसा मंच प्रदान करता है जहाँ बच्चे अपने नियंत्रित शैक्षिक ढाँचे से बाहर आकर अपने समग्र विकास के लिए विभिन्न क्षमताओं की खोज करते हैं।

जीवन की खोज करने एवं अपने तथा आसपास के वातावरण के बीच के सम्बन्ध का पता लगाने के लिए नाटक एक सफल माध्यम है। यह प्रक्रिया सामाजिक विभाजन और विषयों से परे जाकर बच्चों और उनके विकास की जरूरतों पर ध्यान केन्द्रित करती है।

थियेटर प्रक्रिया का समग्र लक्ष्य है विभिन्न पृष्ठभूमियों के बच्चों में सकारात्मक आत्म–अवधारणा को बढ़ावा देना। इसके लिए उन्हें अभिनय–कौशल प्राप्त करके विभिन्न भूमिकाएँ निभाने के माध्यम से जीवन की खोज करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। एक कल्पनाशील खोज में ये बातें शामिल होती हैं–एक नाटकीय स्थिति पैदा करना, उसका अभिनय करना, उसके भीतर संवाद करना और उसके परिणाम के बारे में सोचना। ये 'अभिनय करने' के द्वारा होने वाले अनुभव को रूप और अर्थ देकर व्यक्ति की इस बात में मदद करते हैं कि वह भावनात्मक, शारीरिक, कल्पनाशीलता, सौन्दर्यपरकता एवं सामाजिक रूप से विकसित हो सके।

इससे सकारात्मक समूह–अन्त:क्रिया को भी बढ़ावा मिलता है क्योंकि साझे लक्ष्य को पाने के क्रम में बच्चे एक–दूसरे के साथ समायोजन करना सीखते हैं। इस प्रकार यह पूरी प्रक्रिया न केवल आत्म–विकास का मार्ग प्रशस्त करती है वरन समूह के विकास के लिए सामाजीकरण की प्रक्रिया को भी आगे ले जाती है।

इसके अलावा नाटक और थियेटर में विकास करने का अर्थ है बच्चों का स्वाभाविक विकास होना और यह विकास एक ऐसे वातावरण में होता है जो गैर प्रतिस्पर्धात्मक, सहकारी, सहायक, हर्षपूर्ण लेकिन फिर भी चुनौतीपूर्ण होता है।

इससे बच्चे जीवन की चुनौतियों का सामना एक मानवीय और रचनात्मक तरीके से करना सीखते हैं जिससे उनका जीवन समृद्ध होता है।

अज़ीम प्रेमजी संस्थान, जयपुर ने 9 से 15 वर्ष के बच्चों के लिए मई–जून 2012 में 24 दिवसीय थियेटर और नाटक कार्यशाला का आयोजन किया।

इस कार्यशाला का उद्देश्य था समाज के विभिन्न सामाजिक–आर्थिक पृष्ठभूमि से आने वाले बच्चों में नाटक, थियेटर की गतिविधियों एवं सम्बद्ध कलाओं के माध्यम से सकारात्मक सामाजिक सम्बन्ध एवं समन्वय बढ़ाना।

कार्यशाला के पूरे कार्यकाल के दौरान बच्चों को अपने, अपने परिवार, अपनी शिक्षा प्रणाली और उस समाज के प्रति संवेदनशील बनाना था जिसमें वे रहते हैं।

17 जून 2012 को कार्यशाला का समापन बहुत अनौपचारिक तरीके से हुआ। कार्यशाला में भाग लेने वाले बच्चों के माता–पिता ने चार लघु नाटक देखे जिन्हें बच्चों ने ही विकसित किया, उन्होंने खुद ही रिहर्सल की और उसमें अभिनय भी किया। इन नाटकों के मुख्य विषय के रूप में बच्चों ने चार अलग–अलग लोक कथाएँ चुनीं। कार्यशाला के अन्तिम दिन एक प्रदर्शनी भी लगाई गई जिसमें बच्चों द्वारा लिखे हुए खोजपूर्ण लेख एवं कार्यशाला के दौरान बनाए गए चित्र रखे गए। इस प्रक्रिया–उन्मुख नाटक एवं थियेटर कार्यशाला में भाग लेने वाले बच्चों को जो कुछ प्राप्त हुआ उसे नीचे चित्रों के एक सेट तथा कार्यशाला के सार संक्षेप के रूप में प्रस्तुत किया गया है–

- सकारात्मक एवं यथार्थवादी आत्म–छवि
- आत्म–अनुशासन एवं आत्मविश्वास
- ध्यान केन्द्रित करने की योग्यता

- शारीरिक एवं वाचिक योग्यता का विस्तार
- समस्याओं को सुलझाने के रचनात्मक एवं कल्पनाशील तरीके
- भावनाओं को व्यक्त एवं नियंत्रित करने की क्षमता
- लोगों, परिस्थितियों एवं वातावरण का प्रखर अवलोकन
- संवेदी जानकारी को याद करके उपयोग में लाने की क्षमता
- सुविचारित निर्णय लेने, उनके अनुसार काम करने एवं परिणामों को स्वीकार करने की क्षमता
- व्यक्तिगत रूप से तथा समूह के प्रति जिम्मेदारी एवं प्रतिबद्धता की भावना
- किसी काम का बेहतर तरीके से आरम्भ करना, उसे व्यवस्थित करना और फिर प्रस्तुत करना
- जाँच–पड़ताल की भावना का विकास एवं सीखने की प्रतिबद्धता
- समूह–प्रक्रिया में प्रभावी एवं रचनात्मक ढंग से योगदान देने की क्षमता
- दूसरों को समझने, उन्हें स्वीकार करने एवं उनके प्रति समानुभूति की भावना का विस्तार
- दूसरों का सम्मान करना–उनकी भावनाओं, विचारों, क्षमताओं एवं मतभेदों का आदर करना
- रचनात्मक समालोचना करना, उसे स्वीकार करना एवं उस पर चिन्तन करना

बच्चों के द्वारा खेल के माध्यम से एक न्यायसंगत, निष्पक्ष, संवेदनशील और सतत मानवीय समाज के अभिनय की रिहर्सल

1 2 **थियेटर अभ्यास**

3 4 **बेहतरी के लिए तात्कालिक उपाय**

6 **विचारों को साझा करना**

7 8 **ड्रॉइंग व पेन्टिंग**

9 10 **ग्रीष्मकालीन कार्यशाला में माता–पिता की भागीदारी एवं नाटक प्रक्रिया पर बच्चों व माता–पिता का संयुक्त चिन्तन**

अभिषेक गोस्वामी *अज़ीम प्रेमजी संस्थान, जयपुर के शिक्षा में थियेटर तथा नाटक विभाग में एक संसाधक के रूप में कार्यरत हैं। उन्होंने नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा में संकाय के सदस्य के रूप में काम किया है। उन्होंने विविध पृष्ठभूमि वाले बच्चों और शिक्षक समूहों के साथ शिक्षा–अभ्यासों में थियेटर और नाटक विषय पर एक अभिनेता, डिजाइनर, निर्देशक और सुगमकर्ता के रूप में भारत, चीन और सल्तनत ऑफ ओमान में विभिन्न रूपों में अपनी रचनात्मक क्षमताओं की सेवा प्रदान की है। उनसे abhishek.goswami@azimpremjifoundation.org पर सम्पर्क किया जा सकता है।* ***अनुवाद:*** *नलिनी रावल*

25 खेलना मिट्टी के संग

सुमन्त सम्पत

कला के सभी रूपों का अनुभव करना बच्चे के लिए महत्त्वपूर्ण है, फिर भी मिट्टी की बनी हुई एक पूर्ण वस्तु/कलाकृति बच्चे के लिए एक विशेष महत्त्व रखती है।

वैसे तो भारत भर के कई स्कूलों ने कला के पाठ्यक्रम को अपनाया है। लेकिन कला को पाठ्येतर विषयों के दायरे में रखा जाता है और इस बात की या तो बहुत कम समझ होती है या बिलकुल समझ नहीं होती कि कला बच्चे के समग्र विकास को कैसे प्रभावित करती है। शिक्षा को पूर्णतावादी होना चाहिए और कला बच्चों की समग्र संवृद्धि और विकास के लक्ष्य को पाने का एक अभिन्न हिस्सा है।

एक कलाकार और सिरामिक शिक्षक के होने के नाते मैं यह कह सकता हूँ कि जिस तरह से मिट्टी की कला बच्चों में विकास और कौशल को बढ़ाती है वैसा कला के कुछ ही माध्यम कर पाते हैं। मैंने अपने मिट्टी के बर्तन बनाने वाले स्टूडियो में कई सालों तक बच्चों को यह काम सिखाया है और यह देखा है कि संवेदी विकास, गत्यात्मक कौशल, आत्म–सम्मान और आत्म–अभिव्यक्ति, समस्या को सुलझाने के कौशल तथा अनुशासन और गर्व की भावना के लिए मिट्टी के साथ काम करने का अनुभव कितना अमूल्य है।

जब बच्चे कुम्हार के चाक पर पहली बार काम करने बैठते हैं और अपने गीले हाथ धीमे–धीमे घूमती हुई मिट्टी पर रखते हैं, तब उनके चेहरे पर जो खुशी दमकती है, उसे देखना मेरे लिए एक सर्वश्रेष्ठ पल होता है। जब वे मिट्टी की बनावट और स्पर्श का अनुभव करते हैं तब वे अपने अनुभव को बेझिझक उत्साह के साथ इस प्रकार व्यक्त करते हैं, “यह ठण्डा है, यह गीला और लुगदी जैसा है, और यह कितना भारी है!” मिट्टी चाहती है कि उसे कोंचा जाए, मसला जाए,तोड़ा–मरोड़ा जाए, रगड़कर गोल किया जाए और जब बच्चे इसके साथ काम करते हैं तो इस प्रकार के सूक्ष्म और महत्त्वपूर्ण संचालन कौशल विकसित होते हैं। जब मिट्टी उनके संचालन की प्रतिक्रिया स्वरूप नए रूप लेती है तब उन्हें यह एहसास होता है कि मिट्टी पर उनका प्रभाव पड़ता है। बच्चे अपनी आँखों से मिट्टी की सतह और रंग का निरीक्षण करते हैं, उसे सूँघते हैं। जब गीली मिट्टी में से तरह–तरह की आवाजें आती हैं तो वे बहुत खुश हो जाते हैं। कई बच्चों के लिए तो शायद यह पहला मौका होता है जब उन्हें कक्षा में गीले या गन्दे होने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है और इस आजादी के लिए वे एक सहज और प्रेरक प्रतिक्रिया दिखाते हैं। उनकी बनाई हुई वस्तु जब बनकर तैयार हो जाती है और वे उसे घर ले जाने वाले होते हैं तब वे बड़े प्यार से उसे गोद में लेकर घूमते हैं, आग में तपी हुई सतह पर उँगलियाँ फिराते हैं और बार–बार उसे उलट–पलटकर उसका निरीक्षण करते रहते हैं।

मिट्टी कला का अनूठा माध्यम है क्योंकि यह स्पर्श के लिए अति संवेदनशील है। जैसे ही बच्चों को मिट्टी दी जाती है, वैसे ही वे उसे ढालना और आकार देना शुरू कर देते हैं। क्योंकि जैसे ही वे अपनी उँगलियाँ चलाना शुरू करते हैं वैसे ही मिट्टी प्रतिक्रिया दिखाने लगती है। जब उनके भीतर यह भावना जागती है कि मिट्टी की कमान अब उन्होंने सम्भाल ली है, तो उन्हें किसी भी प्रोजेक्ट को आत्मविश्वास के साथ करने की प्रेरणा मिलती है जिससे उनकी आत्माभिव्यक्ति और कल्पना और अधिक बढ़ती है। मिट्टी बच्चों को इस बात की अनुमति भी देती है कि वे गलतियों को ठीक करना सीखें और चूँकि गलतियाँ सुधारी जा सकती हैं इसलिए उन्हें गलतियाँ करने से डरना नहीं चाहिए। आत्म सुधार के लिए गलतियाँ करना जरूरी है पर कुछ बच्चों के लिए यह बात कठिन हो सकती है और बाधा भी बन सकती है। मिट्टी की प्रकृति की वजह से बच्चे में अपनी गलतियों को तत्परता से ठीक करने की क्षमता विकसित होती है। उदाहरण के लिए एक कक्षा में एक बच्चा अपने प्रोजेक्ट यानी एक टूथब्रश होल्डर पर दो घण्टे से काम कर रहा था जो बॉल प्लेयर जैसा दिख रहा था। सजावट करते समय अचानक उसने उसके एक तरफ छेद कर दिया। वह स्तब्ध रह गया। जब मैंने उसे बताया कि वह थोड़ी सी मिट्टी लेकर उस छेद में भर दे तब उसने अचानक मेरे हाथ से मिट्टी ले ली और कहा, "ये तो मैं खुद ही कर सकता हूँ!" उसने उसे ठीक कर लिया और बड़े जोश से उसे सजाने में जुट गया।

मिट्टी कला के अन्य माध्यमों से अलग है, इसमें त्रिआयामी दुनिया को समझने की आवश्यकता है। हम अपने कार्यक्रमों में अक्सर बच्चों को ऊँचे चाक पर काम करने को प्रोत्साहित करते हैं या उनसे कहते हैं कि वे अपनी सीट से उठकर चाक की दूसरी तरफ जाएँ ताकि वे अपने बनाई हुई चीज को हर तरफ से देख सकें। वे आकार, रूप और परिप्रेक्ष्य को समझना शुरू कर देते हैं और इससे उन्हें ज्यामिति में एक अन्तर्दृष्टि मिलती है। बच्चे अपने चारों ओर की दुनिया को वास्तव में जानने और देखने लगते हैं और उस दुनिया में अपनी जगह तलाश लेते हैं। अपने त्रिआयामीय प्रोजेक्ट को करते हुए वे नियोजन के तरीके और समस्या को सुलझाने का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। बच्चों को बस प्रोत्साहन और योजना बनाने के लिए जरा–सी मदद की जरूरत होती है। उदाहरण के लिए जब हमें बेलनाकार बनाना होता है तब पहले हम मिट्टी के चपटे आयताकार टुकड़े से काम शुरू करते हैं। विद्यार्थी मेज पर रखे हुए उस टुकड़े को सजाते और डिजाइन करते हैं। तब हम उनसे पूछते हैं कि हम इस चपटे आयताकार टुकड़े का इस्तेमाल एक खड़े हुए फूलदान को बनाने में कैसे कर सकते हैं। जब वे समझ जाते हैं कि उस टुकड़े को घुमाकर बेलन का आकार कैसे देना है तब यह बात हमें बहुत बढ़िया लगती है और कुछ बच्चे तो ऐसे भी होते हैं जो यह भविष्यवाणी करते हैं कि, "अब हमें इसके लिए एक आधार चाहिए!"

मिट्टी के साथ काम करते समय कुछ नियमों और कार्यप्रणालियों का पालन करना होता है और बच्चे इन दिशानिर्देशों को समझने और कार्यप्रणालियों का पालन करने में बहुत अच्छे हैं। इस समझ के कारण वे एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात सीखते हैं–अनुशासन से सफलता मिलती है। हम जो तरीके सिखाते हैं वे बहुत सरल हैं–जैसे मिट्टी को बहुत मोटा या गाढ़ा मत करो, या एक पतली पूँछ को सहारा देने के लिए उसे शरीर के साथ जोड़ना चाहिए। मैं उन्हें समझाता हूँ कि ये तकनीकें क्यों आवश्यक हैं। अगर मिट्टी बहुत मोटी या गाढ़ी हो तो वह अच्छी तरह से नहीं सूखेगी या अगर पतली पूँछ को शरीर के साथ न जोड़ा जाए तो वह टूट भी सकती है क्योंकि वह कमजोर होती है। बच्चे यह अवधारणा आसानी से समझ लेते हैं और बुनियादी भौतिक शास्त्र भी सीखते हैं।

भारत के विभिन्न शहरों में और बंगलौर के हमारे स्टूडियो में कुम्हारी के अनेक शिविर चलाए जाते हैं जो स्कूल के बाद और गर्मियों की छुट्टियों में आयोजित किए जाते हैं। दो घण्टे के विभिन्न सत्रों में अलग–अलग विषय लिए जाते हैं। इन कार्यक्रमों में मैंने अनेक माता–पिता से बात की है जो यह चिन्ता व्यक्त करते हैं कि शायद उनका बच्चा इतनी देर तक इस काम में जुट न पाए, लेकिन होता इसका उलटा है। मिट्टी के प्रति संवेदी प्रतिक्रिया, उसके जिम्मेदार

होने की भावना या शायद अपनी भावनाओं को शारीरिक रूप से या मिट्टी को कोमल–सपाट करने के द्वारा सुस्पष्ट रूप से व्यक्त करने की क्षमता के कारण सभी बच्चे, यहाँ तक कि वे बच्चे भी जो उच्च सक्रियता स्तर वाले हैं, अपने काम से पूरी तरह से जुड़ जाते हैं, उसमें तल्लीन हो जाते हैं। बच्चे निराशा का अनुभव नहीं करते क्योंकि मिट्टी लचीली होती है और उनकी बात मान लेती है।

क्ले स्टेशन में हम सब इस सिद्धान्त को ध्यान में रखकर मिट्टी की कला सिखाते हैं कि उत्पाद की तुलना में प्रक्रिया अधिक महत्त्वपूर्ण है। मैं खोज और सृजन के आनन्द पर जोर देता हूँ। बच्चे अपने हाथों से मग या पेंसिल होल्डर बनाकर बहुत उत्साहित होते हैं। वे यह घोषणा करते हैं कि यह मग उनकी दादी की कॉफी के लिए है या यह पेंसिल होल्डर उनके पिताजी की डेस्क के लिए है। पत्थर मिट्टी की बनी हुई ये चीजें अपनी व्यावहारिक और टिकाऊ प्रकृति के कारण बच्चों को महत्त्व और गौरव का एहसास कराती हैं। कला के सभी रूपों का अनुभव करना बच्चे के लिए महत्त्वपूर्ण है, फिर भी मिट्टी की बनी हुई एक पूर्ण वस्तु/कलाकृति अपनी टिकाऊ प्रकृति के कारण बच्चे के लिए एक विशेष महत्त्व रखती है। जब मैं मिट्टी से बच्चों का परिचय कराता हूँ और देखता हूँ कि वह अपने अद्वितीय गुणों द्वारा बच्चों के विकास में कई तरह से योगदान दे रही है तो मुझे बहुत सन्तोष होता है। जब क्ले स्टेशन ने यह जाना कि बच्चों की उपलब्धि के लिए मिट्टी की कला कितनी मूल्यवान है और बच्चों के स्कूलों में कला के कार्यक्रमों को सीमित करना कितना निराशाजनक होता है, तब उसने मिट्टी की कला का पाठ्यक्रम शुरू करने में

स्कूलों की मदद की। विशेष आवश्यकता वाले बच्चों के साथ काम किया, शिक्षकों को मिट्टी के साथ काम करने का प्रशिक्षण दिया। उपकरणों को खरीदने और व्यवस्थित करने में सहायता दी और स्कूल–स्टूडियो की योजना बनाने और उसे डिजाइन करने में भी मदद की। हम स्कूलों में मिट्टी की कला शुरू करने को प्रोत्साहन देते हैं, भले ही वह छोटे पैमाने पर क्यों न हो। क्योंकि हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि स्कूल के बाद चलाए जाने वाले किसी अन्य कार्यक्रम की तुलना में इस कार्यक्रम से बच्चों के समग्र विकास पर ज्यादा महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। इस दिशा में, हमने अपने अनुभव को इस विश्वास के साथ अपने स्कूल के आउटरीच कार्यक्रमों और अपने स्टूडियो में बच्चों की कार्यशालाओं में साझा किया है कि बच्चों के विकास को मजबूत बनाने में मिट्टी एक अनिवार्य तत्व है।

सुमन्त सम्पत *एक सिरामिक कलाकार और क्ले स्टेशन आर्ट स्टूडियो प्राइवेट लिमिटेड के निदेशक हैं। उन्होंने अमेरिका, इसराइल और भारत के कई स्कूलों और स्टूडियो में पढ़ाया है और कार्यशालाएँ संचालित की हैं। सुमन्त क्ले स्टेशन में उत्साही कलाकारों के संगठन का एक हिस्सा हैं, जिनका सतत प्रयास है मिट्टी के चिकित्सीय और रचनात्मक आनन्द को हर किसी के साथ साझा किया जाए। उनसे sumanth@claystation.in पर सम्पर्क किया जा सकता है।*

अनुवाद: *नलिनी रावल*

26 अपने बच्चे के सपने को जीना .....

वाणी ब्रह्मचारी

अक्सर मुझसे यह सवाल पूछा जाता है कि, "आप दोनों वैज्ञानिक हैं, फिर आपके बच्चों ने विज्ञान विषय क्यों नहीं चुना? और ऐसा कैसे कि जब उन्होंने विज्ञान से हटकर कला का पाठ्यक्रम जैसे कि विजुअल कम्युनिकेशन या डिजाइन को व्यवसाय के रूप में चुना तब आपको कोई फर्क नहीं पड़ा?" लेकिन हमारे लिए यह रचनात्मक खोज की बात थी। वास्तव में, व्यवसाय के इन विकल्पों में, वैज्ञानिक अनुसन्धान के विपरीत, हम ऐसे योगदान दे सकते हैं जिनके साथ बहुत से लोग सम्बन्ध जोड़ सकते हैं।

अब अगर आप मुझसे पूछें कि क्या मेरे बेटों और हमारा यह निर्णय सोच–समझकर लिया हुआ निर्णय था तो मेरा जवाब आंशिक रूप से हाँ होगा। एक बात तो यह थी कि मेरा बच्चा डिस्लेक्सिया से ग्रस्त है और उसे लकड़ी और तार के साथ काम करना अच्छा लगता था। ताँबे के तारों का उपयोग करके आभूषण बनाना उसके अनेक विशेष कौशलों में से एक कौशल था। इन प्रयासों में उसे कई प्रयोग भी करने पड़ते थे जिनके परिणाम स्वरूप हमारे अपार्टमेंट की बिजली चली जाया करती थी, जबकि अन्य अपार्टमेंटों में बिजली रहती थी !

जब हम दिल्ली गए तो कला को एक विषय के रूप में लेने का निर्णय आसान हो गया क्योंकि यहाँ बंगलौर की तरह यह स्थिति नहीं थी कि "या तो मेडिकल या इंजीनियरिंग करो या मरो।" दिल्ली विश्वविद्यालय में, हर वर्ष, स्नातक कोर्सों में प्रवेश के लिए अंकों की उच्चतम सीमा वाणिज्य के विषयों के लिए है, विज्ञान के लिए नहीं। यह एक आम धारणा है कि कला तो सहज स्वाभाविक है, ("क्या कलाकार बनने के लिए वास्तव में प्रशिक्षण की जरूरत है?") और इसलिए यह प्राथमिक करियर विषय के साथ अतिरिक्त रूप में होनी चाहिए। हाईस्कूल में जब मेरे बेटे ने कला को एक विषय के रूप में लेने का निर्णय लिया तो उसकी अध्यापिका उलझन में पड़ गईं। उन्होंने उसे चेतावनी दी कि यह आसान नहीं है और उसे इस कोर्स में प्रवेश देने के पहले वे कुछ समय तक उस पर नजर रखेंगी और उसके काम पर ध्यान देंगी। तो कला में कोर्स करना भी एक डिफॉल्ट विकल्प हो सकता था। चूँकि उन्होंने उसमें सहज झुकाव और काम को अलग तरीके से करने की क्षमता देखी थी, इसलिए उन्हें उसे औपचारिक प्रशिक्षण देने में प्रसन्नता हुई। उसने अपने बोर्ड के प्रोजेक्ट के लिए पोर्सलिन के टुकड़ों से सजा हुआ लकड़ी का जो शेल्फ बनाया था, वह आज भी हमारे बैठक की शोभा बढ़ाता है। उसने किसी अन्य पेशे की तरह ही कला को बड़े स्वाभाविक रूप से पेशे के रूप में जारी रखा।

मुझे एक चुनौती का और सामना करना पड़ता है–जो है लोगों को उसके काम के बारे में बताना। अगर मैं यह कहती कि मेरा बेटा सॉफ्टवेयर इंजीनियर है तो इसे समझने में किसी को कोई समस्या नहीं होती, मेरे बेटे की चिन्ता करने वाले मेरे मित्र/रिश्तेदार यह जानकर सन्तुष्ट हो जाते कि वह किस बहुराष्ट्रीय कम्पनी में काम करता है, बिना इस बात की चिन्ता किए कि वह कौन–से सॉफ्टवेयर बनाता है ! लेकिन अगर मैं यह कहती कि मेरा बेटा कला और विजुअल कम्युनिकेशन से जुड़ा हुआ है तो वे तत्काल निष्कर्ष निकाल लेते कि, "ओह, तो वह विज्ञापन कम्पनी में है।" लेकिन मैं जानती हूँ कि मुझे इसे यहीं नहीं छोड़ देना चाहिए क्योंकि रचनात्मक व्यक्तियों में अपने पेशे को लेकर जो गहरा संस्कार होता है उसे अकसर उतनी प्रशंसा नहीं मिलती जितनी मिलनी चाहिए। इसलिए मैं उसके काम को और विस्तार से बताती हूँ लेकिन मैं जानती हूँ कि मैं इस काम में विफल रहती हूँ क्योंकि मेरा यह वर्णन न तो उन्हें सन्तुष्ट कर पाता है और न ही मुझे !

कई बार लोग इस बात की सराहना करते हैं कि हम पूर्वाग्रह रहित और खुले दिमाग के हैं क्योंकि हमने पेशे के रूप में अपने बेटे को 'कला' को चुनने दिया। लेकिन कभी–कभी कुछ स्थितियों में मुझे लगता है कि अगर यही बात उनके बच्चों के बारे में होती तो शायद वे उसका सामना इस तरह से न करते। ठीक वैसे ही जैसे पुरुषों का यह घिसा–पिटा रवैया कि वे अपनी पत्नी के अलावा अन्य महिलाओं के 'स्मार्ट तरीके और अति महत्त्वाकांक्षी प्रवृत्ति' की तारीफ करते हैं (यही विशेषता अगर उनकी पत्नी/बहू में हो तो उसे वे अपनी सीमाओं का अतिक्रमण कहते हैं)।

अगर आप मुझसे यह पूछें कि क्या मैं उसके पेशे से ईर्ष्या करती हूँ, तो मैं कहूँगी कि मैं उसके पाठ्यक्रम से निश्चित रूप से ईर्ष्या करती हूँ। उसके मॉड्यूलर कोर्स और आकलन के मानदण्ड मेरे विद्यार्थी जीवन के कोर्स से कहीं अधिक मजेदार थे। जब उसने कला, डिजाइन और तकनीक में पाँच वर्षीय डिप्लोमा कोर्स करना शुरू किया तो मुझे उसकी 'नौकरी की सुरक्षा' के बारे में चिन्ता हुई। मैं ऐसे परिवार में पली–बढ़ी थी जिसमें मेरे पिता और भाइयों के साथ–साथ मेरी व मेरे पति की नौकरी भी पेंशन वाली थी, तो लगा कि उसकी नौकरी में तो हर दिन अनिश्चितताएँ हैं। यहाँ पर मैं यह जरूर कहना चाहूँगी कि मेरे पति इस बात को लेकर कोई खास चिन्तित नहीं थे। लेकिन समय के साथ–साथ मुझे एहसास हुआ है कि यह कई प्रकार से समृद्ध करता है और जैसा जीवन हमने जिया उसके अलावा भी जीने के कई तरीके हैं। मुझे इस बात का गहन बोध है कि अपनी सामाजिक स्थिति, वित्तीय या अन्यथा, के कारण मैं इस स्थिति को अपना सकी हूँ।

इससे मेरे सामने एक ऐसा महत्त्वपूर्ण विचार आता है जिसके कारण बच्चा या उसका परिवार कला को पेशे के रूप में नहीं चुनते। इस पेशे में निरन्तर सफल रह पाना न केवल अपनी खुद की प्रतिभा,साहस और धैर्य से जुड़ा हुआ है बल्कि यह अवसर, प्रदर्शन और सम्पर्क पर भी निर्भर है। विश्वविद्यालय में मैंने अनुभव किया है कि स्नातकोत्तर कोर्स के विद्यार्थियों के हर बैच में एक या दो विद्यार्थी ऐसे होते हैं जिनका मन बायोमेडिकल साइंसेज में नहीं बल्कि वन्य जीवन की फोटोग्राफी या पेन्टिंग और चित्रकला में लगता है। एक सेमेस्टर के दो–तीन हफ्तों में मैं यह साफ देख पाती हूँ कि कोई विद्यार्थी इस कोर्स में जो कुछ कर रहा है, उसमें उससे कहीं अधिक करने की योग्यता है। जब मैं उनसे इस बारे में और अधिक पूछताछ करती हूँ तो कुछ इस तरह का बयान सामने आता है–"मुझे यह कोर्स पसन्द नहीं था। मुझे तो देहरादून के भारतीय वन्य जीवन संस्थान में प्रवेश मिल गया था। लेकिन मेरे माता–पिता को लगा कि उस कोर्स में कुछ नहीं धरा और उसमें कोई गुंजाइश नहीं है।" बेशक, पिछले कुछ वर्षों में भारत में पेशों के विकल्प में विस्तार हुआ है, लेकिन कोर्सों के बारे में जागरूकता और कोर्स के बाद उपलब्ध अवसरों के बारे में और अधिक प्रचार की जरूरत है; न केवल इन संस्थानों के लिए बल्कि माता–पिता और बच्चों के लिए भी ताकि वे सुरक्षित महसूस करें और उन्हें पूरे विश्वास के साथ अपने सपनों को पूरा करने की स्वतंत्रता मिले।

वाणी ब्रह्मचारी *दिल्ली विश्वविद्यालय के डॉ.बी.आर.अम्बेडकर जैव चिकित्सा अनुसन्धान केन्द्र में प्रोफेसर हैं। उनके पुत्र सौरव ने नेशनल ज्योग्राफिक और फॉक्स हिस्ट्री के साथ काम किया है। सम्प्रति वे राजीव सेठी सीनोग्राफर्स एवं एशियन हेरिटेज फाउण्डेशन के साथ काम करते हैं। वाणी ब्रह्मचारी से vani.brahmachari@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवादः** नलिनी रावल*

शिक्षा में कला

गगन बग्गा
कला अध्यापिका, आर्मी स्कूल, अहमदनगर

कला पेन्टिंग और ड्रॉइंग से कुछ अधिक है। यह तो सोचने का एक तरीका है, देखने और जीने का एक तरीका है। कला का मतलब है व्यवस्थापन और चयन। व्यवस्थापन और चयन का मतलब है डिजाइन। डिजाइन का मतलब है अनुक्रम जिसका इस्तेमाल करना चाहिए और आनन्द उठाना चाहिए; जिसे जीना चाहिए। संक्षेप में, यह सराहना का मूल है और सही भावना एवं सही मूल्यों का मामला है। यह सुन्दर वस्तुओं के प्रति जागरूक होने एवं उनकी सराहना करने की बात है।

शिक्षा को एक अनुभव के रूप में परिभाषित किया गया है, विशेष करके अनुभव की पुनर्रचना या यूँ कहें कि शिक्षा नए अनुभवों के प्रकाश में अनुभवों की निरन्तर पुनर्रचना है। कला एक ऐसा सतत अनुभव है जो हमें जीवन से ही मिलता है। वास्तव में कला जीवन के हर क्षेत्र में व्याप्त है। यदि वास्तुकला के डिजाइन न हों तो हमारे शहर लकड़ी के झोपड़े मात्र बनकर रह जाएँगे।

शिक्षा का कोई भी सामान्य कार्यक्रम कला की अच्छी गतिविधियों के बिना अधूरा है क्योंकि बच्चे को बेहतर बौद्धिक, भावनात्मक एवं सामाजिक विकास की दिशा में ले जाने वाले महत्त्वपूर्ण एवं मुक्तिदायक कारकों में से यह भी एक है।

बच्चे द्वारा बनाई गई ड्रॉइंग उसकी गति का परिणाम है जो उसकी भावनाओं एवं सोच से निर्देशित होती है। बच्चा जो कुछ भी आड़ा–तिरछा बनाता है वह उसकी सोच एवं भावनाओं से संचालित होता है और उसके अनुभव से फूट निकलता है।

एक बच्चे के विकास के निश्चित चरण होते हैं–

परिचालन चरण: 2 से 3 वर्ष

अकसर बच्चा आड़ी–तिरछी रेखाएँ खींचकर कहानी सुनाता है। उदाहरण के लिए वह कह सकता है, "यह एक फूल है या कार है," जबकि उसमें फूल या कार जैसा कुछ भी नजर नहीं आता।

प्रयोगात्मक चरण: 4 से 5 वर्ष

इस चरण में बच्चे की मांसपेशियाँ उसकी सोच का अनुसरण करने में सक्षम हो जाती हैं। इस चरण में वह रेखा तथा रंग को व्यवस्थित करने में भी सक्षम होता है और मानव चेहरों को चित्रित करने की कोशिश करता है विशेष रूप से अपने परिवार के करीबी सदस्यों के चित्र।

छोटे बच्चों के लिए मिट्टी के मॉडल बनाने की गतिविधियाँ महत्त्वपूर्ण तथा सन्तोषजनक होती हैं।

योजनाबद्ध चरण: 6 से 8 वर्ष

इस चरण में बच्चे एक विशेष सूत्र या प्रतीक का विकास

करते हैं जो अस्थायी रूप से मानव आकृति का प्रतिनिधित्व करने के लिए सन्तोषजनक होता है। गोलाकार, त्रिकोणीय आकार या आयताकार का प्रयोग सिर, शरीर, हाथ, पैर या नैन–नक्श के लिए किया जा सकता है एवं वक्र तथा सीधी अकेली या दोहरी रेखाओं का प्रयोग बाँहों व पैरों के लिए किया जा सकता है। छह से आठ वर्ष की इस अवधि की शुरुआत में अकसर आसमान को पन्ने के ऊपरी हिस्से में एक नीली पट्टी से दिखाया जाता है और धीरे–धीरे बच्चे पूरे आसमान में रंग भरने लगते हैं।

कुछ क्राफ्ट जैसे कि छपे हुए पैटर्न को काटना, कार्ड बनाना आदि भी लोकप्रिय हैं।

चरण: 9 से 12 वर्ष

बच्चे और अधिक स्पष्ट एवं सहज तरीके से ड्रॉइंग करने लगते हैं। इस अवधि में अन्य बच्चों के चित्र बनाने का प्रयास भी किया जाता है।

चरण: 12 से 15 वर्ष

इस अवस्था में बच्चे परिपक्व हो जाते हैं व समूहों में स्वतंत्र रूप से काम करना पसन्द करते हैं और विभिन्न सामग्रियों के साथ प्रयोग करने लगते हैं।

मेरा अपना अनुभव

- बच्चों को समूहों में काम करना अच्छा लगता है। कला में हम रंगों एवं अन्य सामग्रियों के साथ प्रयोग कर सकते हैं। जिन बच्चों में आत्मविश्वास थोड़ा कम हो वे पृष्ठभूमि या छोटी वस्तुओं को पेंट कर सकते हैं तथा जटिल व महत्त्वपूर्ण चीजों को अधिक क्षमतावान बच्चे पेंट कर सकते हैं। समूह में बच्चे अलग–अलग विचारों एवं रचनात्मकता का उपयोग कर सकते हैं।
- सरल से जटिल विषयों की ओर बढ़ने से बच्चे आत्मविश्वासी बनते हैं।
- कला की वस्तुओं और प्रक्रियाओं पर रंगीन फिल्में एवं स्लाइड प्रेरित करने के साथ–साथ जानकारी भी देती हैं।
- कक्षा में संगीत बजाना रचनात्मकता का माहौल पैदा करता है।
- कलाकार और उसकी कला को देखना प्रेरक होता है।
- अगर कोई विद्यार्थी किसी विशेष कौशल में अच्छा है तो शिक्षक को चाहिए कि वह उसे विकसित और प्रदर्शित करने के अवसर प्रदान करे।
- विषय एवं माध्यम के चुनाव की स्वतंत्रता होनी चाहिए। उदाहरण के लिए–हो सकता है किसी बच्चे को पेन्टिंग करनी अच्छी न लगती हो पर वह मिट्टी के साथ खुशी–खुशी काम करता हो।

27 यक्षगान : सम्मोहक एवं मुक्तिदायक !

इनी पेरिओडी

मेरे बचपन की प्यारी यादों में से एक बहुत प्यारी याद है रात भर चलने वाले यक्षगान[1] के प्रदर्शन में जाने की तैयारी करना। उन दिनों यक्षगान प्रदर्शन की प्रतीक्षा करने से बेहतर कोई और काम नहीं था। उससे सम्बन्धित हर बात किसी उत्सव से कम नहीं थी। फिर चाहे वह वहाँ जाने की प्रतीक्षा हो, कलाकारों को चौकी[2] में तैयार होते हुए देखकर दंग रह जाना हो और या उस चमत्कारपूर्ण दुनिया में खो जाना हो। मैं मंत्रमुग्ध होकर पूरे प्रदर्शन को देखती और यह दुआ करती कि ये रात कभी खत्म न हो। कई बार तो मैं प्रदर्शन के समाप्त होने के बाद रो भी पड़ती क्योंकि मैं ऐसी वास्तविकता में लौटना ही नहीं चाहती थी जो यक्षगान की तुलना में बेहद उबाऊ और सादी थी।

एक कला के रूप में यक्षगान ने मेरे जीवन के विभिन्न चरणों में विभिन्न भूमिकाएँ निभाई हैं। एक बच्ची के रूप में इसने मेरे सामने एक नई दुनिया खोलकर रख दी, ऐसी दुनिया जिसमें रंग, बहुमूल्यता, पात्र और भावनाएँ थीं। जब मैं एकलव्य प्रसंग[3] देखती तो दुनिया में होने वाले अन्याय को देखकर रोती रहती। मैं भाग्यशाली थी क्योंकि मेरे घर का वातावरण ऐसा था जहाँ मैं अपनी देखी हुई और महसूस की हुई बातों पर चर्चा कर सकती थी। इन कहानियों ने मेरे अन्दर अनेक प्रश्न उठाए, मुझे सोचने पर मजबूर किया। जीवन के पहलुओं और मुद्दों के बारे में मासूमियत से विस्मित होने और सोच–विचार करने का मौका दिया। मेरी माँ मेरे प्रश्नों का उत्तर देने के साथ–साथ और अधिक प्रश्न पूछने के लिए प्रोत्साहित भी करती रहती थीं। मैं बड़ी गम्भीरता से माँ से पूछती, "अम्मा, अगर राम अच्छे व्यक्ति थे तो उन्होंने शूर्पणखा के साथ बुरा व्यवहार क्यों किया और सीता को जंगल में क्यों भेजा? तो फिर राम और रावण में अन्तर क्या है?" हम इस बारे में बात करते कि किसी भी व्यक्ति के लिए हमेशा अच्छा या बुरा बने रहना असम्भव है। फिर हम जिस बात पर चर्चा करते उसे आज मैं व्यक्तित्व के रंग कहती हूँ या फिर हम बहुत बुनियादी स्तर पर मानवीय इच्छाओं और द्वन्द्व के बारे में वार्तालाप करते।

मेरी माँ गाँव में एक सांस्कृतिक संगठन शुरू करने वाली थीं जिसमें सप्ताह में एक बार यक्षगान की कक्षाएँ चलाई जानी थीं। जिस चीज को मैं अब तक दूर से देखती थी उसे करीब से देखने का सुअवसर मुझे मिलने वाला था। मैं पहली कक्षा में गई और फिर पलटकर नहीं देखा। इस प्रकार यक्षगान के साथ मेरी नई यात्रा प्रारम्भ हुई।

अपनी किशोरावस्था के प्रारम्भिक वर्षों के दौरान यक्षगान ने मेरे जीवन में सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। वैसे तो मैं जिस वातावरण में रहती थी उसमें युवावस्था की ओर बढ़ना शर्मनाक नहीं माना जाता था, फिर भी मैं अपने शरीर और रूप–रंग को लेकर बहुत बेचैनी महसूस करने लगी थी। मैं शारीरिक रूप से अधिकाधिक सचेत होती जा रही थी। मैं यक्षगान की बहुत आभारी हूँ कि उसने मुझे स्वतंत्रता की भावना दी। जैसे–जैसे मैंने यक्षगान में प्रगति की वैसे–वैसे मेरा शरीर और मेरे व्यक्तित्व के कुछ पहलू जैसे स्वतंत्र होते गए। अब मैं सिर उठाकर सीधी खड़ी रह सकती थी और अपने शरीर या बदलते रूप को सहज रूप से लेने में सक्षम हो गई थी। यक्षगान की बुनियादी मुद्रा ही ऐसी थी जिसमें आत्मविश्वास, मुक्त भावना और आत्मदृढ़ता की जरूरत पड़ती थी। अगर सच में कला के इस रूप को सीखना हो तो यह आवश्यक था कि अन्य सभी शारीरिक प्रतिबन्धों को छोड़ दिया जाए। यह विडम्बना ही तो है कि कला के जिस रूप को पूर्णत: पुरुष–प्रधान माना जाता है (आज भी विरले ही महिलाओं को इस कला का प्रदर्शन करते हुए देखा जाता है।) उसका हम लड़कियों पर ऐसा प्रभाव हो। व्यक्तिगत रूप से मुझे यक्षगान सीखने का यह

अनुभव मुक्तिदायक लगा और मुझे यकीन है मेरे साथ सीखने वाली दूसरी लड़कियों को भी ऐसा ही लगा होगा।

हमारे समूह में कोई सशक्त कलाकार राक्षस की भूमिका निभाता है। ऐसा माना जाता था कि महिलाएँ इस भूमिका के साथ न्याय नहीं कर सकतीं क्योंकि इसके लिए नियत वेशभूषा ही बहुत भारी होती है। आज भी हम उस घटना को याद करके मुस्कुराने लगते हैं कि जब एक लम्बे परिचयात्मक नृत्य के बाद एक महिला की आवाज सुनकर दर्शक आश्चर्यचकित हो गए थे। "हे भगवान, ये तो एक महिला है!" सबके मुँह से यही निकला। पर दूसरी ओर यह देखते हुए बुरा लग रहा था कि अनेक प्रतिभाशाली कलाकारों ने नृत्य सीखना सिर्फ इसलिए बन्द कर दिया क्योंकि वे लड़कियाँ थीं। उनका परिवार उन्हें ऐसा करने के लिए मजबूर करता और हम बहुत खिन्न हो जाते। अन्य कलाओं की तरह ही इसमें भी प्रतिभा, कठोर परिश्रम और रुचि का सही मेल मिल पाना कठिन है।

अगर यक्षगान का प्रदर्शन देखना मंत्रमुग्ध करने वाला था तो इसे करना सम्मोहक था। प्रदर्शन के लिए तैयार होना, अभ्यास करना, जटिल मेकअप करना या भारी वेशभूषा पहनना, मंच पर जाना, खुद को खो जाने देना और अन्त में, प्रदर्शन के बाद या तो बहुत अच्छा या उतना अच्छा न महसूस करना—ये सभी बातें बहुत रोमांचकारी थीं। मैंने सफलता को संजोना, विफलता को स्वीकारना और फीडबैक का भली—प्रकार से स्वागत करना सीखा।

यक्षगान मण्डली का हिस्सा होने के नाते मैंने टीमवर्क की अवधारणा को एक बहुत ही व्यावहारिक स्तर पर समझा। जैसा कि मेरे प्रिय यक्षगान कलाकार ने समझाया, "अगर कृष्ण को एक रक्षक के रूप में प्रदर्शित करना है तो द्रौपदी को उनके साथ एक विशेष रूप में जुड़कर कृष्ण के उन गुणों को उजागर करना होगा जिनके कारण वे रक्षक बनते हैं।" आप मंच पर कहाँ खड़े होते हैं, अन्य चरित्र के सामने कैसे अपने को प्रस्तुत करते हैं, कैसे नाचते हैं, कैसे बोलते हैं और किन शब्दों का प्रयोग करते हैं....इन सबका तालमेल उस चरित्र के साथ होना चाहिए जिसे आप मंच पर अभिनीत कर रहे हैं और सामने वाले जिस दूसरे चरित्र के साथ आप जुड़ रहे हैं। ऐसे में कुछ भी व्यक्तिगत नहीं रह जाता। आप केवल एक बड़ी तस्वीर का छोटा हिस्सा बन जाते हैं जिसे आप अन्य लोगों के साथ दर्शकों के सामने प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहे होते हैं और यही वह परिज्ञान है जो हम सबको विनम्र बनाता है।

मेरी यक्षगान यात्रा हमेशा आसान नहीं रही। सबसे बड़ी चुनौती तब आती जब मुझे कोई ऐसी लाइन बोलनी पड़ती या कोई ऐसा सन्देश देना पड़ता जो मेरी मान्यताओं विरुद्ध होता या मुझे किसी ऐसी कहानी में भाग लेना पड़ता जिसका मैं उतना सम्मान नहीं करती थी। मैंने स्वयं से कई बार यह सवाल किया है कि मैं तुलसी—जलन्धर नामक प्रसंग का हिस्सा क्यों बनी जिसमें महिलाओं के नैतिक गुणों एवं शुचिता के बारे में जिस तरह से बात की गई थी उसने मेरी नस—नस को असहज बनाकर रख दिया। ऐसी स्थिति में मुझे क्या करना चाहिए था? क्या अपनी प्रिय कला के प्रति समर्पित रहना ज्यादा जरूरी था? या उसे सिर्फ इसलिए छोड़ देना चाहिए क्योंकि उसकी कुछ बातें आपकी मान्यताओं और विश्वास के विरुद्ध हैं? या क्या हमारे पास इस बात की स्वतंत्रता थी कि हम इस कला के ढाँचे के भीतर रहकर उन पहलुओं को छोड़ देते जिनसे हम सन्तुष्ट नहीं थे? ये कुछ ऐसे प्रश्न थे जिनका सामना हमने एक टीम के रूप में किया।

मैं स्वयं को धार्मिक या किसी जाति का हिस्सा नहीं कहती। तो फिर मैं यह क्या कर रही थी—ऐसी कहानियों और महाकाव्यों के अंशों का अभिनय जो एक धर्म विशेष के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे? मुझे इन प्रश्नों के उत्तर खुद ही खोजने थे। मेरे कोर्स में एक पेपर का नाम था 'कला में परिप्रेक्ष्य' । इसे पढ़ते—पढ़ते मेरे ऐसे कई विचार समेकित

हुए। इसने मुझे उन प्रश्नों पर पुन: सोचने का मौका दिया जिनके उत्तर या तो आंशिक रूप से मिले थे या अस्पष्ट रूप से। मेरे शिक्षक ने बड़ी खूबसूरती से समझाया कि कैसे एक सच्चा कलाकार इन कहानियों को ऐसी सार्वभौमिक मानवीय भावनाएँ मानता है जिसके साथ हर कोई जुड़ सकता है और वह यह प्रयास करता है कि जो कोई भी उन्हें देख रहा है उसके लिए ये सुगम्य हो जाएँ।

ऐसे कुछ और प्रश्न भी थे जिनके उत्तर हमें खोजने थे और हमने उन पर मिलकर विचार किया। कभी–कभी हमारा भाग्य अच्छा होता तो हमें विद्वानों की संगति में विचार–विमर्श करने का अवसर मिलता। जब बात बच्चों के इस कला में भाग लेने की हो तो क्या इसमें किन्हीं सुधारों की आवश्यकता है? किस प्रकार की कहानियाँ बच्चों द्वारा आनन्द उठाने के लिए उपयुक्त होंगी? क्या प्रयोग करना ठीक होगा या फिर इस कला के कठोर नियमों का पालन करने की तीव्र आवश्यकता है जिससे कि इसकी सुन्दरता बनी रहे? इनमें से किसी भी प्रश्न या सन्देह ने मुझे कला के इस रूप से दूर नहीं किया; वास्तव में इन्होंने इस बन्धन को और मजबूत किया।

कुछ मण्डलियाँ ऐसी हैं जो इस कला का उपयोग मुख्य रूप से अपनी धार्मिक मान्यताओं और संस्कृति का प्रचार करने और जीने के एक विशेष तरीके को लोगों पर थोपने के लिए करती हैं। यह दुर्भाग्य की बात है कि लोग इस कला का सम्बन्ध सिर्फ धर्म से जोड़ते हैं। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो इस कला के प्रति समर्पित रहते हैं और इसे अपना जीवन बना लेते हैं। मैं व्यक्तिगत रूप से इससे बड़े सपने या अपेक्षाएँ नहीं रखती; मैं तो बस इसके साथ जुड़े रहने की उम्मीद रखती हूँ और चाहती हूँ कि सीखना, सोचना जारी रखूँ और इन अद्भुत अनुभवों को प्राप्त करती रहूँ।

यक्षगान में किसी भी अन्य कला की तरह बहुत अधिक सम्भावनाएँ हैं। अगर आप इसके साथ स्वस्थ सम्बन्ध विकसित कर लें तो यह व्यक्ति की शारीरिक और मनोवैज्ञानिक दोनों की भलाई में योगदान दे सकती है। एक टीम के रूप में सीखने और नई चीजें करने के माध्यम से हमने इसके साथ अपने सम्बन्ध का लगातार उपयोग किया है। हमने एक टीम के रूप में एक नया प्रसंग तैयार किया है जिसका शीर्षक है 'मधुर माणिक्य' और इसके द्वारा हमने यक्षगान में लिंग सम्बन्धी एक नए परिप्रेक्ष्य को शुरू किया है। यह लिंग–भेदभाव के प्रश्न को उठाता है और रूढ़िवादिता को बहुत सरल तरीके से तोड़ता है। हमने यक्षगान के कुछ अत्यन्त प्रसिद्ध कलाकारों के साथ इसकी कहानी पर पूरे हफ्ते काम किया और फिर मैंगलोर के पास एक छोटे से शहर के एक मन्दिर में इस 'महिला उन्मुख थीम' का प्रदर्शन किया। मन में इस बात को लेकर घबराहट थी कि पता नहीं दर्शकों की प्रतिक्रिया कैसी होगी।

और जब दर्शक कार्यक्रम के अन्त तक बैठे रहे तो हम जान गए कि हम सही रास्ते पर थे!

'kCnkFk %

1. यक्षगान: नृत्य, नाटक, संगीत, बहुत परिश्रम से तैयार की गई वेशभूषा और मेकअप, आशु संवाद और रामायण और महाभारत के उपाख्यानों को लेकर चलने वाला तटीय कर्नाटक का एक जीवन्त लोक कला का रूप।
2. चौकी: यक्षगान की नेपथ्य शाला (ग्रीन रूम)
3. प्रसंग: यक्षगान में प्रदर्शित किए जाने वाले उपाख्यान या कहानियाँ।

इनी पेरिओडी *ने 2011 में सेंटर फॉर लर्निंग से ए–लेवल्स पूरा किया है। सम्प्रति वे माउण्ट कार्मेल कॉलेज, बंगलौर से कम्यूनिकेशन स्टडीज में बी.ए. कर रही हैं। वे अपने को विविध अभिरुचियों में व्यस्त रखना पसन्द करती हैं जैसे भाषा, स्थानीय परम्पराएँ एवं संस्कृति। उन्हें बच्चों के साथ काम करने, प्रकृति के निकट रहने और किसी न किसी रूप में प्रदर्शन कलाओं के साथ निरन्तर जुड़े रहने में आनन्द मिलता है। उनसे uvperiodi@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है।* ***अनुवादः*** *नलिनी रावल*

28 सोचने की कार्यशाला

करिश्मा अजमेरा
राहुल अजमेरा

यहाँ बच्चों को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया जाता है कि वे एक ही समस्या को हल करने के लिए कई तरीकों के बारे में सोचें ।

उन दिनों मैं अहमदाबाद के नैशनल इंस्टीट्यूट ऑफ डिजाइन में पढ़ रही थी और अहिंसा एक्सप्रेस से वहीं जा रही थी। मेरे सहयात्री ने मुझसे पूछा कि मैंने डिजाइन की पढ़ाई करने का फैसला क्यों किया। "क्योंकि मैं इंजीनियरिंग नहीं करना चाहती थी"—मैंने रूखा—सा उत्तर दिया और हमारी बातचीत वहीं समाप्त हो गई।

यात्रा के अगले कुछ घण्टे मैं अपने इस कथन के बारे में सोचती रही। क्या यह बात सच थी? क्या अपने करियर के बारे में मेरा यह फैसला अलग—थलग रहने की प्रक्रिया का परिणाम था?

मेरे 11 करीबी दोस्तों में से आठ ने इंजीनियरिंग कालेज में दाखिला लिया था। नौवें ने मेडिकल का कोर्स चुना और दसवें ने आर्मी में जाने का फैसला किया। मैंने डिजाइन को क्यों चुना? क्या इंजीनियरिंग के प्रति अरुचि ने मुझे डिजाइन की ओर प्रेरित किया? वह कौन—सा प्रभाव था जिसके कारण मैंने यह फैसला लिया?

मैं जिस स्कूल में पढ़ती थी वहाँ अकादमिक बातों पर बहुत ध्यान दिया जाता था। बच्चों को उनके अकादमिक प्रदर्शन के अनुसार ए, बी और सी विभागों में बाँटा जाता था और ए विभाग में अव्वल दर्जे के विद्यार्थियों को रखा जाता था। स्कूल में निश्चित रूप से ऐसा कोई उत्प्रेरक नहीं था जिसने रचनात्मक प्रवृत्ति का विकास करने में मेरी मदद की हो। कम से कम सीधे—सीधे तो नहीं। शायद संगीत की कक्षा ने दाएँ मस्तिष्क को उकसाया, बस, इससे ज्यादा शायद कुछ नहीं। मेरी माँ कला में रुचि रखती थीं और इसे लेकर उनके मन में उत्साह भी था। तो मैंने भी यह बात मान ली कि इसी कारण मैंने भी कला को चुना।

अब एन.आई.डी. से उत्तीर्ण होने और दो बच्चों की माँ बनने के बाद जब मैं मुड़कर पीछे देखती हूँ तो अपनी शिक्षा प्रणाली की कमियों का पता चलता है; पहली कमी है रचनात्मक क्षेत्र में करियर सम्बन्धी मार्गदर्शन की कमी। अधिकांश माता—पिता और शिक्षकों को उन पेशों के बारे में कम ही पता होता है जो दाएँ मस्तिष्क को प्रेरित करते हैं जैसे भवन—निर्माण कला, फिल्म निर्माण या संगीत रचना। उन्हें ऐसे कॉलेजों और डिजाइन स्कूलों के बारे में भी पता नहीं होता जो इन प्रतिभाओं को विकसित करते हैं। डिजाइन स्कूल में पढ़ने के कारण मैं व्यक्तिगत रूप से ऐसे बहुत से विद्यार्थियों को जानती हूँ जिन्हें इस स्कूल में आने के पहले डिजाइन के क्षेत्र के बारे में कुछ पता नहीं था। मेरे कई साथी एन.आई.डी. में संयोग से आ गए थे।

स्कूलों में एक और बात की कमी है और वह है रचनात्मकता को बढ़ावा देने के लिए इनपुट देने का प्रावधान न होना। यहाँ इस बात से भ्रमित नहीं हो जाना चाहिए कि रचनात्मकता का मतलब चीजों को सुन्दर बनाना है, वास्तव में यह तो सोचने का एक तरीका है।

रचनात्मक सोच वास्तविकता को समीक्षात्मक रूप से देखने, अपरम्परागत विकल्प तलाशने, और नवीन दृष्टिकोण से स्थितियों को जानने से जुड़ी हुई है (Csikszentmihalyi]

1997)। रचनात्मक सोच नवीन रूप से समस्या को हल करने से सम्बन्धित संज्ञानात्मक प्रक्रियाओं को अंगीकार करती है।

स्कूल में ऐसी कक्षाएँ कम ही थीं जिनमें मुझे रचनात्मक बनने की जरूरत महसूस हुई हो फिर चाहे वह गणित के सवाल हल करने की बात हो या कोई रासायनिक समीकरण। हाँ, चित्रकला और क्राफ्ट की कक्षाएँ ऐसी थीं जो जिनमें रचनात्मकता की थोड़ी बहुत जरूरत पड़ती थी। इन कक्षाओं में हम कागज काटकर सुन्दर कलाकृतियाँ बनाने की कोशिश करते थे लेकिन इनसे भी हम समस्या का हल नवीन रूप से करना नहीं सीख पाते थे।

इन कमियों को दूर करने का हमारे पास तत्काल कोई हल नहीं है हालाँकि पहली समस्या का हल प्राप्त करना जरा आसान लगता है। बच्चों को बेहतर मार्गदर्शन और सलाह दी जा सकती है, उन्हें पेशे सम्बन्धी ऐसे अनेक विकल्पों से अवगत कराया जा सकता है जो उनकी रचनात्मक प्रवृत्ति को प्रखर कर सकें। हो सकता है इस प्रकार की सलाह इस बात पर प्रकाश डाल सके कि सफल डिजाइनर, आर्किटेक्ट और कलाकार भी इंजीनियरों और डॉक्टरों के समतुल्य जीवन शैली का आनन्द उठा सकते हैं। लम्बे समय से विद्यार्थियों और माता–पिता के मन में रचनात्मक क्षेत्रों को लेकर जिस उपेक्षा और असहजता का भाव बैठा हुआ है, उसे दूर करना जरूरी है। ये लोग मानते हैं कि रचनात्मक क्षेत्र संघर्ष करने वालों और सपने देखने वालों से भरा हुआ है।

दूसरी समस्या यानी स्कूलों में रचनात्मकता का समावेश करने लिए दो तरीकों को बढ़ावा दिया जा सकता है। एक तो यह कि रचनात्मकता रूप से समस्या को सुलझाने पर बल देते हुए अलग से पाठ पढ़ाए जाएँ। या दूसरा तरीका यह हो सकता है कि कोर्स के विषयों के माध्यम से ही ऐसा करवाया जाए। शिक्षक इस बात पर ध्यान दे सकते हैं कि वे अपने ही विषय के अन्तर्गत डिजाइन का तत्व कैसे लाएँ। उदाहरण के लिए हम नागरिक शास्त्र को ले सकते हैं। मुझे यह विषय जिस तरह से पढ़ाया गया था वह बहुत ही सीधा–सरल था; मुझे रटकर उन कानूनों और अधिनियमों को याद करना पड़ता था जो भारत की आजादी के दौरान लागू किए गए थे। हमारे सामने यह बात उजागर नहीं की गई थी कि उस समय के सन्दर्भ या परिस्थितियाँ कैसी थीं जिनके तहत ये कानून बनाए गए थे। हमें यह बात सिखाई ही नहीं गई कि उस समय बनाया गया हर कानून समस्या को सुलझाने का ही परिणाम था, चाहे वह समस्या तात्कलिक हो या दूर की।

पर अगर बच्चों को नीति निर्माताओं के स्थान पर रख दिया जाता तो क्या होता? उन्होंने इस समस्या का समाधान कैसे किया होता? क्या वे उन्हीं मुद्दों को किसी और नजरिए से देख पाते? तो फिर उनके बनाए हुए कानून इन बने हुए कानूनों से किस प्रकार से अलग होते; और ये कानून कुछेक वर्षों में भारतीय समाज को किस प्रकार से प्रभावित करते? कक्षा में इस प्रकार की गतिविधि करवाने से बच्चों को अपरम्परागत विकल्पों को खोजने में मदद मिलेगी और वे खुद को सशक्त भी महसूस करेंगे क्योंकि उन्होंने स्वयं वास्तविक दुनिया की समस्याओं का हल खोजा होगा।

शिक्षा प्रणाली में इन कमियों को पहचानने के बाद मेरे साथी राहुल और मैं इन्हें पाटने का प्रयोग कर रहे हैं। हमने आठ से बारह वर्ष की आयु के बीच के बच्चों के लिए डिजाइन थिंकिंग कार्यशालाओं का संचालन किया है। इन कार्यशालाओं का उद्देश्य दोतरफा है; ये इन्हीं दो कमियों को दूर करने का प्रयास करती हैं। इन कार्यशालाओं के शुरू में बच्चों को डिजाइन के क्षेत्र से परिचित कराया जाता है और दुनिया भर में डिजाइन के जितने भी विषयों का अभ्यास किया जा रहा है, उनके प्रति जागरूक किया जाता है। एक बार जब वे डिजाइन को लेकर उत्साहित हो जाते हैं तब हम उन्हें यह महसूस कराते हैं कि ये सब तो वे स्वयं कर सकते हैं।

ये कार्यशालाएँ कुछ बनाने या ड्राइंग की बजाए सोचने पर जोर देती हैं। बच्चों को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया जाता है कि वे एक ही समस्या को हल करने के लिए कई तरीकों के बारे में सोचें। उदाहरण के लिए एक मेज

डिजाइन करने का सरल–सा अभ्यास उन्हें विभिन्न तरीकों से मेज को स्थिर करने के बारे में सोचने का अवसर देता है। एक बार जब वे अपने विचारों को परिष्कृत कर लेते हैं तब उन्हें उसे निरूपित करना सिखाया जाता है लेकिन यह जरूरी नहीं कि यह निरूपण कुछ बनाकर या ड्राइंग के माध्यम से किया जाए। बच्चों को एक व्यापक रूपरेखा दे दी जाती है और इसी के भीतर उन्हें अपने रचनात्मक विचारों को आयोजित करना होता है। अपनी समस्याओं को सुलझाने के लिए उन्हें एक सन्दर्भ दिया जाता है; मापदण्डों और कार्यों की सूची दी जाती है जिसके अनुसार उन्हें अपना डिजाइन तैयार करना होता है।

यद्यपि इन कार्यशालाओं को आयोजित करने का हमारा अनुभव अभी सीमित है लेकिन इनके परिणामों से यह स्पष्ट है कि बच्चे इनके लिए तैयार हैं। वे अवधारणाओं को समझकर अपरम्परागत तरीके से सोचते हैं। वैसे तो हम अभी इन कार्यशालाओं को आयोजित करने के विभिन्न स्वरूपों और शैलियों के साथ प्रयोग कर रहे हैं लेकिन यह प्रयास अभी भी समुद्र में एक बूँद के समान है। अगर इसे प्रणालीगत स्तर पर लिया जाए और स्कूल के पाठ्यक्रम में डिजाइन थिंकिंग को शामिल करने का सचेत प्रयास किया जाए तो रचनात्मक रूप से सोचने का यह कौशल बच्चों को न केवल किसी भी पेशे के लिए तैयार करेगा बल्कि यह एक महत्त्वपूर्ण जीवन कौशल भी साबित होगा।

करिश्मा और राहुल *दोनों नैशनल इंस्टीट्यूट ऑफ डिजाइन, अहमदाबाद से औद्योगिक डिजाइन के स्नातक हैं। आठ साल के पेशेवर अनुभव के साथ, करिश्मा ने टाइटन इण्डस्ट्रीज में प्रॉडक्ट और रीटेल डिजाइनर के रूप में काम किया है। राहुल का पेशेवर अनुभव दस साल से भी अधिक का है और उनके करियर का बड़ा हिस्सा ह्यूमन फैक्टर्स इंटरनेशनल में निर्मित हुआ। सम्प्रति वे ट्विस्ट ओपन इनोवेशन्स नामक एक कम्पनी चलाते हैं जो डिजाइन सम्बन्धी नवाचारों के विभिन्न क्षेत्रों में विशेषज्ञता प्रदान करती है। ट्विस्ट ओपन करिश्मा और राहुल के समृद्ध एवं विविध अनुभवों से प्रेरित होकर डिजाइन थिंकिंग एवं डिजाइन प्रक्रियाओं का प्रतिपादक बनने का उद्देश्य रखता है। वे नियमित रूप से उन संगठनों के साथ सहयोग करते हैं जो चाहते हैं कि डिजाइन का उपयोग परम्परागत क्षेत्रों के परे भी विस्तारित रूप से किया जाए और इस दृष्टि से शिक्षा एक मुख्य क्षेत्र है। उनसे karishma@twistopen.in और rahul@twistopen.in पर सम्पर्क किया जा सकता है।* ***अनुवादः*** *नलिनी रावल*

29 नुक्कड़ थियेटर – शिक्षित करने वाली एक कला

उत्तरा भरत कुमार
के साथ लर्निंग कर्व की बातचीत

इस अंक की तैयारी करते समय हमें लगा कि शिक्षित करने वाले कला के सभी रूपों पर विचार करना चाहिए। नुक्कड़ थियेटर में एक ऐसी तात्कालिकता और आकर्षण है जो सार्वभौमिक और पूरी तरह से सहभागितापूर्ण है। इससे प्राप्त सन्देश व्यक्ति के व्यवहार को बदलने के लिए पर्याप्त प्रभावशाली है।

नुक्कड़ थियेटर समझ बढ़ाने और परिवर्तन को मजबूत करने वाले एक माध्यम के रूप में जाना जाता है। इस बात को विस्तार से समझने के लिए प्रेमा रघुनाथ ने *नलमदना* की संस्थापिका ट्रस्टी उत्तरा भरत कुमार से बातचीत की। *नलमदना*, नुक्कड़ थियेटर का उपयोग कैसे करता है और स्कूलों में इसका प्रयोग कैसे किया जा सकता है आदि के बारे में खुलकर चर्चा हुई। यहाँ साक्षात्कार के कुछ अंश प्रस्तुत हैं। पर वास्तविक बातचीत पर जाने से पहले यहाँ एक संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है जिसे *नलमदना* के लेखों से लिया गया है।

जब उत्तरा भरत कुमार वेलेस्ले कॉलेज से स्नातक होकर लौटीं, तो उन्होंने कुछ स्थानीय उत्साही लोगों एवं एक स्थानीय विश्वविद्यालय के तीन आदर्शवादी युवा स्नातकों के साथ मिलकर 1993 में *नलमदना* की कल्पना और स्थापना की। उनके उत्साह और ईकोइंग ग्रीन फाउण्डेशन (www.echoingreen.org) से अनुदान पाकर इस संगठन ने अपनी जड़ें जमा लीं।

नलमदना की नीति है कि मनोरंजन–शिक्षा के माध्यम से बेहतर स्वास्थ्य प्रदान किया जाए। उनका मानना है कि लोगों को सिर्फ ज्ञान की नहीं बल्कि उससे कुछ ज्यादा की जरूरत है। उन्हें रचनात्मक प्रबोधन की जरूरत है ताकि वे बेहतर, स्वस्थ और सुरक्षित व्यवहार करने के लिए प्रेरित और सशक्त हो सकें।

नलमदना ने कमजोर वर्ग (बच्चे), कम साक्षर लोगों (ग्रामीण और झुग्गी–झोंपड़ी के दर्शक जहाँ आधे से अधिक लोग व्यावहारिक रूप से काम चला सकने जितने भी साक्षर नहीं हैं), और अकसर हाशिए पर रखे जाने वाले लोगों (महिलाएँ) पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। इन लोगों तक अपनी बात पहुँचाने के लिए सम्प्रेषण ऐसा होना चाहिए जो प्रासंगिक हो, उनके जीवन को प्रतिबिम्बित करने वाला हो, भावनात्मक रूप से अच्छा लगने वाला पर हीन दिखाने वाला न हो और मनोरंजक हो।

नलमदना का रणनीतिक सम्प्रेषण कौशल किसी भी स्वास्थ्य या सामाजिक मुद्दे के लिए प्रासंगिक हैं। अब तक जिन विषयों को लिया गया है उनमें एच.आई.वी. और एड्स, परिवार नियोजन, किशोरावस्था, माता और शिशु का स्वास्थ्य, तपेदिक, उच्च रक्तचाप, मधुमेह एवं हृदय रोग, संघर्ष–प्रबन्धन, बाल–उत्पीड़न, लिंग–हिंसा, मद्यपान एवं किशोरावस्था के जीवन कौशल शामिल हैं।

लर्निंग कर्व: *नलमदना* के कामों के बारे में बात करने से पहले हम यह जानना चाहते हैं कि अपने सन्देश को लोगों तक पहुँचाने के लिए नुक्कड़ थियेटर को ही माध्यम के रूप में क्यों चुना गया ?

उत्तरा: चूँकि हम साक्षर और अर्द्ध–साक्षर दोनों समूहों के विविध दर्शकों को सम्बोधित करते हैं इसलिए हमें लगा कि यह माध्यम सबसे अधिक प्रभावकारी रहेगा। इसीलिए हम उनके साथ अन्त:क्रियात्मक सत्रों में भाग ले सके और

प्रतिक्रिया दिखाने के तत्काल अवसर भी मिले ।

लर्निंग कर्व: आप लोग किस तरह के सन्देशों के बारे में बात करना चाहते थे ?

उत्तरा: हम स्वास्थ्य और स्वास्थ्य सम्बन्धी मुद्दों पर बात करने के लिए एक बहाना चाहते थे। हम धार्मिक या वाणिज्य सम्बन्धी मुद्दों के बारे में बात नहीं करना चाहते थे। हम बहुस्तरीय पहुँच के बारे में भी सोच रहे थे। हम समाज के स्वास्थ्य सम्बन्धी मुद्दों (तथा उनके द्वारा प्रभावित लोगों) और उसके लिए उपलब्ध मदद (जिसके बारे में सबको पता नहीं है) के बीच एक कड़ी चाहते थे। लोगों तक जानकारी पहुँचना एक प्रमुख मुद्दा था। फिर इस मुद्दे के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध महसूस कराने की बात थी और उसके बाद उस पर सोच–विचार कर निर्णय लेने की प्रक्रिया। कभी–कभी हम मुद्दों को समुदाय के सामने लाने और उन पर चर्चा करने के लिए एक आम कहानी और भाषा उपलब्ध कराने वाले वाले पहले व्यक्ति होते थे।

लर्निंग कर्व: क्या आप नुक्कड़ थियेटर को कला का एक रूप कहेंगी? कैसे?

उत्तरा: यह कला का रूप है। प्रभावशाली होने के लिए इसे अच्छे तरीके से करना होता है। इसके अलावा भली प्रकार से सन्तुलित एक कहानी की रचना करना अपने आप में एक कला है क्योंकि उसे उपदेशात्मक या सिर्फ मनोरंजन के लिए नहीं होना चाहिए। मुख्य बात तक पहुँचने के पहले हमारे पास कोई भूमिका होनी चाहिए। भीड़ इकट्ठा करने के लिए समुदाय को लुभाना पड़ता है। रोशनी, संगीत, सेट और रंगमंच सम्बन्धी सामग्री वहाँ होनी चाहिए ताकि लोग हमें गम्भीरता से लें। हमें उस समय टी.वी. पर दिखाए जाने वाले नवीनतम धारावाहिकों के साथ मुकाबला करना होता है।

फिर वेशभूषा के सौंदर्य की भी बात है। हमारे दर्शक इस बात को लेकर बहुत प्रबुद्ध हैं कि वे मनोरंजन के रूप में क्या देखना चाहते हैं क्योंकि टी.वी. के कारण सब कुछ उनकी पहुँच के भीतर आ गया है।

हम सरल भाषा का प्रयोग करते हैं। विश्वसनीय बनने के लिए हम स्थानीय भावाभिव्यक्ति, आम बोलचाल की खिचड़ी भाषा और विशेष लहजे का भी प्रयोग करते हैं पर इस बात का ध्यान रखते हैं कि जानबूझकर अशिष्ट तरीके से न बोलें ! मुख्य बात यह है कि अधिक से अधिक लोगों तक बात पहुँचाई जा सके।

अन्त में, परिणामों पर विचार करने के बाद, अलग प्रकार से व्यवहार करने का इरादा उत्पन्न होना चाहिए।

लर्निंग कर्व: क्या इसमें दर्शकों की भागीदारी होती है?

उत्तरा: बहुत होती है। यदि हमें किसी बात पर चुनौती दी जाती है तो अगले दिन उस पर बातचीत होती है। दर्शकों ने नाटक में जिन पात्रों को देखा, उन पर भी चर्चा होती है।

लर्निंग कर्व: इस तरीके (नुक्कड़ थियेटर) को क्यों चुना गया?

उत्तरा: यह तरीका विचारों को मनोरंजक पटकथा में ढालकर प्रस्तुत करने के लिए उपयुक्त है। मुझे याद है जब हमने अपने पहला नाटक प्रस्तुत किया था तो हमने बहुत कम दर्शकों के आने की उम्मीद की थी, लेकिन एक हजार से अधिक लोग आए!

लर्निंग कर्व: यानी कि इन नाटकों की पटकथा होती है?

उत्तरा: हाँ, थोड़ी बहुत एड–लिबिंग (बिना तैयारी के संवाद बोलना या अभिनय करना) होती है, लेकिन संगीत होता है और एक निश्चित योजना होती है जिसका हम पालन करते हैं।

हम रोल–प्ले का उपयोग करते हैं। विद्यार्थी अभिनय करते हैं और बड़ी मात्रा में अन्त:क्रिया होती है। हम बाल–उत्पीड़न, स्वास्थ्य और स्वच्छता के मुद्दों को लेते हैं। पाँच फ्लिप चार्ट्स होते हैं जिन्हें पुस्तिका या बुकलेट्स में तब्दील कर दिया जाता है। सरोकार इस बात से होता है कि भविष्य, व्यक्तिगत सुरक्षा, स्वच्छता और प्रजनन स्वास्थ्य के बारे में सोचा जाए। हम एक किट देते हैं जिसमें बुकलेट्स, फ्लिपचार्ट्स और एक डी.वी.डी. होती है। इन्हें चर्चाओं के

रूप में विकसित किया जा सकता है।

लर्निंग कर्व: आप अपनी थीमों को कैसे तय करते हैं ?

उत्तरा: कुछ थीमें तो हमारे स्कूल के कार्यक्रमों में पूछे जाने वाले सवालों से निकलीं हैं। फिर हमारे फोकस समूह की बैठकों में महत्त्वपूर्ण सवाल पूछे जाते हैं। इन बैठकों में हम सिर्फ बच्चों को बुलाते हैं, शिक्षकों को नहीं, ताकि बच्चे यथासम्भव ईमानदारी के साथ अपनी प्रतिक्रिया प्रकट कर सकें। *नलमदना* जानकारी एकत्र करने के लिए बाहरी स्रोत से विशेषज्ञों की सेवाएँ प्राप्त करता है और इस सामग्री का पूर्व परीक्षण दर्शकों के एक छोटे समूह के साथ किया जाता है।

लर्निंग कर्व: नुक्कड़ थियेटर को शिक्षक स्कूलों में कैसे और कहाँ प्रयोग में ला सकते हैं?

उत्तरा: मुझे लगता है कि जहाँ कहीं भी अलग प्रकार के व्यवहार की आवश्यकता है, वहाँ इसका प्रयोग बहुत सफलतापूर्वक किया जा सकता है। उदाहरण के लिए मूल्यों से सम्बन्धित मुद्दों के लिए इसका प्रयोग सफलतापूर्वक किया जा सकता है जैसे कि परिवार का सम्मान करना। नैतिक निर्णय भी ऐसा ही एक क्षेत्र है जहाँ इस को काम में लाया जा सकता है – अपने से अलग लोगों के बारे में खुले दिमाग से सोचना एवं सहिष्णुता को प्रोत्साहित करना। यह भी देखने में आया है कि सामान्यतया जानकारी के विश्वसनीय सूत्रों की कमी है और थियेटर इसके लिए नए रास्ते खोल सकता है। इस प्रकार का नाटक अनेक चीजों को बाहर ले आता है जहाँ उन पर चर्चा करना सम्भव होता है।

भ्रान्तियाँ मिटाई जा सकती हैं और अहितकारी व्यवहार पर ध्यान दिया जा सकता है। बच्चों से कहानियाँ लिखने, नाटकों की रचना करने और मुद्दों को सामने लाने के लिए कहा जा सकता है। हाँ, लेकिन इन समूहों का ध्यान रखने के लिए एक विशेषज्ञ की जरूरत तो हमेशा पड़ती है। एक बड़ा लाभ यह है कि मुद्दे की भाषा सीख ली जाती है ताकि बातचीत को बढ़ावा मिल सके।

जिस किसी बात को भी सम्बोधित करना है, कहानी उसका प्रारम्भिक बिन्दु हो सकती है। मैं तो यह सुझाव दूँगी कि इनमें से प्रत्येक में केवल दो या तीन बिन्दु हों और कार्यवाही और समझ के लिए एक निश्चित योजना होनी चाहिए। उदाहरण के लिए—अगर आप यह समझ गए हों तो आपको आगे यह करना है। इस प्रकार, बाधाओं और चुनौतियों को सम्बोधित किया जा सकता है। तर्क और उस पर प्रतिक्रिया हमें नए मुद्दों से निपटने के लिए आगे ले जा सकती है।

मैं यह कह सकती हूँ कि स्कूलों में नुक्कड़ थियेटर मॉडल का इस्तेमाल व्यवहार, स्वास्थ्य और नजरिए में परिवर्तन के लिए एक माध्यम के रूप में किया जा सकता है।

यह तथ्यात्मक दृष्टिकोण को अपनाता है। बेशक, अधिक विचारशील एवं गहरा दृष्टिकोण रातोंरात विकसित नहीं होगा। यह सकारात्मक व्यवहार को गढ़ता है, चीजों को सकारात्मक झुकाव देता है लेकिन उन्हें इतना आसान भी नहीं लगने देता। जब किसी विचार का बीज बोया जाता है और चर्चा शुरू होती है, तभी किसी महत्त्वपूर्ण बदलाव का प्रारम्भ होता है।

उत्तरा भरत कुमार *चैन्नई की रहने वाली हैं। उन्होंने मैसाचुसेट्स, यू.एस.ए. में वेलेस्ले कॉलेज से अँग्रेजी और अर्थशास्त्र माइनर में बी.ए. (1993) किया है। बाद में इन्होंने सार्वजनिक स्वास्थ्य के जॉन्स हॉपकिंस स्कूल, बाल्टीमोर, यू.एस.ए. से सार्वजनिक स्वास्थ्य विज्ञान MHS (1997) में मास्टर्स किया। अन्तर्राष्ट्रीय सार्वजनिक स्वास्थ्य में उन्हें 17 वर्षों का अनुभव है और पिछले 12 वर्ष उन्होंने अफ्रीका, भारत और संयुक्त राज्य अमरीका के जॉन्स हॉपकिंस विश्वविद्यालय में काम करते गुजारे हैं। 1993 में उन्होंने चैन्नई में नलमदना (जिसका अर्थ है—आप ठीक हैं ?) नामक एक स्वास्थ्य संचारण गैर सरकारी संगठन की स्थापना की।* ***अनुवाद:*** *नलिनी रावल*

30 शिक्षामित्र में कला के साथ विकास

सुदेषणा सिन्हा

शिक्षामित्र 2005 में प्रारम्भ हुआ और तभी से उसके चारों ओर कला भी फलने–फूलने लगी। शिक्षामित्र एक वैकल्पिक स्कूल/शिक्षा का केन्द्र था जिसे झुग्गी समुदाय के 8–16 वर्ष के बच्चों के लिए खोला गया था। यह 2005 अप्रैल से 2011 जनवरी तक अस्तित्व में रहा और इस दौरान यहाँ अधिगम प्रक्रिया, कक्षा की कालावधि, विषय–सामग्री तथा मूल्यांकन के रूपों एवं तरीकों सम्बन्धी प्रयोग किए गए।

यहाँ अन्य विषयों के अलावा ड्रॉइंग, पेन्टिंग, विविध क्राफ्ट, कला के शो और फिल्में देखना, संगीत सुनना और उसे रचने की कोशिश करना, थियेटर और नृत्य आदि किसी न किसी रूप में रोज होते रहते थे। स्कूल में सीखने का कुल समय छह घण्टे का था; जिसमें से इन कलात्मक गतिविधियों को, अँग्रेजी और गणित की तरह ही, रोज डेढ़ से दो घण्टों तक करवाया जाता था।

कला और उससे जुड़ी हुई हर बात हमारे लिए जीने का तरीका तब बन गई जब उसने बच्चों और शिक्षकों के जीवन में अपनी जड़ें जमा लीं। कला महज एक 'कक्षा' या 'पाठ्येतर गतिविधि' नहीं थी, यह तो हर तरफ बिखरी हुई थी – दीवारों पर, दरवाजों पर, नोटबुक्स पर, कागज पर, कपड़ों पर, यहाँ तक कि इसने हमारी अधिकांश परीक्षाओं में भी जगह बना ली। ड्रॉइंग, गायन और थियेटर न केवल अँग्रेजी और कला की कक्षाओं के अंग बन गए वरन वे भूगोल और गणित की कक्षाओं का भी हिस्सा थे।

इस प्रकार से जो कला उभरी वह सिर्फ कागज पर रंगीन पेनों से बनाई जाने वाली कला नहीं थी। इसमें कपड़े और मिट्टी का भी बहुत प्रयोग होता था। पेंटब्रश, गोंद और कैंची हमेशा उपलब्ध रहते थे ताकि बच्चे आवश्यकतानुसार उनका प्रयोग कर सकें। हमने सोच–समझकर चीजों का पुन: प्रयोग करने की आदत को बढ़ावा दिया। रंगों के अलावा कोई और सामग्री विरले ही खरीदी जाती। ड्रॉइंग, पेन्टिंग, मॉडल, सिलाई के प्रॉजेक्ट आदि के लिए काम में लाए हुए कागज, ठोंगे (समाचार पत्रों से बने लिफाफे), कागज के अनुपयोगी डिब्बे, पुराने कपड़े आदि का पुन: इस्तेमाल किया जाता था। स्कूल की देखा–देखी शिक्षकों ने भी पुराने

पिकासो की Guernica से प्रेरित समूह कोलाज

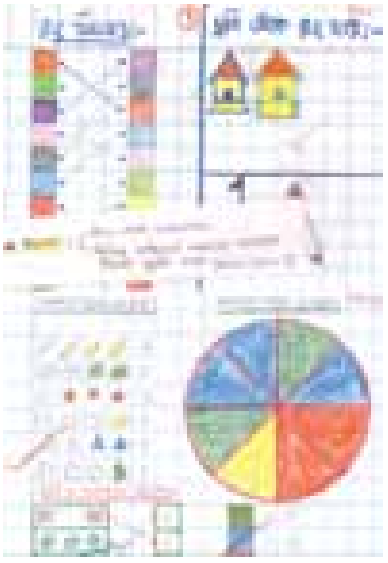

"ड्रॉइंग, मिट्टी का काम, सिलाई, थियेटर, गायन, नृत्य आदि पढ़ाई के लिए आवश्यक हैं क्योंकि कई लोगों को पढ़ना अच्छा नहीं लगता और वे पढ़ना नहीं जानते।"–अनीता

बीके द्वारा पेंट किया हुआ दरवाजा

बधाई कार्डों, कपड़ों, समाचार पत्रों, पत्रिकाओं और रंगों की मदद से अपने खुद के काड्र्स, रैपिंग पेपर, थैले और लिफाफे बनाने शुरू कर दिए। घर में रोजमर्रा की चीजों को रंग और एक 'कलात्मक रूप' मिलने लगा। सौन्दर्य लोगों के जीवन को छूने लगा था एवं री–सायकिलिंग कई लोगों के लिए एक स्वाभाविक बात बन गई।

कला शिक्षक

शिक्षामित्र की पहली कला शिक्षिका ने मौलिकता की भावना, री–सायकिलिंग और काम के बाद सफाई करने की आदत के बीज बोए। अत्रेयी कहानियों, कला और क्राफ्ट के माध्यम से गुजरते हुए बच्चों को ड्रॉइंग के बुनियादी कौशल भी सिखाती थीं। वे हर एक की व्यक्तिगत शैली को प्रोत्साहित करतीं, यह बात मन में बैठातीं कि कला में 'सही' और 'गलत' नहीं होता। वे बच्चों से कहतीं कि वे कागज की एक शीट के परे जाकर भी ड्रॉइंग करें। अगर बच्चे को अपनी सोची हुई बात को चित्र रूप में आगे बढ़ाने के लिए अधिक कागज की जरूरत पड़ती तो बस उसे एक कागज और जोड़ने को कहतीं। उनका काम कठिन था – क्योंकि बच्चों को किताबों से नकल करने की आदत थी और वे उन्हें अपने मन से चित्र बनाने को कहती थीं। रंगों को साझा करना, अपनी ड्रॉइंग को दो रंगों तक सीमित रखना या बचे हुए रंगों के मिश्रण से पेन्टिंग करना – इन सब बातों ने बच्चों को चुनौती तो दी ही, साथ ही उपलब्ध संसाधनों का भली प्रकार उपयोग करना भी सिखाया।

लेकिन अत्रेयी ने साल भर के अन्दर ही काम छोड़ दिया। शिक्षामित्र के शुरू होने के कुछ समय बाद ही मौरा वहाँ काम करने लगीं। वे हफ्ते में एक बार आतीं और बच्चों को अँग्रेजी बोलना सिखातीं। वे बहुत जोशोखरोश के साथ पढ़ातीं और अपने शिक्षण में अनेक गतिविधियों, गानों, रंगों, किताबों, छोटी–छोटी मूर्तियों और चित्रों का उपयोग करतीं। लेकिन फिर भी शिक्षामित्र के पहले वर्ष में यह देखा गया कि बच्चों में एक किस्म की दादागिरी, तोड़–फोड़ की प्रवृत्ति, अवज्ञा और कक्षा में आराम से बैठकर काम करने को लेकर एक बेचैनी–सी है। हर बार मौरा यह सोचकर

शिक्षामित्र में आयोजित एक प्रदर्शनी के लिए निमंत्रण कार्ड को री–सायकिल की गई सामग्रियों और मौलिक कला से बनाया गया था।

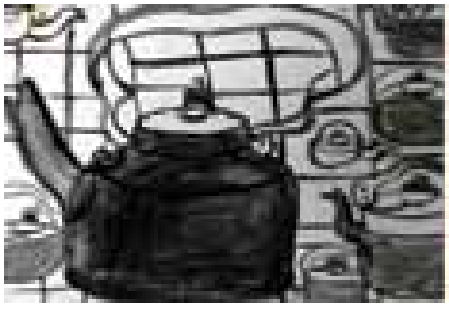

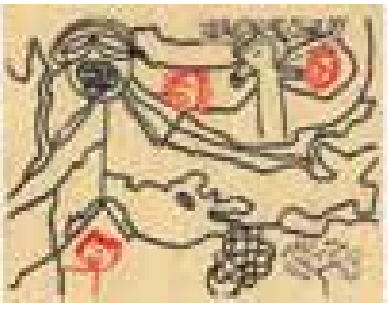

बचे हुए रंग से केतली की पेन्टिंग; दो रंगों से पेन्टिंग और हर व्यक्तिगत शैली को प्रोत्साहन; ढेर सारे नृत्य और गीतों से अँग्रेजी सीखना।

घर लौटतीं कि वे अगले हफ्ते शिक्षामित्र नहीं आएँगीं, पर वे हर बार इस बावले से स्कूल में लौट आतीं। अकसर ऐसा होता कि बच्चे बोलने की तुलना में हँसते ज्यादा थे और मौरा की कक्षा को मौज–मस्ती करने का स्थान मानते। हालाँकि उन्होंने थोड़ी बहुत अँग्रेजी सीखी, लेकिन वे उसका ज्यादा उपयोग नहीं करते थे। लेकिन जब मौरा रंग भरने या किसी मजेदार वर्कशीट का काम करवातीं तो अनायास ही बच्चे टुकड़ों में अँग्रेजी बोलने लगते।

क्या इसमें कोई सन्देश छुपा था?

अत्रेयी के काम छोड़ने के एक साल बाद मौरा ने कला शिक्षिका का काम सम्भाला। तकनीकी तौर पर देखा जाए तो वे कला शिक्षिका नहीं थीं। पर वे एक सृजनशील शिक्षिका थीं जो बच्चों की प्रतिक्रियाओं, डूडल्स(लक्ष्यहीन चित्रकारी), लेखन, भावनाओं, क्राफ्ट और कला के प्रति संवेदनशील थीं। उन्होंने अपनी कला की कक्षाओं पर अपना पूरा ध्यान केन्द्रित किया और उसमें भी उसी जीवंतता, गतिशीलता, मस्ती, रंग और किताबों का उपयोग किया–अपने को जैसे उसमें पूरी तरह से डुबो दिया। उनका फोकस कला पर था, जिसका मतलब था कि हर बच्चे के भीतर छुपे कलाकार को खोजना और उसे भी इस बात का भान कराना।

पिछले साल जो बात हमारी समझ में नहीं आई थी वह मानो अचानक स्पष्ट हो गई। बच्चे कला की कक्षा में ध्यान देने लगे (हालाँकि इसमें दो साल लग गए) और वे पहली बार मौरा की बात को ठीक से सुनने लगे। जितना ही अधिक वे सुनते उतना ही अधिक बोलने भी लगे।

उन्हें रंग या सहायता माँगने के लिए या फिर अपने विचार व्यक्त करने के लिए बोलना ही पड़ता था। अब कला की कक्षा में अँग्रेजी ज्यादा चलती थी। जल्द ही मौरा की बोलचाल की अँग्रेजी की कक्षा अपना अर्थ खो बैठी और उसे बन्द कर दिया गया।

मौरा की कला कक्षाओं ने अपने में जीवन को समाविष्ट किया। इन पाठों ने बच्चों को स्वयं से, अपने चारों ओर की दुनिया से तथा भाषाओं से जोड़ा (अँग्रेजी और बांग्ला)। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि उन्होंने कक्षा की सीमाएँ पार कर लीं। इन कक्षाओं का विस्तार हुआ और वे कला दीर्घाओं (के.जी. सुब्रह्मण्यम व समकालीन कलाकारों या मध्य प्रदेश की गोण्ड कला की प्रदर्शनियों), सड़कों, पार्कों,

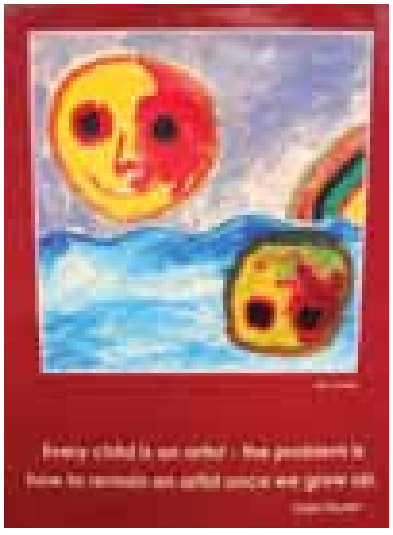

शिक्षामित्र द्वारा डिजाइन किया गया पोस्टर

शिक्षामित्र के उत्पादों की बिक्री

1.सड़क पर स्केच बनाना 2. के.जी. सुब्रह्मण्यम की प्रदर्शनी में अवलोकन और नोट्स लेना 3. मौरा के बगीचे में पेंसिल स्केचिंग एवं वाटर कलर

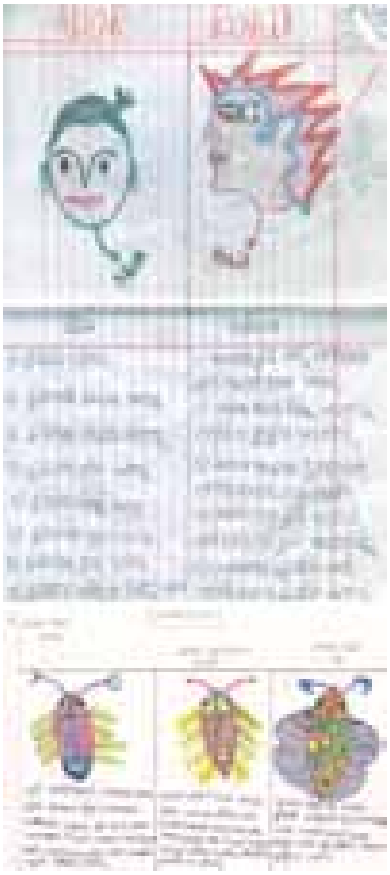

विद्यार्थियोंकी हेयर–स्टायल की तुलना ई.वी.एस.: तिलचट्टे का रूपान्तरण

हर कृति अनुपम कला है

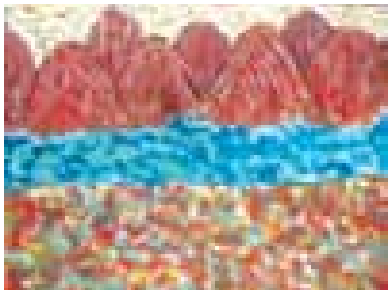

वैन गॉग शैली में रोहित की कोशिश

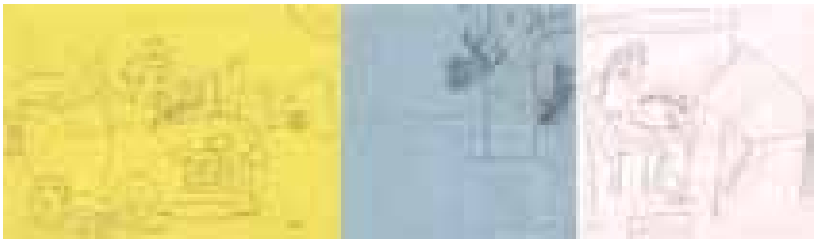

राज की ड्रॉइंग शृंखला

स्थानीय कुम्हार की भट्ठी और मौरा के बगीचे तक जा पहुँचीं। ये कक्षाएँ कला की कक्षा से बढ़कर थीं – विद्यार्थियों को कला मीडिया के सम्भावित क्षेत्रों से अवगत कराया गया जैसे कि तैल पेस्टल, विविध प्रकार के रंग, कागज, 'मिली हुई' वस्तुएँ (जैसे पंख, रैपर, डाक टिकट आदि), ब्रश, मिट्टी, सुई और धागा, बेकिंग (सेंकना), संगीत तथा और भी बहुत कुछ। उन्होंने कई कलाकारों और कारीगरों को भी आमंत्रित किया। इन कक्षाओं में री–सायकिलिंग, संरक्षण, सहजीवन और कला व जीवन के जुड़ाव के मूल सिद्धान्तों पर भी चर्चा की जाती थी।

शिक्षामित्र में दो महीने के लिए कपड़े पर थीम–शिक्षण का सत्र चलाया और इसी से निकला सीखो और कमाओ प्रॉजेक्ट। हमने ऐसे उत्पादों को खोजने का प्रयास किया जिससे हमारे विद्यार्थियों की विशिष्टता प्रदर्शित हो। ये उत्पाद थे–थैले, डायरी के कवर, बुकमार्क्स, कोस्टर्स, गहने आदि। कला और सिलाई के मिश्रण से बिक्री योग्य वस्तुओं को डिजाइन किया गया, बनाया गया और उत्कृष्टता की हद तक परिष्कृत किया गया। गुणवत्ता नियंत्रण पर भी ध्यान दिया गया। बच्चों ने इन उत्पादों का दाम तय करना, पैक करना, प्रदर्शित करना, बेचना और वितरित करना तो सीखा ही, साथ ही जो पैसा शिक्षामित्र या उसके बाहर आयोजित प्रदर्शनियों में सामान बेचकर मिला था, उसका हिसाब रखना भी सीखा। इतना ही नहीं वे अपने विद्यार्थी–खाते में पैसे बचा भी रहे थे।

खुद की शैली खोजें–नकल न करें

शिक्षामित्र ने उपर्युक्त शब्दों पर अपनी नींव रखने की कोशिश की। हर बच्चे को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया गया कि वे अपनी खुद की शैली का पता लगाएँ, फिर चाहे वह भाषा हो, पर्यावरण अध्ययन हो या फिर कला हो। कोई वैन गॉग या पिकासो, किसी लेखक की शैली, एक रोचक वर्कशीट या शिक्षक के कहानी सुनाने के तरीके से प्रेरित हो सकता है। इससे बच्चे चीजों को अलग दृष्टि से देखना और सोचना सीख पाएँगे, और फिर अपने मौलिक विचारों को प्रस्तुत करने के लिए प्रेरित होंगे।

राज नस्कर पहले अपनी इच्छा से स्कूल नहीं जाता था। उसने कहा कि वह शिक्षामित्र में नवीनता को खोजने और 'कुछ सीखने' आया है। राज को चित्र बनाना बहुत अच्छा लगता था पर वह किताबों के चित्र, कैलेण्डरों या विज्ञापनों की नकल करता था। उससे कितना ही आग्रह करो, समझाओ या मिन्नतें करो, वह मानता ही नहीं था। एक दिन दोपहर के समय राज मेरे पास एक चित्र लेकर आया जिसे उसने अँग्रेजी प्राइमर से नकल करके बनाया था। "यह तो बहुत अच्छा है," मैंने कहा। "तुम नकल ही करना चाहते हो तो बाहर जो पेड़ है उसकी नकल क्यों नहीं करते?" यह सुनते ही वह बैठकर चित्र बनाने लगा। खिड़की से जितना पेड़ नजर आ रहा था, उतने का उसने चित्र बना दिया। "मैं इससे ज्यादा नहीं देख पा रहा," उसने कहा,"अगर मैं बाहर देखूँ तो पेड़ में और भी काफी कुछ है। लेकिन मैं उतने का ही चित्र बनाऊँगा जितना खिड़की की इस फ्रेम से दिखाई दे रहा है," राज ने घोषित किया। मैंने हामी में सिर हिलाया। कुछ देर बाद जब मैं मेज पर काम कर रही थी तो मैंने देखा कि वह दरवाजे पर बैठा मेरा प्रोफाइल बना रहा था। उस दिन उसने अपनी चित्रकारी में 'नकल' के द्वारा मौलिकता का समावेश किया। वह वास्तविक जीवन की नकल कर रहा था। तबसे उसने अपनी ही चित्रकारी करने की कोशिश की, नकल करना कम से कमतर होता गया।

राज ही की तरह एस.के.सम्राट ने भी नकल करना बन्द नहीं किया। वह पाँच वर्ष की उम्र में अनाथ हो गया था और निर्देशों का विरोध करता था। जब कला शिक्षक इस बात पर जोर देते कि उसे अपने बूते पर चित्रकारी करनी है तो वह वैसा करने की बजाए अपनी 'नकल की हुई चित्रकारी' को फाड़ देना पसन्द करता। कला शिक्षक जोर देते रहे, अपना आपा खोते रहे। इसके बाद मौरा अपने साथ नई ऊर्जा लेकर आईं और कला में एक नया जीवन फूँका। बच्चे रंग, धागे और सलमा–सितारों का प्रयोग करके अपने खुद के डिजाइन बनाने लगे थे। सम्राट भी अपनी खुद की चित्रकारी के चारों और कढ़ाई करने के काम में व्यस्त हो गया। सिर्फ इस कढ़ाई की खातिर उसने एक मौलिक चित्र बनाया था। और फिर उसकी नकल करने की इच्छा भी खत्म हो गई। उसमें अपनी चित्रकारिता और कढ़ाई के डिजाइन बनाने तथा भित्ति–चित्र बनाने का नया जुनून पैदा हुआ, यहाँ तक कि उसने अपनी ही कहानी को चित्रित करना शुरू कर दिया।

हमने ध्यान दिया कि हर बच्चे में एक ही चीज को बार–बार चित्रित करने की प्रवृत्ति थी जो एक पेशेवर कलाकार की रचनाओं से भिन्न नहीं थी। हमने अनेक बच्चों को पुराने ए–फोर शीट्स कागजों को जोड़कर एक छोटी–सी ड्रॉइंग पुस्तिका बनाने को प्रोत्साहित किया ताकि उन कागजों का पिछला हिस्सा भी काम आ सके। चैताली ने फूल बनाए, मोहन ने रंग–बिरंगे चेहरे बनाए, रोहित ने बिल्ली बनाई, बाबई ने पहाड़ बनाए, और अडोर ने घुमावदार 'लहरों' के डिजाइन बनाए....उन्होंने बार–बार लगातार नए रंगों में नए डिजाइन बनाए।

एस.के सम्राट की कढ़ाई वाली पेन्टिंग

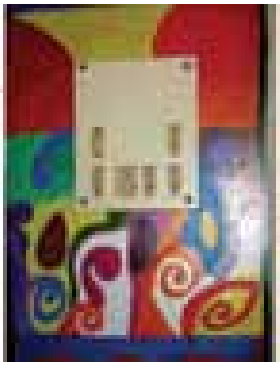

गन्दे स्विचबोर्ड को सुन्दर बनाना

दीवार पर शुरुआत

कलादीर्घा: कक्षा से घर की दीवारों तक

एक बार गर्मियों की छुट्टियों से पहले हमने सोचा कि स्कूल की थोड़ी सी सफाई की जाए। तो हमने गलियारे की साथ वाली दीवारों के कुछ हिस्सों को विभाजित किया (पेंसिल से लाइनें खींचकर) और बच्चों से कहा कि वे चित्र बनाने के लिए जमीन पर बैठें। अब तक बच्चे तरह–तरह के पेंट और ब्रशों का उपयोग सहजता से करने लगे थे। उन्हें हमेशा अपने दिल से पेंट करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता था –लेकिन मन में कुछ योजना बनाने के बाद –और उनकी कला में कभी भी पेंसिल, पैमाने या रबड़ का प्रयोग नहीं किया जाता था।

एक बड़ा खब्ती विचार मेरे मन में आया। मैंने मौरा और विद्यार्थियों से कहा कि वे मेरे घर आएँ। फिर मैंने उनसे पूछा कि क्या वे मेरे घर की दीवारों को पेंट करना चाहेंगे? लेकिन क्यों? क्या यह जोखिम उठाने वाली बात नहीं होगी? लेकिन मेरे पास कारणों की अपनी एक सूची थी जो इस प्रकार थी–

- दीवारें सुन्दर और कुछ अलग–सी लगेंगी।
- फ्रेम किए हुए चित्रों को लटकाने की बजाए, बच्चों के बनाए हुए भित्तिचित्र अधिक बेहतर लगेंगे।
- स्विचबोर्ड के चारों ओर का स्थान गन्दा हो जाता है। अत: उनके चारों पेंट करने से गन्दगी छुप जाएगी और आगे होने वाली गन्दगी को रोका जा सकेगा।
- बच्चों के लिए यह काम इस बात का भी परीक्षण होगा कि वे दूसरे की दीवार को उसकी इच्छा के अनुसार (अपनी इच्छानुसार नहीं) कैसे पेंट करते हैं। यह किसी ऑर्डर को पूरा करने जैसा होगा।
- कला की कक्षा स्कूल में न लगकर किसी के घर पर लगेगी और यह एक अच्छा परिवर्तन होगा।
- बच्चों को काम के बदले वस्तुएँ दी जाएँगी। जैसे कि सबके लिए गरमागरम खाना और रंग खरीदने के लिए चन्दा।

आत्मविश्वास से मुस्कुराते हुए और पेंटब्रशों से लैस बच्चे मेरे घर पर उमड़ पड़े। मैंने उन्हें समझाया कि मैं क्या चाहती हूँ और वे दीवारें दिखाईं जिन पर मैं काम करवाना चाहती थी।

मौरा ने खाने के कमरे की दीवार पर पेंसिल से आयत बनाए। ऐसे 12 आयतों में नौ विद्यार्थी काम करने वाले थे। तीन विद्यार्थी अनुपस्थित थे लेकिन उनकी जगहें सुरक्षित रखी गईं क्योंकि वे बाद में आने वाले थे। बच्चे एक कतार में हाथों में रंगपट्टिका लिए खड़े थे और अपने लिए नियत दीवार के हिस्से को घूर रहे थे। पेंसिल का प्रयोग किए बिना वे सीधे ही अपने–अपने हिस्सों पर पेन्टिंग करने में जुट गए।

टेढ़ी–मेढ़ी भूरी रेखाओं से उभरता हुआ चित्तीदार बाघ

युवा कलाकारों द्वारा चित्रित लगभग पूरी रंगीन दीवार

खड़कपुर प्लेटफॉर्म पर एक आश्रय–स्थल के बच्चों द्वारा बनाया हुआ भित्तिचित्र

बीच–बीच में मौरा और मैं एक–दूसरे को चिंतित नजरों से देखते रहते। मेरे घर के अन्य सदस्य खराब परिणामों के डर से काँप उठते थे।

उन्हें क्या पता था उनके सामने कैसा सुन्दर आश्चर्य प्रकट होने वाला है। इस बीच, लड़कियों ने जोड़े बनाकर स्विचबोर्ड के चारों ओर पेंट करना शुरू कर दिया था। जब उनका काम समाप्त होने लगा तो उन्होंने यहाँ–वहाँ रंग छिड़के और एक बॉर्डर बनाया ताकि वह उभरकर दिखे। मेरे शयन कक्ष की दीवार पर पाँच बच्चों की एक टीम ने कब्जा कर रखा था तथा दो और कलाकारों ने स्विचबोर्ड सजाया। सजहन एक ऐसा छात्र था जो शिक्षामित्र से विशेष रूप से जुड़ा हुआ था, एक सहज नायक था और अपनी विशिष्ट उपस्थिति से अलग ही दिखता था। वह वहाँ खड़ा–खड़ा बस देखता रहा। जल्द ही उसने दीवार का एक प्रमुख हिस्सा चुना (जहाँ मेरे हिसाब से चित्र नहीं बनाने थे) और उस साफ, सफेद दीवार पर भूरे रंग पोतने लगा। आसपास खड़े दर्शक सकते में आ गए। धीरे–धीरे दीवार पर दलदली पृष्ठभूमि से निकलते हुए एक बाघ का चित्र उभरा (दिलचस्प बात यह थी कि यह लड़का सुन्दरबन का रहने वाला था)।

खड़कपुर प्लेटफॉर्म पर एक आश्रय–स्थल के बच्चों द्वारा बनाए हुए दो भित्तिचित्र; कला कक्षाओं ने विद्यार्थियों को सामग्री साझा करने के लिए सदा प्रोत्साहित किया

पेन्टिंग का यह दौर करीब तीन घण्टे तक चला, जिसका समापन एक सादे भोजन और ढेर सारे नाचने–गाने के साथ हुआ। दीवारों को देखते हुए आपस में स्वाभाविक बातचीत और आलोचना भी हुई। बच्चे अपने ही काम का आकलन कर रहे थे। अन्त में, कुछ चौकस विद्यार्थियों ने गौर किया कि कुछ हिस्से रंगों के बहुत ज्यादा मिश्रण या गन्दे रंगों आदि की वजह से काफी गहरे हो गए थे। जो बच्चे ऐसी कमियों को ठीक करना जानते थे उनसे हमने कहा कि वे कुछ हिस्सों को परिष्कृत कर दें, स्विच के आसपास की लाइनों को उसी रंग से सीधा कर दें; जिस हिस्से पर एक बच्चे ने ज्यादा गहरा रंग लगा दिया था क्योंकि वह रंगों को भली प्रकार मिला नहीं पाया था–वहाँ हमने एक चमकीला रंग लगाने को कहा और यहाँ–वहाँ लगे कुछेक धब्बों को साफ करने को कहा। इसके बाद सबने कमरे साफ किए, हाथ–मुँह धोए और कला की सामग्री को समेटा।

इस प्रक्रिया से कौन–सी बात उभरी?

हमें यह पता लगा कि हमारे पास आत्मविश्वासी युवा कलाकारों का ऐसा समूह था जो लोगों की दीवारों को पेंट कर सकता था। उनके मन में कल्पनाएँ थीं जिन्हें वे पेंसिल से चित्र बनाए बिना सीधे पेन्टिंग के माध्यम से अभिव्यक्त कर सकते थे। हमने यह भी महसूस किया कि कुछ बच्चों को एक समूह में रखने से भविष्य में बेहतर परिणाम मिल सकेंगे। वे अपनी एक टीम बनाकर 'दीवारों का ऑर्डर' ले सकते थे और उसे शुरू से आखिर तक बड़ी खूबसूरती से पूरा कर सकते थे।

काफी समय बाद, ये एक टीम में–मौरा के साथ या उसके बिना भी–अन्य स्कूलों और संस्थाओं में जाते और वहाँ के विद्यार्थियों और शिक्षकों को दीवारें पेंट करना सिखाते। पश्चिम बंगाल के ग्रामीण इलाकों के काफी सरकारी स्कूलों का बाहरी भाग अब सुन्दर व रंगबिरंगा हो गया है जिसे शिक्षकों और विद्यार्थियों ने सजाया है। रेलवे प्लेटफॉर्म के बच्चों के आश्रय–स्थलों के सुन्दर भीतरी भाग बच्चों द्वारा ही बनाए गए हैं जिसकी प्रेरणा उन्हें शिक्षामित्र के बच्चों से मिली।

जिम्मेदारी के साथ कला

पेन्टिंग और ड्रॉइंग का मतलब एक जगह बैठकर रंगों का प्रयोग करना मात्र नहीं है, जैसा कि अकसर कहा जाता है कि 'बैठो और चित्र बनाओ'। इसका अर्थ रंगों को बर्बाद न करना और उनकी बचत करना भी है। पेन्टिंग और ड्रॉइंग का मतलब इसमें काम आने वाली सामग्री की देखभाल करना है—रंग, ब्रश, गोंद, कागज, कैंची और कपड़े —इन सबकी देखभाल करने की जरूरत है और उन्हें अपना खुद का एक स्थान भी चाहिए होता है। जैसे हम घर लौटना चाहते हैं वैसे ही ये भी अपने—अपने स्थानों को लौटना चाहते हैं। इसलिए हम कला की कक्षा में सही आकार वाले डिब्बों की री—सायकिलिंग करते हैं जिनमें कला के लिए आवश्यक विभिन्न सामग्रियों को उनके आकार के लिए उपयुक्त डिब्बों में रखा जा सके। इससे हमें बाद में उन्हें ढूँढ़ने की जरूरत नहीं पड़ती। हम आसानी से उन्हें आपस में साझा कर सकते हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हमें अपने शिक्षकों की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती कि वे आकर हमें ये चीजें दें। हम अपनी मदद खुद कर सकते हैं।

मैंने रोहित नामक एक छात्र से पूछा कि हम अपने स्कूल में अलग तरह से काम कैसे करते हैं तो उसने ये बातें बताईं —

- हम ड्रॉइंग पुस्तिका में चित्र बनाया करते थे पर अब हम उपयोग किए हुए कागज के पीछे चित्र बनाते हैं।
- जो कागज दोनों तरफ से इस्तेमाल हो जाता है उससे लिफाफे बनाए जाते हैं जिनका उपयोग स्कूल के कामों के लिए किया जाता है।
- हम अपनी किताबों पर अखबार का पुट्ठा चढ़ाते हैं और फिर उसे सजाते हैं।
- पेन्टिंग खत्म करने के बाद हम सारे बचे हुए रंगों को मिलाकर नए रंग बनाते हैं ताकि उनके साथ नए प्रयोग कर सकें।
- हम कागज की कतरन, बोतल, कॉर्क, प्लास्टिक के पैकेट, बटन, लकड़ी, पेंसिल की छीलन आदि सभी को बचाकर रखते हैं। बाद में इन सबका उपयोग किसी न किसी काम में अवश्य होता है ।
- हम एक पुराने कागज के डिब्बे को सजाकर उसमें अपना सामान रखते हैं।
- हम अपने फूलों के गमलों में इस्तेमाल की हुई चाय की पत्तियाँ डालते हैं।
- हम सरस्वती पूजा के लिए रद्दी चीजों से सजावट का सामान बनाते हैं।
- हम प्लास्टिक का प्रयोग कम से कम करते हैं —हालाँकि हम ऐसा हमेशा ठीक से नहीं कर पाते।

कला शेल्फ

एक बार हम अपने संसाधन कक्ष को पुनर्व्यवस्थित कर रहे थे ताकि उसमें कुछ चीजें और रखी जा सकें। इस प्रक्रिया में दीवार में लगी एक शेल्फ को वहाँ से हटाना पड़ा। हम इस शेल्फ को उस मुख्य कमरे में ले गए जहाँ ज्यादातर बच्चों की कला की कक्षा लगती थी। हमने बच्चों को बाहर भेजकर उनसे ऐसे छोटे—छोटे डिब्बे ढूँढ़कर लाने को कहा जो इस शेल्फ में पजल की तरह फिट हो जाएँ। फिर उनमें कला में काम आने वाली सामग्री (कैंची, धागे, टेप, रंगीन पेंसिलें, स्केच पेन, एक तरफा पुन: प्रयोग में लाने वाले कागज, अखबार, पेंटब्रश, रबड़, ड्रॉइंग की पेंसिलें, सिलाई का सामान आदि) रख सकें, जिससे सभी लोग उन चीजों को आसानी ले सकें। हम बच्चों से लगातार यह कहते कि वे इन चीजों का उपयोग करने के बाद उन्हें वापस उन्हीं डिब्बों में रख दें ताकि अन्य लोग भी उन्हीं चीजों का इस्तेमाल कर सकें। सफाई के लिए हम सारे डिब्बे एक कतार में रखते, इधर—उधर बिखरी हुई चीजों को उनमें डालते और फिर इन डिब्बों को वापस शेल्फ में जमा देते।

हाँ, हर बार यह तरीका कारगर नहीं होता था और बच्चे चीजों को गलत स्थानों पर रख देते। नतीजा यह कि कभी कैंची नहीं मिलती तो कभी सारा का सारा गोंद खत्म हो गया होता, या.....लेकिन बच्चे यह बात सीख रहे थे कि अगर चीजों का ध्यान रखा जाए और उन्हें यथास्थान रखा जाए तो उन्हें और अधिक दक्षता के साथ साझा किया जा सकता है।

कला के समान ही सफाई भी महत्त्वपूर्ण है

हर कक्षा के बाद मौरा अखबार बिछा देतीं और बच्चे अपने ब्रश और पानी के पात्र अच्छी तरह से धोकर वापस लाते और उन्हें सूखने के लिए एक निश्चित प्रकार से रख देते। हमने लड़कियों को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया कि वे अपनी सहज प्रवृत्ति के चलते सफाई में लड़कों की मदद न करें। हर एक को अपना स्थान खुद ही साफ करना था जिसके बाद चारों ओर नजर दौड़ाते हुए दूसरे कामों में भी मदद करनी थी जैसे झाड़ू लगाना, जमीन से रंग को रगड़कर निकालना आदि। हर पेंटब्रश को इस तरह से रखना था कि उनके सिरे एक ही ओर रहें और जब ये सूख जाते तो शिक्षक अगली कक्षा के लिए उन्हें उनके सिरे को ऊपर की ओर करके रख देते। बच्चों ने इसे जरा कठिनाई से सीखा और कई ब्रश खराब भी हो गए क्योंकि वे उनका गीला हिस्सा नीचे रख देते थे। पानी के पात्रों को अखबार पर औंधा रख दिया जाता और सूखने पर उन्हें डिब्बों मे रखा जाता ताकि डिब्बे गीले न हों। अब शिक्षामित्र के सभी विद्यार्थी इसी तरीके का उपयोग करते हैं और हम देखते हैं कि सजहन सामुदायिक पुस्तकालय प्रॉजेक्ट में छोटे–छोटे विद्यार्थियों को यही सब सिखा रहा है।

तो हमने क्या सीखा?

मूल रूप से देखें तो हम कला के बारे में जो कुछ कह और कर रहे थे वह काफी हद तक कला विशेषज्ञों और शिक्षणशास्त्रियों के अनुरूप था। बच्चों ने इन विशेषज्ञों को नहीं पढ़ा था और न ही कला की कक्षा शुरू करने के पहले हमने सचेतन रूप से उनका अध्ययन किया।

लेकिन जब छात्रों से कला के बारे में विचार पूछे गए तो डॉली ने लिखा –

"मेरा ऐसा मानना है कि बड़ों की तुलना में बच्चों को चित्र बनाना ज्यादा अच्छा लगता है। जब बच्चे शब्दों में व्यक्त नहीं कर पाते तो वे सब कुछ चित्र बनाकर कह देते हैं। चित्रकारी का मतलब है रंग। हर मनुष्य, पशु और पक्षी में रंग है। हम रंगों के माध्यम से कुछ भी कह सकते हैं, पर बड़े इस बात को नहीं मानते। जब बच्चा बड़ा हो जाता है तो दूसरों की बात मानकर वही करने लगता है जो वे करते हैं और इसलिए वह चित्रकारी न करने का निर्णय लेता है। और इस प्रकार अपनी पहचान खो बैठता है।"

देवी प्रसाद की पुस्तक 'शिक्षा का आधार– कला' में हर्बर्ट रीड का कहना है –

"इसलिए एक बच्चे की कला उसकी आजादी, उसके गुणों व प्रतिभाओं की सफलता एवं वयस्क जीवन में उसके असली और स्थायी खुशी का पासपोर्ट है। कला बच्चे को खुद से बाहर निकाल लाती है। यह कागज के टुकड़े पर अपनी ही धुन में डूबे बच्चे की अस्पष्ट आड़ी–तिरछी आकृतियों के रूप में एक अकेली व्यक्तिगत गतिविधि के रूप में शुरू हो सकती है। पर बच्चा इन अस्पष्ट आड़ी–तिरछी आकृतियों को बनाता ही इसलिए है कि वह अपने आन्तरिक जगत की बातें किसी सहानुभूति रखने वाले दर्शक, अपने माता–पिता को बता सके जिनसे वह सहानुभूतिपूर्ण प्रतिक्रिया की उम्मीद रखता है।"

ज्यों–ज्यों हमने बच्चों को बड़ा होते देखा त्यों–त्यों शिक्षामित्र में कला भी विकसित होती गई। बाहर के कई लोग यह सोचते थे कि यह कला का स्कूल है; वास्तव में यह ऐसा स्कूल था जहाँ हम सबने कला और उसकी अभिव्यक्ति को मूल रूप में सीखा। कला की कक्षा के लिए हम लगभग हमेशा ही एक अस्पष्ट से विचार के साथ काम शुरू करते पर शीघ्र ही कक्षा का मूड या उस दिन का मिजाज उसे एक खास रंग दे देता। किसी सुबह भाषा की

एक कक्षा शिक्षामित्र के पूरे दिन को प्रभावित कर सकती थी। दिलचस्प अवलोकनों से हमें नए–नए विचार मिलते और हममें इतना लचीलापन था कि हम तुरन्त ही उन पर अमल करने लगते। हम बच्चों को अपनी कहानियाँ, व्यक्तिगत इतिहास की पुस्तिकाएँ या गणित की शीट और पुस्तक समीक्षा आदि की सचित्र व्याख्या करने देते थे क्योंकि यह बात स्पष्ट थी कि कला उन्हें खुद को पहचानने और अपने सहज रूप में बने रहने में मदद देती थी।

कई कारणों से 2011 में स्कूल को बन्द करना पड़ा जिनमें आर्थिक प्रबन्धन प्रमुख था। लेकिन कला की जो भावना शिक्षामित्र में विकसित हुई वह विभिन्न स्कूलों, केन्द्रों, शिक्षकों और प्रशिक्षकों में फैल चुकी है।

हमारे विद्यार्थियों और हमारे द्वारा प्रस्तावित किए जाने वाले कई आउटरीच कार्यक्रमों के माध्यम से शिक्षामित्र की भावना जाहिरा तौर पर जारी है।

A photo album of Shikshmitra's art classes can be seen at:
http://www.flickr.com/photos/tik-tiki/sets/72157601353116588/

सुदेषणा सिन्हा *पिछले 17 वर्षों से अभिनव वैकल्पिक शिक्षा के क्षेत्र में काम कर रही हैं। 2005 से सुदेषणा शिक्षामित्र की संस्थापिका–सदस्या एवं समन्वयक रही हैं जो एक वैकल्पिक स्कूल रहा है तथा 9–16 वर्ष के पहली पीढ़ी के स्कूल जाने वाले बच्चों के लिए काम करता है। वर्तमान में शिक्षामित्र एक अभिनव अधिगम व संसाधन एवं प्रशिक्षण केन्द्र है जिसका नेतृत्व सुदेषणा करती हैं। मुम्बई विश्वविद्यालय से एक विशेष शिक्षक के रूप में प्रशिक्षित सुदेषणा ने कई सालों तक विशेष तथा औपचारिक स्कूलों में विशेष शिक्षक के रूप में काम किया है। केन्द्रीय कोलकाता में प्रवासी झोपड़पट्टी और सड़क पर रहने वाले बच्चों के लिए 'आशीर्वाद' नामक एक हिन्दी माध्यम वाला अभिनव स्कूल खोलने और चलाने में उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। उन्होंने ऐसे अनेक संगठनों में शिक्षक एवं सलाहकार के रूप में काम किया है जो उन बच्चों व वयस्कों के मानसिक स्वास्थ्य के मुद्दों पर काम करते हैं जिन तक पहुँचना मुश्किल होता है। उनकी विशेष रुचि भाषा, बच्चों, शिक्षकों व माता–पिता की रचनात्मकता और प्रेरणा में है। उनसे shikshamitra.kolkata@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है।* ***अनुवादः*** *नलिनी रावल*

शिक्षकों का ई-मंच: टीचर्स ऑफ इण्डिया

गुणवत्ता पूर्ण शिक्षा के लिए कार्यरत अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन ने इसकी पहल की है। वर्ष 2008 में शिक्षक दिवस पर इसका शुभारम्भ किया गया था। यह बहुभाषी पोर्टल राष्ट्रीय ज्ञान आयोग द्वारा प्रस्तावित एवं समर्थित है। प्राप्त प्रतिक्रियाओं,सुझावों तथा अनुभवों को ध्यान में रखकर इसे और अधिक सुगम और सहज बनाने का प्रयास किया गया है। यह निशुल्क है तथा हिन्दी, कन्नड़, तमिल, तेलुगू तथा अँग्रेजी में www.teachersofindia.org पर उपलब्ध है।

यह एक ऐसा मंच है जहाँ शिक्षक अपनी पेशेवर क्षमताओं को बढ़ा सकते हैं। वे इस मंच पर–

- विभिन्न विषयों, भाषाओं और राज्यों के शिक्षकों से संवाद कर सकते हैं।
- शैक्षणिक विधियों और उनके विभिन्न पहलुओं पर अपने विचारों, अनुभवों का आदान–प्रदान कर सकते हैं। शिक्षण विधियों, स्कूल के अनुभवों, आजमाए गए शैक्षिक नवाचारों या नए विचारों पर लिख सकते हैं।
- विभिन्न स्तम्भों के माध्यम से टीचर्स ऑफ इण्डिया पर भागीदारी कर सकते हैं।
- विभिन्न शैक्षिक विषयों, मुद्दों पर लेख, शैक्षणिक निर्देशिकाएँ, माडॅयूल्स आदि टीचर्स ऑफ इण्डिया से सीधे या विभिन्न लिंकों के माध्यम से प्राप्त कर सकते हैं।

टीचर्स ऑफ इण्डिया में *कक्षा संसाधन* तथा *शिक्षक विकास* के अन्तर्गत सामग्री प्रस्तुत की जा रही है। इनमें पाठ योजना, गतिविधि, वर्कशीट, पीपीटी, ऑडियो, वीडियो, ईबुक, लेख, इमेज के रूप में विभिन्न सामग्री है।

टीचर्स ऑफ इण्डिया है आप सबके लिए

वे जो स्कूल में पढ़ा रहे हैं, वे जो भविष्य के शिक्षक हैं, वे जो शिक्षकों को तैयार कर रहे हैं–यानी शिक्षक अध्यापक। साथ ही शिक्षक–शिक्षा में संलग्न संस्थाएँ, शिक्षा विभाग, स्कूल शिक्षा के प्रशासक और विश्वविद्यालयों से भी टीचर्स ऑफ इण्डिया का उतना ही सरोकार है। टीचर्स ऑफ इण्डिया का उद्देश्य तभी पूरा हो सकता है जब अधिक–से–अधिक व्यक्ति इसमें भागीदारी करें। इसका लाभ उठाएँ।

हमें लिखें, ईमेल या फोन करें। आपका स्वागत है।
अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन
134, डूड्डाकन्नेली, विप्रो कारपोरेट ऑफिस के बाजू में,
सरजापुर रोड, बंगलौर 560 035
Email: teachers@azimpremjifoundation.org
Ph: 09731788446

Azim Premji University

Do you have the heart and mind for social change?

Applications are invited for the 2 year full-time Masters' Programmes 2014 – 2016

Master of Arts in Education • Master of Arts in Development

Azim Premji University has a clear social purpose. It was established by the Azim Premji Foundation to enable the development of motivated and competent professionals who can significantly contribute to the Indian education and development sectors. The University currently offers **M.A. Education and M.A. Development** programmes. Students can look forward to a vibrant learning environment with:

- **Challenging curriculum that combines theory and field practice**
- **Deeply committed faculty group of leading academicians and field practitioners**
- **Institutional culture that encourages academic rigour and engagement with social issues**

The programmes provide a strong grounding in foundational areas, build a deep understanding of the Indian context and develop capacity in practice, policy and research. Students acquire perspective, skills and ability to apply their learning on the ground. They can pursue a balanced **General Programme** or specialise in areas mentioned below:

Education: Curriculum & Pedagogy, Early Childhood Education, and School Leadership & Management.
Development: Health & Nutrition, Law & Governance, Livelihoods, Public Policy, and Sustainability.

ELIGIBILITY CRITERIA: Graduates, in any discipline can apply. Working professionals are encouraged to apply.

ENCOURAGING STUDENT DIVERSITY:
Student diversity is integral to learning and creating an environment of academic excellence and equity. Our students are from across India, with linguistic, socio-economic and educational diversity; 50% are women, 50% have work experience and 50% are from rural areas and small towns. The University gives special weightage to disadvantaged backgrounds in admissions and provides extensive support within the programmes.

FINANCIAL ASSISTANCE:
Full or **part scholarships** are offered, based on family income, to cover fees and living expenses. Additional **monthly financial assistance is considered for applicants with** a minimum of 3 years of work experience. **Educational loans** are facilitated for students who are interested.

CAREER OPPORTUNITIES AND CAMPUS PLACEMENT:
India's focus on inclusive development and improvement in school education requires thousands of people with specialised talent. This is driven by large scale government programmes, increasing civil society efforts, NGO and corporate participation. The Campus Placement cell works with several organisations to create fulfilling career opportunities for students. Last year, all our students were placed through campus offers. Azim Premji Foundation also recruits directly for many field based positions. Candidates with at least 2 years experience will be considered for employment at the time of admission and if selected, can join the Foundation on successful completion of the programme.

ADMISSION PROCEDURE - KEY DATES
Last date for submission of Application Form is February 7, 2014
National Entrance Test at 34 centres across India on **Sunday, February 16, 2014**
Personal Interviews in March 2014

Azim Premji University, PES IT Campus, Hosur Road, Bangalore 560100
(Recognised by the UGC under section 22F)
Toll Free No.: 1800 266 2001 **Email:** admissions@apu.edu.in
Web: www.azimpremjiuniversity.edu.in/admissions

Developing Leaders for Social Change

अगला अंक

सीखने-सिखाने के नवाचारी तौर-तरीके

अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन

#134, डूड्डाकन्नेल्ली,
विप्रो कॉरपोरेट ऑफिस के बाजू में,
सरजापुर रोड, बंगलौर 560 035, भारत
दूरभाष : 91–80–6614900 / 01 / 02 फैक्स : 91–80–66144903
ई–मेल : learningcurve@azimpremjifoundation.org
वेबसाइट : **www.azimpremjifoundation.org**

Also visit Azim Premji University website at
www.azimpremjiuniversity.edu.in

Azim Premji University

अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय
का प्रकाशन